

मतादर्श

सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

निदेशक, एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज, दिल्ली

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी
दिल्ली-110089

वर्ष : 11 अंक : 3 □ जुलाई-सितम्बर, 2018

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक

डॉ० गिरीश मिश्र

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

संपादक मंडल

डॉ० आर. एन. कुंअर

डॉ० बामेश्वर सिंह

डॉ० विवेकानन्द शुक्ला

डॉ० रवीन्द्रनाथ राय

डॉ० अमरकान्त सिंह

डॉ० लक्ष्मेश्वर ठाकुर

साज-सज्जा

पंकज झा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,

दिल्ली-110091

फोन : 011-49050844, 22053916, 47541851, 64683387

e-mail : editorialindia@gmail.com

मूल्य : ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

The Narendra Modi government has told the World Trade Organisation (WTO) that it will not ratify the Trade Facilitation Agreement (TFA) at the WTO unless its concerns on food security are addressed. India has made it clear to WTO that "To jeopardize the food security of millions at the altar of a mere anomaly in the rules is unacceptable." This stand of the government has created a situation of a near face off between US and India. To understand and appreciate government's concern on the whole issue we will have to look at the history of the issue(s) in question. The whole issue of food security concerns in WTO occurred with the developed countries raising the issue of India exceeding the threshold limit of 10 percent of total value of food production, which could be given as subsidies.

Matter gained importance after passage of food security legislation by India, ensuring provision of food grains to nearly 67 per cent of population at a very low price of Rs 3 per kg for wheat and Rs 2 per kg for rice. Fact of the matter is that India has never ever exceeded the threshold limit of 10 per cent, nor it is expected to exceed this limit even after full implementation of Food Security Act. Reason, why this issue has arisen is the fact that at the time of signing of WTO agreement, the base price has been pegged at prices of food grains prevailing in 1986-88. This would imply that if the government pays a support price of Rs 1400 per quintal today and between 1986 and 1988 the support price was Rs 380 per quintal then the subsidy part would be calculated as Rs 1020, which is highly inappropriate.

If the same rule continues then the threshold limit of 10 per cent of total production is bound to increase. What Indian side in WTO wants is this simple correction in the rule that this anomaly is rectified and the base year is revised. Addressing a press conference on December 5, 2013 at Bali, Indonesia at the occasion of 9th Ministerial Conference of WTO, then commerce minister said, "I would like to make this absolutely clear that we have not come here as petitioners to beg for a peace clause... That it is binding on us to accept 1986 to 1988 prices and make ourselves vulnerable to disputes and calculations. The answer is a firm 'No.' This is a fundamental issue, we will never compromise." In WTO's Ninth Ministerial Conference at Bali, Indonesia, the agreement, reached after extending the conference by one more day, states that, "In the interim, until a permanent solution is found, provided that the conditions set out below are met, members shall refrain from challenging through the WTO dispute settlement mechanism compliance of a developing member with its obligations under Articles 6.3 and 7.2(b) of the agreement of agriculture (AoA) in relation to support provided for traditional staple food crops in pursuance of public stockholding programmes for food security purposes existing as of the date of the decision."

—Editor

इस अंक में

हिन्दी

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का सामान्य परिवेश—अभिषेक रंजन	7
राम की शक्ति पूजा: एक सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक प्रासंगिक रचना—सोनल कुमारी	13
युग प्रवर्तक प्रेमचंद—राज कौर	18
प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्रामीण समाज और संस्कृति—प्रियंका कुमारी	22
‘सबसे बड़ा छल’ में ग्रामीण यथार्थ—डॉ० अशोक कुमार सिन्हा	31
प्रसादयुगीन भारतीय राजनैतिक परिवेश और ‘चंद्रगुप्त’—संजीव शर्मा	38
नई कविता के परिप्रेक्ष्य में गिरिजा कुमार माथुर का काव्य—विजयश्री कश्यप	45

इतिहास

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय—काजल कुमारी	52
छठी शताब्दी ई०पू० की नारी और महात्मा बुद्ध—डॉ० चन्द्र भूषण मिश्र	56
ग्रामीण व्यवस्था का सामन्तीकरण—डॉ० सुशील कुमार	59

समाज विज्ञान

भारतीय समाज में जातीय व्यवस्था: एक विवेचना—डॉ० पवन कुमार शर्मा	64

राजनीति विज्ञान

स्वराज्य पर गांधी के विचार—संध्या यादव; हरीश चन्द	70

संस्कृत

महाभारत में अंगीरस: शान्त रस का विमर्श—डॉ० प्रसून दत्त सिंह	75
षाड्गुण्य : एक शास्त्रीय विवेचना—चिन्मय चट्टोपाध्याय	80
स्मृति ग्रंथों में पराशर स्मृति का स्थान एवं महत्व—मनोज कुमार सिंह	87
शिक्षामनोविज्ञाने स्थितप्रज्ञः—रुद्रनारायण नरसिंह मिश्र	91

संगीत

प्राक् गुप्तकाल से मौर्यकाल तक की ललितकला —डॉ० सुनील कुमार तिवारी; श्री दीपक कुमार राय	93
लोक-साहित्य एवं लोकगीतों की परम्परा—सुरभि	101

गृह विज्ञान

युवा असंतोष पर चिन्ता का प्रभाव: एक अध्ययन—रीना कुमारी	106

शिक्षा

स्वतंत्रोत्तर भारत में महिला शिक्षा की समस्या—अंजू गोयत	111

HISTORY

Development of Scientific Method in India—Dr. Manju Kumari	119
Advancement and Glory of Ancient India Medicine—Dr. Narayan Das	122
An Analysis of Central Sati Act—Dr. Manish Kumar Sharma	125
Origin and Development of Tibetan Buddhism—Dr. Shweta	129
Aurangzeb's Policies on Religion and Governance—Sandeep Kumar	135
Roman Trade with Ancient India—Dr. Ibha Rani	139
Economy in Sangam Age—Dr. Santosh Kumar	146
East India Company and its Approach Towards Natives Cultural and Religious Beliefs—Dr. Saroj Kumar Singh	151
National Integration in India: After Partition and Independence —Dr. Alka Sharma	154

ECONOMICS

Measures of National Income and Output—Dr. Antara Kumari	159
Limitations of GDP to Judge the Health of an Economy —Dr. Raman Kumar Jha	164
The Production of Wealth—Dr. Sanjay Kumar	168
Agriculture Development in Bihar: Problems and Prospects —Sandhya Kumari	172
Impact of MGNREGA on Women Empowerment—Anjali Thakur	180
Food Security, Farming, and the WTO and CAFTA—Dr. Upendra Kunwar	188

POLITICAL SCIENCE

Role of State in Liberalized Economy—Dr. Sangeeta	196
Media, Market and Democracy: In the Changing Context—Swadesh Singh	205
The Stability of Multi-party Democracy in India—Rajbali Paswan	214

ENGLISH

Romanticism in English Literature— <i>Dr. Kanchan Jain</i>	217
Kamala Markandaya's Realistic Portrayals of Indian Life— <i>Dr. Dinesh Prasad</i>	222
Cross-linguistic Contact— <i>Dr. Raj Kumar Singh</i>	226

GEOGRAPHY

The Cultural Landscape— <i>Kumari Shweta Sinha</i>	231
Changing Distribution of World Population— <i>Shashi Kumar</i>	235
Poverty and Slums in India – Impact of Changing Economic Landscape— <i>Mukesh Kumar</i>	239
Remote Sensing and GIS Integration— <i>Alka Aparna</i>	244
Remote Sensing and Urbanization— <i>Chandra Vijay Purty</i>	250

PSYCHOLOGY

Prejudice in School Children— <i>Suhina Chatterjee and Dr. Bharati Roy</i>	256

L.S.W.

Child Labour in India: Causes, Governmental Policies and the Role of Education— <i>Dr. Suraj Prakash</i>	263

HOME SCIENCE

Growth and Development of Children— <i>Dr. Shobha Kumari</i>	272

PHILOSOPHY

Gandhian Philosophy in the 21 Century— <i>Ramashish Malakar</i>	276
Relevance of Gandhi in the Political World Today— <i>Ajay Kumar Singh</i>	280

SOCIOLOGY

Sociology as a Value-free Science— <i>Dr. Henna Tabassum</i>	283
Theory of Civilization in the Sociology of Culture— <i>Dr. Kumari Rina Ray</i>	287

COMMERCE

Methods and Techniques of Research in Commerce— <i>Dr. Lakshman Singh</i>	292
Accounting Tools in Business Research— <i>Dr. Harendra Prasad Singh</i>	295
Lead and Manage Outsourcing Initiatives— <i>Dr. Dilip Kumar Sahu</i>	299

MANAGEMENT

Evaluation Research Practices in Management— <i>Mustafizal Haque</i>	303
Promotion: Integrated Marketing Communication— <i>Rajani Verma</i>	308

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का सामान्य परिवेश

अभिषेक रंजन

शोध छात्र, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

‘छायावादोत्तर हिन्दी कविता’ को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है, इसे ‘जवानी का काव्य’ अगंभीर काव्य, मस्ती का काव्य कहकर सतही व्याख्या की गई है। मुझे इस प्रसंग में नामवर सिंह का वह कथन याद आता है। उस काल के संश्लिष्ट एवं जटिल रूप को न देखकर अपनी सुविधा के लिए हम उस पर एक इकहरा ढांचा आरोपित करते हैं।

उन्होंने यह भी कहा है कि उत्तर छायावादी या छायावादोत्तर काल को केवल पांच-छः गीतकारों के नाम के साथ जोड़कर देखना ठीक नहीं है, क्योंकि यह वही काल है, जिसमें निराला का एक महत्वपूर्ण परिवर्तित रूप दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रगतिवादी का उदय हुआ, प्रयोगवाद का उदय हुआ, ‘तार-सप्तक’ रचा गया।¹ उत्तर छायावाद युग की कविता की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है कि हिन्दी कविता का विकास “काव्य शैली” की ही दिशा में न होकर काव्य की अर्थ भूमियों के प्रसार की दिशा में भी हुआ। निराला ‘कुकुरमुत्ता’, महँगू महँगू रहा, जैसी कविता लिखकर समाज के निम्नवर्ग की दारुण स्थिति का वर्णन कर रहे थे, पंत ने तो युगांत की घोषणा ही कर दी थी।

मेरी कोशिश छायावादोत्तर कविता का मूल्यांकन करना या उपलब्धियां गिनाना नहीं है। मेरी कोशिश है उस काल की सृजनात्मकता को समझना और युग के मिजाज की पड़ताल करना है। कवि मानस और काव्य संवेदना की पड़ताल के लिए 1936 से 1946 तक के संपूर्ण साहित्यिक परिदृश्य को रेखांकित करने की आवश्यकता है। क्योंकि यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं हुआ सिर्फ कवियों के भावबोध ही नहीं बदले, विषयवस्तु के साथ-साथ रूप-तत्त्व में भी परिवर्तन हुआ। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि “वर्तमान हिंदी कविता का प्रवाह अनेक धाराओं में होकर चल रहा है।”²

हम गिरजा कुमार माथुर के इस कथन से सहमत हैं कि “छायावादोत्तर काल में हिन्दी कविता में जितनी ‘उथल-पुथल’ हुई और जिन विविध रितियों से वह झकझोरी गयी उतना आलोड़न पहले किसी काल में नहीं हुआ।”³

डॉ० नन्दकिशोर नवल ने इसी संदर्भ में लिखा है “उत्तर छायावादी कवि विगत शताब्दी के चौथे दशक में उभरकर सामने आए थे। यह दशक बहुत ही उथल-पुथल से भरा हुआ था। प्रथम स्वतंत्रता दिवस, द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन, गांधी-इरविन समझौता, आंदोलन की वापसी, कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण और पतन, साम्प्रदायिकता की वृद्धि तथा समाजवादी विचारों का प्रसार ये घटनाएं देश में घट रही थीं। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति यह थी कि एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के देशों में साम्राज्य-विरोध जोर पकड़ रहा था और यूरोप में न केवल फासिज्म का उदय हो चुका था, बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत भी हो चुकी थी। उत्तर-छायावादी कवियों ने पूर्ण गंभीरता से आशा-निराशा से भरी इन्हीं परिस्थितियों को वाणी दी और हिन्दी कविता को देश और विश्व के व्यापक यथार्थ से जोड़कर उसे जनता तक पहुंचा दिया, क्योंकि इसी में उसकी सार्थकता थी।”⁴

उत्तर-छायावादी परिदृश्य की प्रतिनिधि मानसिकता की सहज अभिव्यक्ति है:-

हम दीवानों की क्या हस्ती, है आज यहां कल वहां चले।

मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहां चलें।।

बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', गोपाल सिंह नेपाली, राम गोपाल शर्मा 'रुद्र' में भी यह मस्ती पाई जाती है। इन्हीं कवियों में 'कलक्टर सिंह केसरी', आरसी प्रसाद सिंह, जानकी वल्लभ शास्त्री और हंस कुमार तिवारी को शुमार करना संगत प्रतीत होता है क्योंकि बिहार की रचनात्मकता को विकसित और प्रतिष्ठित करने में इनकी अहम् भूमिका है।

आरसी प्रसाद सिंह की प्रसिद्ध कविता 'जीवन का झरना' की पंक्तियां देखें-

यह जीवन क्या है? निर्झर है,

मस्ती ही इसका पानी है।

सुख दुख के दोनों तीरों से

चल रहा राह मनमानी है।

'वैरागी का गीत' कविता में रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' लिखते हैं 'मैं तोड़ चला सारे बंधन, सब छोड़ चला जो प्यारा है। 'लो आज सभी कुछ लो साथी। यह सब कुछ आज तुम्हारा है।' उल्लासमय फक्कड़पन यानी मस्ती के आलम के गीतों की प्रवृत्ति को समाज विरोधी नहीं कह सकते क्योंकि ये कवि व्यक्तिगत अनुभूतियों के स्तर पर सही व्यवस्था की जकड़न का विरोध करते हैं। इनमें से अधिकांश कवि कवि सम्मेलनों में बहुत लोकप्रिय हुए। नामवर सिंह ने तथ्यात्मक टिप्पणी की है "बच्चन को जो लोकप्रियता मिली, वह पंत के लिए केवल सपना थी।"⁵ विजयदेव नारायण साही ने ऐतिहासिक तथ्य का बोध कराया है "बच्चन और भगवती चरण वर्मा दोनों ही 'लोकप्रियता' में बेजोड़ हैं। कहते हैं कि किसी समय देवकी नन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिखकर हजारों (या लाखों?) लोगों को उर्दू छोड़कर हिन्दी पढ़ने को विवश कर दिया था। कविता में यदि उस क्रांति का कोई जोड़ है तो वह बच्चन की 'मधुशाला' है। अधिक से अधिक पाठकों को सामयिक कविता का चस्का लगाने का श्रेय जितना अकेले बच्चन को है, उतना किसी अन्य कवि को नहीं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। उसी अनुपात में पिछले अस्सी वर्षों में कविता का जितना व्यापक शौक तीसरे दशक ने पैदा किया, उतना शायद किसी अन्य युग में संभव नहीं हुआ।"⁶

हरिवंश राय बच्चन की कविताओं को 'हालावाद' की संज्ञा दी गई है। उमर खैय्याम के जीवन-दर्शन नियतिवाद और भोगवाद का प्रभाव बच्चन एवं अन्य छायावादोत्तर कवियों पर परिलक्षित होता है।

विजयदेव नारायण साही ने गंभीर प्रश्न उठाया है "न जाने क्यों बच्चन के मधुकलश की चर्चा उतनी नहीं हुई, जितनी उनकी मधुशाला, निशा निमंत्रण और एकान्त संगीत की। न सिर्फ उस पुस्तक में उस युग की काव्यात्मक अनुभूति की काफी बड़ा खजाना है, बल्कि उस काल की प्रधान कालात्मक-समस्याओं की कुंजी भी है, जिसके बगैर उस युग को नहीं समझा जा सकता। यों भी, मेरी समझ में हिन्दी की लंबी कविताओं में-मधुकलश की कविताएं बेजोड़ हैं।"⁷

विजयदेव नारायण साही ने जिन तथ्यों के आधार पर उत्तरछायावादी कवियों को अगंभीर और जवानी का कवि बताया है उसे ठीक से विश्लेषित भी किया है एक शोधार्थी के रूप में महसूस करता हूँ कि यह एक तर्कसंगत साक्ष्य बनता है जिसकी व्याख्या भी उसी रूप में की गई है।

विजयदेव नारायण साही ने कहा है “बेशक बच्चन, दिनकर आदि में रोमांटिक कवियों जैसा भावना का तनाव और निपट गंभीरता नहीं मिलती। वस्तुतः गंभीरता का हास इस नयी ‘सहज’ मनोभूमि की विशेषता है। इतना ही नहीं, मनुष्य का मन भी खण्डित हो गया है। मन के विभाजन का आविष्कार इस युग की विशेषता है।”⁸

विजयदेव साही ने इस प्रसंग में यह भी लिखा है “बच्चन की रूपकोत्तियां, दिनकर का रिटॉरिक, भगवतीचरण वर्मा की लापरवाही दीवानगी, नवीन का वलबला, अंचल का उबाल, नरेन्द्र शर्मा का नफीस ऐश्वर्य—इन सब में गंभीरता के अभाव की छाया है। कुल मिलाकर लगता है, जैसे अंग्रेजी कवि लार्ड बायरन के पचासों टुकड़े कर दिये गये हों और उनमें से कुछ-कुछ टुकड़े इन तमाम कवियों की ‘जवानी’ में अलग-अलग जज्ब कर दिये गये हों।”⁹ उस युग की मनोभूमि को जानने के लिए पंडित नेहरू की विराट रिक्तता के एहसास को समझना, छानबीन करना आवश्यक है।

विजयदेव नारायण साही ने लिखा है “यह विराट रिक्तता सिर्फ नेहरू की नहीं, उस युग में पूरे देश की केंद्रीय समस्या है, जिसका उत्तर देने की, या जिस पर भावनात्मक विजय प्राप्त करने की कोशिश उस युग की हिन्दी कविता करती है: और जिस प्रयास में ‘साधारण मानव’ का रूप निर्मित होता है। बच्चन के मधुपायी में वह रिक्तता है, भगवतीचरण के बीजगुप्त में भी यह रिक्तता है, प्रगतिवादी चीख में भी वह रिक्तता है, इतना ही नहीं, उसी युग में लिखी गयी प्रसाद की ‘कामायनी’ के मनु में भी वही रिक्तता है, जो कहीं गहरे गुजलक मार कर बैठी है।”¹⁰ नामवर सिंह ने इसी प्रसंग में लिखा है कि जिस अशांति, घुटन, कुंठा, कशमकश, निरुपायता आदि का अनुभव नेहरू कर रहे थे, वही गूँज इस दौर के नए बुद्धिवादी कवियों में भी सुनी जा सकती है। इसके आगे महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया है कि “वस्तुतः छायावादी नैतिक विजन” का जादू टूटने पर हृदय और बुद्धि के अलगाव के रूप में मन का जो विभाजन हुआ उससे उत्पन्न ‘रिक्तता’ और ‘संकट’ की चुनौती 1938 के आसपास के सभी कवियों के सामने थीं।”¹¹ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने गंभीर तात्त्विक दृष्टि का परिचय देते हुए लिखा है “इन कवियों की मनः स्थिति कई प्रकार के तत्त्वों से बनी थी। एक ओर लंबी पराधीनता की निराशा, दूसरी ओर जवानी का अधीरज, बीच में प्रणय, स्वाधीनता और मानव मुक्ति के सपने। इन सबने मिलकर उत्तर-छायावादी कवियों में एक खास तरह का नियतिवाद विकसित कर दिया था। भाग्य की व्यक्तिगत अवधारणा में इतिहास की व्यापक शक्ति को जोड़ने पर नियति का रूप बनता है।”¹²

नामवर जी कहते हैं कि अज्ञेय ने युग के औसत मिजाज के बारे में उल्लेखनीय बातें कहीं हैं और 1937-38 के समय को संशय का युग, अस्वीकार का युग तथा आत्म-अन्वेषण का युग कहकर युग के मिजाज को काफी हद तक परिभाषित किया।”¹³

यह विचार नकारात्मक नहीं बल्कि विचारणीय है। नामवर सिंह ने लिखा है कि अज्ञेय से महत्वपूर्ण यक्ष यथार्थवादी रुझान एकदम अनदेखा चला गया है इसके आगे इन्होंने लिखा है “प्रगतिशील साहित्य की इस यथार्थवादी भूमिका की उपेक्षा करके 1938 के संक्रमण-युग को समझना असंभव है। तथ्य है कि हिन्दी कविता को उस समय जो कवि नया मोड़ देने का प्रयास कर रहे थे, वे चाहे तार-सप्तक में संकलित हुए हों या उससे बाहर रहे हों, सभी किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील चेतना से अपने-आपको संबद्ध अनुभव करते थे।”¹⁴

शिवदान सिंह चौहान का कथन भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है “उत्तर छायावादी युग के अनेक तरुण कवि प्रगतिवादी प्रेरित नये जीवनादर्श और जनमंगल के उत्साह भरे गीत गाते हुए सामने आये।

इनमें नरेन्द्र शर्मा तो थे ही शिवमंगल सिंह 'सुमन' केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव, रामदयाल पाण्डेय प्रमुख थे। अनेक छायावादी ढर्रे के तरुण कवियों शंभूनाथ सिंह 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल', आदि में प्रगतिशील विचारों की अनुगूँज सुनायी दी।

गांधीवादी कवियों-सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र आदि ने भी नये विषयों पर कविताएं लिखी, यहां तक कि चेतना से आक्रांत अनेक प्रयोगवादी कवि गिरजा कुमार माथुर, गजाननमाधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचेव, रामविलास शर्मा आदि भी प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके। दूसरे महायुद्ध के पांच-छः वर्षों के बीच हिन्दी में प्रगतिशील कविता का ही सर्वाधिक जोर रहा।

.....लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतंत्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनैतिक दलबंदी की मतवादों और संप्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य प्रतिभा को स्वयं ही कुठित कर डाला।”¹⁵

कहना न होगा कि उत्तर छायावाद युग की कविता का विकास छायावाद के “काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ।” सन् 30 से 35 तक का समय एक प्रकार से संक्रांति का समय था जिसकी परिणति निराशा में हो रही थी। सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर इस समय की भावभूमि का विश्लेषण किया जाए तो तत्कालीन समूचा युग एक निराशात्मक परिणति में विलीन होता हुआ लक्षित होता है और बच्चन, अंचल तथा नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में व्यक्त रुग्णाक्षयी निराशा, पस्ती, मृत्यु-पूजा आदि प्रवृत्तियां इसी स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है।

अपने युग के निराशावाद की व्याख्या करते हुए ‘प्रवासी के गीत’ के वक्तव्य में नरेन्द्र शर्मा का कहना है—“ब्रिटिश सत्ता के कारण हमारे समाज के वर्गीकरण कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि हमारे कवियों तथा अन्य साहित्यिकों को किसी भी वर्ग में स्थान न मिल सका.....ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था। निराशावादियों और नियतिवादियों के आगमन से हिन्दी गीतिकाव्य का उत्तरार्ध शुरु होता है।”¹⁶

छायावादी काव्यधारा के समानांतर राष्ट्रीय भावनाओं की एक काव्यधारा चल रही थी जिसे डॉ॰ नागेन्द्र ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता कहकर छायावादोत्तर युग की स्थायी उपलब्धि माना है। डॉ॰ नामवर सिंह ने लिखा है कि “जिस प्रकार आजादी की लड़ाई के दिनों में प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियों ने मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि राष्ट्रवादी कवियों से बेहतर राष्ट्रीय कविताएं लिखीं, उसी तरह नए कवियों ने भी इस विषय पर अंग्रेजों से बेहतर रचना की।”¹⁷

माखनलाल चतुर्वेदी की “पुष्प की अभिलाषा”, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता “झांसी की रानी”, मैथिलीशरण गुप्त की “साकेत”, दिनकर की “कुरुक्षेत्र”, परशुराम की प्रतीक्षा “हुंकार”, संग्रह की कविताओं का एक अपना वैशिष्ट्य है जिसे युग के परिप्रेक्ष्य में बेहतर समझा जा सकता है। बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ ने स्वाधीनता आंदोलन की विविध मनः स्थितियों पर उद्बोधपरक और मार्मिक कविताएं लिखी हैं। “आज खड्ग की धार कुठिता” और “कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ” आदि प्रसिद्ध कविताएं हैं।

नरेन्द्र शर्मा के “मिट्टी और फूल” रक्त चन्दन और अग्निशय की अनेक कविताएं यह बतलाती हैं कि उत्तर छायावादी कवियों में तीव्र प्रेम और श्रृंगार भावना के साथ-साथ बहुत तीक्ष्ण सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना भी थी। नरेन्द्र शर्मा स्वाधीनता आंदोलन के सिलसिले में जेल गए और पंत के साथ रुपाभ पत्रिका का संपादन भी किया।

विश्वयुद्ध के दिनों में बच्चन ने “आकुल अंतर” और विकल विश्व” नाम से गीत मालाएं लिखी हैं जिसमें शायद “विकल विश्व” अप्रकाशित है। बंगाल के अकाल पर “बंगाल का काल” और “बापू” की हत्या पर 204 गीत बच्चन ने लिखे हैं, जिसमें “सूत की माला” और “खादी के फूल” बहुत प्रसिद्ध हैं।

‘बच्चन’ ने बापू के मृत्यु पर लिखा है देखें-

यह गांधी मरकर पड़ा नहीं धरती पर,
यह उसकी काया, काया होती है नश्वर।
गांधी संज्ञा वह है जो जग में अजर अमर
दी उसने केवल जीवन की चादर उतार।।

सोहन लाल द्विवेदी ने भारतीय जनता पर गांधी के प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है-

चल पड़े जिधर दो पग मग में
चल पड़े कोटि पग उसी ओर।

नरेन्द्र शर्मा का काव्य संग्रह ‘रक्त चंदन’ दिनकर की बापू सभी में गांधी जी की हत्या से उपजे शोक को बड़ी मार्मिकता से अंकित किया है।

आजादी बाद भारत की सबसे बड़ी घटना राष्ट्रपिता की हत्या है और सबसे बड़ी समस्या है राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार का आबाध प्रवेश। 1934 में कांग्रेस से इस्तीफा देते हुए अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में गांधी जी ने संस्था में बढ़ते हुए दूषण की चर्चा की थी।¹⁸

इस दौर के बौद्धिक नए कवियों पर जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण का प्रभाव लक्षित होता है। सन् 1927 में जब करीब डेढ़ वर्ष के उपरांत यूरोप से नेहरू भारत लौटे तो वह समाजवादी विचारों से काफी प्रेरित थे। आते ही उन्होंने कांग्रेस में युवक दल की स्थापना की भी और समाजवादी विचारों के प्रचार में भी योगदान दिया। 1951-59 के बीच नेहरू युग के अंत विरोध असली रूप में सामने आने लगे और कुछ ही दिनों बाद यह स्पष्ट हो गया कि जिसे स्वाधीनता प्राप्ति के आरंभिक दौर में ‘सत्य’ समझा जा रहा था, वह वस्तुतः ‘भ्रम’ था।

नामवर जी ने लिखा है कि “कहना होगा कि ऐतिहासिक ‘भ्रम’ के बावजूद नई कविता ने उनके महत्वपूर्ण रचनात्मक कृतियों की सृष्टि की। किंतु इस युग का श्रेष्ठ एवं सार्थक कृतित्व वह है जो इस ‘भ्रम’ से कम से कम ग्रस्त थे या एकदम मुक्त था।”¹⁹

इस तरह विचारपूर्वक छायावादोत्तर हिन्दी कविता का अनुशीलन करने से जो तथ्य सामने आता है कि सन् 37 में ‘रूपाभ’ का प्रकाशन छायावाद की परिसमाप्ति की सूचना देता है तथा नयी प्रतिभाओं के लिए नयी दिशाएं प्रशस्त करता हुआ प्रतीत होता है। ‘हंस’, ‘विशाल-भारत’ जैसी पत्रिकाएं इस परिवर्तन का उद्घोष करती हैं।

अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों का ऐतिहासिक महत्व है, जिसने काव्य धारा को मोड़ने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि काव्य को गरिमा भी प्रदान की।

अपनी बात मैं नामवर सिंह के कथन से समाप्त करना चाहूंगा क्योंकि यह मुझे संगत प्रतीत होता है। छायावादोत्तर काल की यह सार्थक काव्य-सर्जना उस नई कविता के गिर्द हुई है जो उस काल की मुख्य काव्यधारा रही है-स्पष्ट ही यहां नई कविता से आशय प्रगति और प्रयोग दोनों के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई समग्र नई काव्य धारा से है।²⁰

सहायक ग्रंथ-सूची

1. उत्तर छायावाद और रामगोपाल शर्मा 'रूढ़'—नंद किशोर नवल प्रकाशन संस्थान पृष्ठ 20 प्रथम संस्करण 2008
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ 502 प्रकाशन सं० सन् 2002
3. नयी कविता का भविष्य—गिरजा कुमार माथुर आलोचना (प्रे०) 12 पृष्ठ 42
4. उत्तर छायावाद और रामगोपाल शर्मा 'रूढ़'—नंद किशोर नवल पृष्ठ 19
5. कविता के नये प्रतिमान—नामवर सिंह राज कमल प्र० पृष्ठ 87
6. नयी कविता खण्ड (1) लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस पृष्ठ 199
7. वही, लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस पृष्ठ 203 लोक भारती प्रकाशन प्र० सं० 2000
8. वही, लेखक विजयदेव नारायण साही पृष्ठ 203 प्रथम संख्या 2000
9. वही, पृष्ठ संख्या 219
10. वही, पृष्ठ संख्या 200
11. कविता के नये प्रतिमान—नामवर सिंह पृष्ठ 87 राजकमल प्रकाशन
12. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास—पृष्ठ 189 रामस्वरूप चतुर्वेदी लोक भारती प्रकाशन
13. कविता के नये प्रतिमान—डॉ० नामवर सिंह पृष्ठ 84 राजकमल प्रकाशन
14. वही, पृष्ठ 85
15. काव्यधारा पृष्ठ 44 सन् 1954 शिवदान सिंह चौहान
16. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास पृष्ठ 189 लोक भारती प्रकाशन
17. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ 63 नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन
18. डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या, कांग्रेस का इतिहास, खण्ड 1, पृष्ठ 464 पर उद्धृत
19. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ 91 नामवर सिंह
20. वही, पृष्ठ 64

राम की शक्ति पूजा: एक सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक प्रासंगिक रचना

सोनल कुमारी

एम०ए० (हिन्दी), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

परिपेक्ष्य

निराला एक कालजयी रचनाकार हैं और इसी कालजयी रचनाकार की एक अप्रतिम कृति है 'राम की शक्ति पूजा'। जब से इस कविता की रचना हुई, तब से न जाने कितने आलोचकों की कसौटियों पर इस कविता को परखा गया। आलोचकों के कितने प्रहारों और वाणों का सामना करना पड़ा, कितने घात-प्रतिघात सहने पड़े। इतने थपेड़ों और झंझावातों को झेलने के बाद भी यह कविता निर्जन में, शून्य में खोकर विलीन न हो गयी। अपितु कुन्दन की तरह निखरकर, अपने और अधिक दिव्यमान रूप में प्रकट हुई। यही इसकी सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता और सार्वदेशिकता का प्रमाण है। यही वजह है कि इसे 'आधुनिक राम चरित्र मानस' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इस कविता में निहित शक्ति की मौलिक कल्पना का सूत्र, परंपरा का महत्व, अनुभव की व्यापकता, हृदय और बुद्धि का सामंजस्य, विपरीत परिस्थितियों में भी आशा का संचार, विजय के लिए पर्याप्त तैयारी, दूर दृष्टि, देश मुक्ति तथा नारी मुक्ति, आंदोलन की सफलता के लिए सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व की अनिवार्यता, विनम्रता की उपयोगिता, अहंकार का त्याग, आदि के साथ अंत में सत्य की विजय ही इसे हर युग और स्थान के लिए इसे प्रासंगिक बनाती है।

विश्लेषण

इस कविता में महाशक्ति को रावण के साथ देखकर राम विचलित हो गये हैं उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अब विजय संभव नहीं है। इसी परिस्थिति में राम को जाम्बवान सलाह देते हैं:

शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन

छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो रघुनन्दना।

अर्थात् शक्ति की कल्पना मौलिकता में ही संभव है, अनुकरण में नहीं। दूसरी बात कि बिना पर्याप्त तैयारी के कोई भी समर नहीं लड़ना चाहिए। जाम्बवान उनको भी उसी शक्ति को धारण करने को कहते हैं, जिस शक्ति को रावण धारण किये हुए है। यह पूजा उस जनशक्ति को अपने पक्ष में करने का उद्यम है जिसको साथ लिए बगैर कोई भी मुक्तिकाली नेतृत्व लड़ाई नहीं जीत सकता। इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों का साक्षी है। उदाहरणस्वरूप, फ्रांस की पूंजीवादी क्रांति हो, या रूस की अक्टूबर क्रांति या चीन और वियतनाम का मुक्ति संग्राम या भारत का स्वतंत्रता संघर्ष हो, इनमें विजय उसी बिंदु पर संभव हुई जब वर्गों का संतुलन मुक्ति की ताकतों के पक्ष में हो गया। आज जब शोषक वर्गों के नेता और उनके दल झूठे वायदे करके या अविद्या फैलाकर इस जन-शक्ति को भरमाये हुए हैं, जनता को अपने रचे हुए मायाजाल में फँसाकर, उनका शोषण कर रहे हैं, तब शक्ति की यह मौलिक कल्पना ही किसी योग्य और कुशल व्यक्तित्व के नेतृत्व में इस शोषण से मुक्ति दिला सकती है। अध्यात्मिक दृष्टि से भी देखा जाये तो शक्ति का संधान किसी अन्य के पदचिह्नों पर

चलकर संभव नहीं है। इसके लिए स्वयं मार्ग का निर्माण करना पड़ता है। यह 'अप्प दीवो भव' और 'आत्म संभला' है। आज के अधिकांश लोग जब नकल करके और पूरी तैयारी के बिना, शार्ट-कट रास्ते से जब सब कुछ हासिल करने की तमन्ना में असफल होकर तनाव और कुंठा के शिकार हो रहे हैं, उनके लिए निराला की यही दृष्टि आदर्श हो सकती है।

सुग्रीव, विभीषण सभी सलाह देते हैं पर वृद्ध जाम्बवान ही सबसे उत्तम सलाह देते हैं। जाम्बवान के सलाह को अधिमान दिलाकर निराला ने अनुभव की व्यापकता के महत्व को दर्शाया है। अनुभव कभी भी अप्रासंगिक नहीं होता। वर्तमान समय में अधिकांश बुजुर्ग उपेक्षा के शिकार हो रहे हैं। आज का युवा वर्ग बड़े-बूढ़ों को पर्याप्त महत्व नहीं दे रहा है, उन्हें बोझ समझकर उपेक्षित कर रहा है। इन युवाओं के लिए यह प्रसंग पथ प्रदर्शक का कार्य कर सकता है।

परंपरा में जीवन के धनात्मक मूल्य होते हैं। पूजा अंतिम चरण में है, सिद्धि प्राप्त होने वाली है। दुर्गा छिपकर आती है और पूजा का अंतिम इंदीवर उठा कर ले जाती है। हाथ बढ़ाने पर कमल न मिलने पर राम आँख खोलते हैं तो उस स्थान को रिक्त पाते हैं। आसन छोड़ना असिद्धि होगी। उनको लगता है—

‘जानकी! हाय उद्धार प्रिया का हो न सका।’

अर्थात् अब सीता का उद्धार नहीं हो सकेगा। तभी उनके मन में आशा का संचार होता है—

‘बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हतचेतन।’

उनको इस स्थिति में उपाय सूझता है:

कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन!

दो नीलकमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण

पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।

इसके बाद वे बाण लेकर अपनी एक आँख चढ़ाने के लिए तैयार हो जाते हैं। इन पंक्तियों के माध्यम से निराला ने परंपरा के महत्व तथा हृदय और बुद्धि के मध्य सामंजस्य एवं संतुलन की बात की है।

परंपरा में ही राम को उपाय मिलता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक टी.एस.इलियर ने भी व्यक्ति के महान बनने में व्यक्तिगत प्रतिभा के साथ परंपरा के दाय को अनिवार्य बताया है। बिना हृदय और बुद्धि के बीच संतुलन स्थापित किये कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। जय शंकर प्रसाद ने भी 'कामायनी' में 'ज्ञान' और 'क्रिया' के समाहार की बात की है। अगर तत्कालीन स्वाधीनता संघर्ष के संदर्भ में देखा जाए तो गाँधी जी द्वारा चलाये गये क्योंकि गाँधी ने सिर्फ हृदय से काम लिया, हृदय परिवर्तन की बात की। सफलता तब मिली जब उन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया अर्थात् हृदय और बुद्धि का समाहार कराया।

अध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो शक्ति प्राप्त होने के पहले प्रकृति भी परीक्षा लेती है कि इस व्यक्ति में शक्ति धारण करने की योग्यता है भी की नहीं। आज की युवा पीढ़ी आधुनिकता की अंधी दौड़ में परंपरा को भूलती जा रही है। आज मनुष्य हर चीज को एकांगी दृष्टि से देख रहा है। अधिकांश लोगों के विचार एवं व्यवहार में उनके अन्तर्मन एवं बाह्य मन के बीच का असंतुलन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। इस वजह से वे अशान्त जीवन जी रहे हैं। निराला का यह दृष्टिकोण इस परिस्थिति से मुक्ति में सहायक हो सकता है।

इस युद्ध में राम के सामने अनेक बाद विपरीत परिस्थितियाँ आती हैं पर राम ने कभी आशा का दामन नहीं छोड़ा। निराला कहते हैं “है अमानिशा, उगलता गगन, घन अन्धकार; खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार; अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।”

कहने का अभिप्राय यह है कि चार तत्व भू, जल, वायु, आकाश राम के विपरीत हो गये हैं, फिर भी उनके हृदय में आशा भरी है क्योंकि ‘अग्नि’ तत्व उनके साथ है। यह उर्ध्वगामी होती है। पूजा के अंतिम चरण में भी जब दुर्गा अंतिम कमल उठा ले जाती है तो उनका मन निराशा से भर जाता है तो उनका मन निराशा से भर जाता है पर तत्क्षण आशा का संचार होता है—

वह एक और मन रहा राम का जो न थका;

जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय

कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय।

आज के दौर का अधिकांश मनुष्य वर्तमान जीवन शैली, प्रतियोगिता, काम का बढ़ता बोझ, अति यांत्रिकता, बढ़ती अमानवीयता की प्रवृत्ति, की वजह से कुंठा और अवसाद का शिकार होते जा रहा है। इस स्थिति से निराला की यह आशापूर्ण दृष्टि निजात दिला सकती है। प्रसिद्ध चिंतक गैब्रियल मार्सल ने कहा है कि आधुनिक मानव के अशान्त मन के लिए आस्था सम्बल है और आशा जीवन सदेश।

राम शक्ति की उपासना आश्रित भाव से करते हैं वे कहते हैं:

मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।

सिंह माता के चरणों के पास बैठा रहता है। यह भाव विनम्रता की पराकाष्ठा है और पूर्ण समर्पण का भी भाव है। इसमें अपने अहम् को त्यागना पड़ता है। इस कविता में एक जगह और जब देवी महावीर पर प्रहार करने के लिए तैयार होती है तो शिव उनको रोकते हैं कि अगर दिव्यमान धारण कर अर्थात् अहंकार के वशीभूत होकर तुम इस पर प्रहार करोगी तो तुम्हारी हार निश्चित है। कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति संधान के लिए विनम्रता और समर्पण के साथ-साथ अहम् का त्याग, आवश्यक है। अज्ञेय ने भी ‘असाध्य वीणा’ में ‘अस्पर्श छुअन से छुए तार’ और ‘श्रेय नहीं कुछ मेरा’ के माध्यम से इसी विनम्रता की चरम स्थिति और अहंकार के त्याग की बात की है। आज जब लोग छोटी-छोटी बात पर भी उद्विग्न हो जा रहे हैं, कुछ नहीं, रहते हुए भी बड़ा अहंकार पाले हुए हैं और इसी चक्कर में अपना जीवन व्यर्थ गंवा देते हैं और अंत में पश्चाताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता है। ऐसे में यह भाव मार्गदर्शक की भूमिका अदा कर सकता है।

‘जानकी! हाय उदार प्रिया का हो न सका’ — के माध्यम से निराला ने देश मुक्ति के साथ-साथ नारी मुक्ति की भी बात की है। आज भी महिलाओं को दोयम दर्जे का नागरिक समझा जाता है। उन्हें तरह-तरह के शोषण, अत्याचार और प्रताड़ना का सामना करना पड़ता है। इस माहौल में मुक्ति की बात करती यह कविता प्रासंगिक नजर आती है।

जब हनुमान शक्ति को ग्रसने के लिए जाते हैं तो शिव के कहने पर शक्ति अंजनी रूप धारण कर लेती हैं और हनुमान को डाँटते हुए कहती हैं कि—

क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्री रघुनंदन ने?

कहने का तात्पर्य यह है कि नेतृत्व से अलग हटकर मनमाने तरीके से किया जाने वाला दुस्साहस किसी भी रण के लिए नुकसान देह होता है। संघर्ष सामूहिक समझ से लड़कर ही जीता जा सकता है, एक-एक व्यक्ति के अपने-अपने निर्णय से नहीं।

इस कविता में 'ज्योति' और 'नयन' शब्द बार-बार आते हैं जिनका विशेष महत्व है। यहाँ ज्योति और नयन क्रमशः ज्ञान और दृष्टि के प्रतीक हैं। प्रकाश हो भी और यदि नयन न हो तो प्रकाश का अस्तित्व सार्थक नहीं हो सकता। यह सत्य है कि मुक्ति के संघर्ष में ज्ञान होते हुए भी यदि दृष्टि नहीं हो तो सारा संघर्ष निष्फल हो जाता है। इतिहास में इसके उदाहरण मौजूद हैं। इसलिए मुक्ति के समर में जीत हासिल करने के लिए वैज्ञानिक और तर्कसंगत तथा देश और काल सापेक्ष दृष्टि की अहम भूमिका होती है। निराला का यह संदेश हर काल और स्थान के लिए प्रासंगिक है।

युद्ध के अंत में राम की विजय होती है क्योंकि इनकी सेना में सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व है (वानर, भालू, मनुष्य, आदि विभिन्न वर्गों के प्रतीक हैं), जबकि रावण की सेना में ऐसी बात नहीं है। कोई भी जन कल्याणकारी युद्ध सभी वर्गों के सहयोग के बिना नहीं जीता जा सकता है। साधारण जन के अंतर्गत सभी का समायोजन होता है। शेक्सपीयर ने अपने नाटक 'जूलियस सीजर' में इसी सत्य की खोज की थी। 1789 की फ्रांस की क्रांति और हमारी आजादी की लड़ाई इसी सत्य की साक्षी हैं। मुक्तिबोध ने अपनी कविता 'अँधेरे में' में इसी सत्य को गाँधीजी के माध्यम से वाचक को बताया है:

दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुर्गा
यदि बांग दे उठे जोरदर बन जाये मसीहा।

वे कह रहे हैं:

मिट्टी के लोंदों में फिर गीले कण-कण गुण हैं,
जनता के गुणों से ही संभव
भावी का उद्भव।

भविष्य में भी शोषक वर्गों से मुक्ति के लिए लड़े जाने वाले संघर्ष में यही सत्य काम आयेगा।

“धरा”, “वायु”, “जल”, “तेज”, “आकाश”, पंचतत्त्व है। इन्हें ही समन्वित कर बलशाली बनकर कवि समस्त आकाश को निगलने के लिए आगे बढ़ा। महाशक्ति भी उस पर प्रहार करने के लिए तैयार हो जाती है। दो महाशक्तियों के टकराहट के परिणामस्वरूप होने वाले अवश्यंभावी विनाश को देखते हुए शिव देवी को विद्या का आश्रम लेकर मन को प्रबोध देने को कहते हैं। आज विज्ञान ने भी पंचतत्त्वों पर विजय प्राप्त कर ली है और यही विज्ञान समर के काम आ रहा है। आज विज्ञान ने इतने संहारक अस्त्रों का निर्माण कर लिया है कि इस धरती का हजार बार विनाश किया जा सकता है। संभावित विनाशकारी और ध्वंसात्मक स्थिति से निराला की यही विवेकशील बुद्धि बचा सकती है।

साधन के लिए प्राणों को संयत करने की बात निराला ने की है। इसका अर्थ श्वास की प्रक्रिया को अंतर्दृष्टि के माध्यम से संयमित करना होता है। यह हमारे प्राणों को नया आवाम प्रदान करती है। इस कार्य में 'दृढ़ अराधन' अर्थात् दृढ़ निश्चय ही सहयोगी हो सकता है। यह दृष्टि अध्यात्मिक विकास के साथ-साथ भौतिक विकास में भी सहयोगी हो सकती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'निराला' ने 'राम की शक्ति-पूजा' में जो सूत्र प्रदान किया है वह मनुष्य के आध्यात्मिक, राजनीतिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं की उन्नति में सहायक है। आत्मदान और दृढ़ संकल्प के माध्यम से की गयी शक्ति की मौलिक कल्पना, परंपरा की उपयोगिता, अनुभव की सार्थकता, हृदय और बुद्धि के मध्य संतुलन, कठिन एवं विपरीत परिस्थितियों में भी आशा का संचार, अतिशय विनम्रता तथा अहम् का त्याग, ज्ञान के साथ सम्यक् दृष्टि, नारी मुक्ति, महाशक्तियों की पारस्परिक टकराहट से बचाव के लिए विवेक का उपयोग, संघर्ष विजय का सूत्र, आदि की बात करके इस रचना को हर युग और स्थान के लिए प्रासंगिक बना दिया है। सचमुच, देश, काल और परिस्थितियाँ इसकी सीमा नहीं हो सकती।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास-राम स्वरूप चतुर्वेदी (1986)।
2. निराला और मुक्तिबोध, चार लंबी कविताएँ नंद किशोर नवल (1993)
3. समकालीन पाश्चात्य दर्शन-प्रो. बसंत कुमार लाल, (1994)।
4. दर्शनशास्त्र की अन्य पुस्तकें।
5. इतिहास की पुस्तकें।
6. चाँद का मुँह टेढ़ा है — मुक्तिबोध।
7. आंगन के पार द्वार — अज्ञेय।

युग प्रवर्तक प्रेमचंद

राज कौर

शोध छात्रा, सी०एम०जे० विश्वविद्यालय, मेघालय

हिन्दी के युगान्तर साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कथाकार मुंशी प्रेमचंद युग-निर्माता, युग प्रवर्तक साहित्यकार हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कथाकार के रूप में इनका आगमन एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। कबीर, तुलसी और भारतेन्दु के बाद ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में प्रेमचंद का ही नाम आता है। हिन्दी साहित्य का बीसवीं शताब्दी में बहुत विकास हुआ। बीसवीं सदी के विश्व साहित्य पर विचार करते हुए तीन टीम लेखकों के नाम एक साथ लिए जायेंगे-रूस के मैक्सिम गोर्की, चीन के लू शुन और भारत के प्रेमचंद। संयोग से इन तीनों लेखकों का निधन 1936 में हुआ। तीनों मुख्यतः कथाकार थे और तीनों में यह समानता है कि उन्होंने अपने देश की जनता की मुक्ति के लिए अपनी साहित्यिक प्रतिभा का प्रयोग किया।¹

“इनके पूर्व हिन्दी-कथा साहित्य रहस्य, रोमांच, जासूसी और तिलस्म की दुनिया में खोकर रह गया था। मनोरंजन ही उसका एकमात्र लक्ष्य रह गया था। प्रेमचंद ने आते ही हिन्दी-कथा साहित्य को जीवन के साथ जोड़ा और उसमें जीवन के बुनियादी सवालों को उठाया। उन्होंने देश की नब्ज पहचानी और अपनी कहानियों और उपन्यासों में दलितों, पीड़ितों, वंचितों, किसानों और खेतिहर मजदूरों से लेकर गाँवों की अनपढ़ गंवार औरतों, विधवाओं और वेश्याओं तक की पीड़ाओं और उनकी समस्याओं को उठाया। मानव जीवन के चित्रण को ही अपने कथा साहित्य में प्रमुख स्थान दिया। साहित्य को जनता के निकट लाकर प्रेमचन्द जी ने एक ऐसा कार्य किया जो हिन्दी साहित्य का दस्तावेज बना गया। भारतीय कथा साहित्य में उन्होंने क्रांतिकारी पथ प्रशस्त किया। उनके जीवनकाल में कोई विरोधी, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिवादी परम्परा, हिन्दी कथा साहित्य में पनप न सकी।”²

छोटे-बड़े बहुत साहित्यकार थे। किंतु इतना सब होते हुए भी प्रेमचंद के कंधों से अधिक कोई हिन्दी साहित्यकार नहीं पहुँच पाया।

“वह एक युग निर्माता साहित्यकार थे। केवल साहित्य में युग को नाम देनेवाले नहीं बल्कि अपने समय के सामाजिक जीवन को एक नई गति और एक नई दिशा प्रदान करनेवाले।”³ “अमर कथा साहित्य की रचना के साथ-साथ उन्होंने युग-जीवन के सब पक्षों को स्पर्श किया। ‘युग चेतन’ को प्रबुद्ध करने के लिए ‘जागरण’ निकाला। भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक दूसरे से परिचित कराने के लिए हंस, का प्रकाशन किया। स्वतंत्रता संग्राम में योगदान किया और प्रगतिशील आन्दोलन प्रारंभ किया।”⁴ वे कहते हैं कि- ‘कविता एकांत में लिखी जा सकती है। घास, फूल, तारे, निर्झर, नदी आदि भी कवि को गंभीर अनुमति दे सकते हैं। परन्तु कथाकार जीवन के कोलाहल भरे मेले में शामिल होकर अपने आपको भीड़ का अंग नहीं बना लेता, तबतक कहानी नहीं लिख सकता।’⁵

साहित्यकार को दलित, पीड़ित और वंचित का पक्षधर होना चाहिए। सच्चा साहित्य व्यक्ति और समुदाय दोनों के लिए उपयोगी होता है। प्रेमचंद का साहित्य ऐसा ही साहित्य है। वे जनता के कथाकार हैं, उस हिन्दुस्तानी जनता के जो गांव में रहती हैं, जीवन भर कमरतोड़ मेहनत करती हैं। कर्ज के बोझ से लदी होती हैं और गरीबी की चक्की में पिसी जाती हैं। क्योंकि गरीबी को उन्होंने नजदीक से देखा था। गांधीजी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अंतिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया।

प्रेमचंद ने एक ऐसे संक्रमणशील काल में अपना जीवन बिताया जब आधुनिक जनतांत्रिक मूल्यों के साथ भारत को एक आधुनिक राष्ट्र की सकल दी जा रही थी। आचार्य द्विवेदी जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है कि- “वे दरिद्रता में जन्में, दरिद्रता में पले और दरिद्रता में जुझते-जुझते समाप्त हो गये। फिर भी वे अपने जीवनकाल में समस्त उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकार बन गये”⁶

शर्मा जी का भी कहना है कि - “प्रेमचंद जी का साहित्य बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का सच्चा इतिहास है। हमारी जनता की सहृदयता, सहनशीलता और वीरता उनकी रचनाओं में फूल की तरह खिली हुई है।

‘सेवा सदन’ से ‘गोदान’ तक उन्होंने कथा साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद इस तरह विकसित किया, जिस तरह एक ही साहित्यकार बहुत कम कर पाता है। अपने यथार्थवाद से उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य के लिए वह राजमार्ग बना दिया जिसपर नई पीढ़ी के लेखक निर्भय होकर आगे बढ़ सकते हैं।

उन्होंने ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ के प्रथम अधिवेशन में लखनऊ में सभापति पद से भाषण देते हुए साहित्यकार के सम्बन्ध में कहा था कि “वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं है, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सच्चाई है।”

कथाकार प्रेमचंद एक ऐसी ही सच्चाई थे, देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सच्चाई नहीं। उन्होंने अपनी और उपन्यासों द्वारा अपने समय की राजनीतिक जीवन को एक नई गति एवं एक नई दिशा दी। वे निरंतर अपने को युग के अनुरूप ढालते गये। जब उर्दू में नबाब राय के नाम से लिख रहे थे, तब भी और उस समय भी जब वे हिन्दी में प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे थे।

कथाकार प्रेमचंद गांधीयुगीन आदर्शों से भी प्रभावित थे और आगे चलकर मार्क्सवादी विचारों के प्रबल समर्थक बने। उन्होंने ऐसे औपन्यासिक पात्रों और ऐसे कहानियों की सृष्टि की जो पूर्णतः गांधीवादी है। किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि उन्होंने लेखन का ऐसा महत्वपूर्ण दौर लाया जिसपर प्रगतिशील विचारधारा की स्पष्ट छाप है, बड़ी स्पष्ट है।

प्रेमचंद मुख्यतः ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं। इनके कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन अपने संपूर्णता में चित्रित हुआ है।

“हंस” के जुलाई 1938 के अंक में निराला जी ने अपने प्रकाशित लेख हिन्दी साहित्य में उपन्यास, शीर्षक लेख में प्रेमचंद को हिन्दी का सबसे बड़ा औपन्यासिक, संज्ञा से विभूषित करते हुए लिखा है कि - प्रेमचंद जी ने ग्राम्य चित्रों को खींचने तथा मनुष्य-मन की छानबीन करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है।”⁸

इनकी यह मान्यता थी कि भारत की आत्मा गाँवों में है। उनके युग में शहरी जीवन का जिस रूप में विकास हो रहा था, उससे वे सशक्त थे, पर उन्होंने नगरों के जीवन को भी अनदेखा नहीं किया। इसलिए उन्होंने ‘गोदान’ में ग्रामीण कथा के साथ-साथ शहरी कथा का भी समन्वय किया। प्रेमचन्द ने ग्राम्य-जीवन को कभी अप्रभामंडित नहीं किया, बल्कि उसकी विषमताओं हीन अवस्थाओं, दुःखों, विपन्नताओं और महाजनी शोषणों को गहराई से देखा और अपने कथा साहित्य में वास्तविक रूप को चित्रित किया। उनकी कहानियाँ “सवा सेर गेहूँ, पूस की रात, कफन आदि तथा उनके उपन्यास ‘रंगभूमि’ और ‘गोदान’ उनकी इस जीवन दृष्टि को हमारे सामने स्पष्ट रूप में रखते हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य को जीवन-जगत की वास्तविकता की नींव पर खड़ा किया और उसे मानवोत्तर के बजाय मानवीय बनाया डॉ. नरेन्द्र मोहन के विचार द्रष्टव्य- “वे पहले कथाकार थे,

जिन्होंने 'महान' के बजाय 'लघु' को, असाधारण के बजाय साधारण को, अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया।" उनकी कृतियाँ चाहे उपन्यास हो या कहानियाँ नायक संबंधी परम्परागत धारणा को अमान्य सिद्ध करती हैं। होरी, गोबर, सूरदास सुमन, रमानाथ, कादिर, अलगू, घीस, माधव, जोखू, बुधिया, सिलियों, सनीचरी आदि नाम प्रेमचंद की इस नई धारणा को ही व्यक्त करते हैं।

अपने प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' से 'गोदान' तथा अथूरे उपन्यास 'मंगल सूत्र' तक प्रेमचंद निरन्तर एक जागरूक लेखक का दायित्व संभालते रहे। हिन्दी में आने के पूर्व उर्दू में वे अपनी कलम माँज चुके थे।

वैश्या जीवन पर आधारित 'सेवासदन' जमींदार विरोधी संघर्ष तथा प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न समस्या पर आधारित 'प्रेमाश्रय', नारी-समस्या पर आधारित निर्मला, नारी के आभूषण प्रेम एवं स्वतंत्रता-संग्राम पर आधारित 'गबन', जमींदार और किसान संघर्ष पर आधारित 'कायाकल्प'।

अपने उपन्यासों की तरह प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में भी अधिकतर आम आदमी की जिंदगी को विशेषकर ग्रामीण मजदूरों और किसानों की जिन्दगी को महत्व दिया।

इनकी कहानियों का विकास स्तर तीन दौर में है। प्रारंभिक दौर सन् 1907 से 1920 के बीच का है। पहली कहानी सन् 1907 में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद की कहानियों का दूसरा दौर 1920-1930 के बीच रचित कहानियों का है। इस युग की कहानियों में प्रमुख हैं- 'शतरंज के खिलाड़ी', 'शंखनाद', 'मुक्ति मार्ग', 'सवासेर गेहूँ', 'आत्माराम'।

इस युग की अधिकतर कहानियाँ स्वाधीनता आन्दोलन के विविध पक्षों को उजागर करती हैं।

इन कहानियों पर गांधीजी का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रेमचंद की कहानियों का तीसरा दौर 1930 से 1936 तक के बीच की कहानियों का है। इन कहानियों में प्रमुख हैं- 'पूस की रात', 'कफन', 'नशा', 'कुसुम' ये कहानियाँ इस बात की सूचक हैं कि प्रेमचंद का मोहभंग व्यापक स्तरों पर हुआ था। ये कहानियाँ विश्वास और आस्थाओं के टूटने की कहानियाँ हैं। इस टूटन के परिणामस्वरूप ये कहानियाँ करुणत्रासद में लिपटी हुई हैं।

प्रेमचंद की पहली कहानी 'दुनिया का अनमोल रत्न' से लेकर उनकी आखिरी दौर की कहानियों तक वे निरन्तर विकास की प्रक्रियाओं में से गुजरते गये। इनकी कहानियों ने मंगलमय क्षितिज की ओर संकेत किया। प्रेमचंद का विश्वास था कि- "ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य के सद्भावों को दृढ़ न करें या जो मनुष्य में कौतूहल का भाव न जागृत करें कहानी नहीं।" किंतु उन्होंने मनुष्य को जगाया है। सच्चा साहित्यकार मानवता का पथ-प्रदर्शक होता है। वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।

अपनी पूरी लम्बी कहानी यात्रा में प्रेमचंद जी स्वाधीनता के प्रति अपनी अवधारणा के दृष्टि को ही व्यक्त करते रहे। साथ ही सामाजिक और राजनीतिक चेतना से प्रभावित होते हुए सामान्य जन के जीवन को बेहतर बनाने की प्रक्रिया में वे सतत् प्रयत्नशील रहे। स्वराज्य के प्रति संघर्ष और सामान्य की प्रतिष्ठा इनकी समूची कहानी यात्रा का ध्रुवान्त है।

हिन्दी कथा-साहित्य के गौरवशिल्प प्रेमचंद आधुनिक युग के विश्व के श्रेष्ठ लेखकों में एक हैं। इनका कथा-साहित्य व्यापक विस्तार और अगाध गहराई लिए हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के बाद हिन्दी का दूसरा लोकप्रिय और जनता का साहित्यकार है तो वह प्रेमचंद हैं। इनके कथा-साहित्य में

झोपड़ियों से लेकर महलों तक, गाँवों से लेकर नगरों तक, पाठशालाओं से लेकर कॉलेजों तक, खेत-खलिहानों से लेकर कारखानों तक, खोंमचोंवालों से लेकर बैंकों का दृश्य बड़ी सच्चाई से देखने को मिलेगा। आचार्य द्विवेदी के मंतव्य देखें- समस्त दुःख-सुख और सुझ-बुझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद के साहित्य की विकास-यात्रा को देखते हुए हमें कह सकते हैं कि कथाकार प्रेमचंद एक पेड़ की तरह हैं जो बाहर से हवा-पानी लेता हुआ लगातार फलता-फूलता है और फूल की सुगंध और फूल का रस विरहित करता है।”

संदर्भ सूची:

शीर्षक-

1. ‘परम्परा आगे बढ़ रही है- ‘प्रेमचंद जन्म शताब्दी ‘परिचर्चा’, साप्ताहिक हिन्दुस्तान विशेषांक पृष्ठ-20, डा10 नामवर सिंह 27 जुलाई 1980
2. “‘परम्परा अधिक पुष्ट हुई” परिचर्चा-प्रेमचंद जन्म शताब्दी विशेषांक, साप्ताहिक हिन्दुस्तान 1980-डॉ. शिवादान सिंह चौहान, विशेषांक 27 जुलाई 1980
3. ‘प्रेमचंद और उनका युग’-डॉ. रामविलास शर्मा
4. ‘पुण्य-स्मरण’ हिन्दुस्तान पत्रिका 27 जुलाई 1980-महादेवी वर्मा, प्रेमचंद विशेषांक का जन्म शताब्दी।
5. ‘पुण्य-स्मरण-हिन्दुस्तान’ पत्रिका-27 जुलाई 1980, प्रेमचंद जन्म शताब्दी, महादेवी वर्मा
6. ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. ‘कुछ विचार-साहित्य का उद्देश्य’ प्रेमचंद, पृष्ठ-20
8. ‘हंस’ 1930 के अंक में निराला जी के प्रकाशित लेख ‘हिन्दी साहित्य के उपन्यास’।
9. ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’-आचार्य हजारी प्र0 द्विवेदी

प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्रामीण समाज और संस्कृति

प्रियंका कुमारी

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया था जब कहानी और उपन्यास के नाम पर साहित्य में केवल अनेक -विध अस्वाभाविकताएँ ही पल-पुस रही थीं। नितान्त कल्पित रहस्य-रोमांच ने उपन्यास-साहित्य को उस समय नितान्त आक्रान्त कर रखा था। घटना-प्रधान एवं वायवी आदर्शों के प्रतिष्ठापक उपन्यास ही उस समय सिरजे जा रहे थे। तिलस्मी ऐयूरी और जासूसी उपन्यासों की एक अस्वाभाविक बाढ़-सी आ रही थी। उन व्यवस्थाओं की ओर किसी भी उपन्यासकार का ध्यान नहीं जा रहा था कि जिन्होंने जीवन को घुण के समान लगकर भीतर ही भीतर खोखला बना दिया था। अस्वाभाविकताएँ एवं अनेक प्रकार के विद्रूप जीवन के सभी क्षेत्रों में पनप कर अनेक प्रकार के गत्यावरोध मानव-चेतनाओं को कुण्ठित कर रहे थे। दूसरी और नव जागृत राष्ट्रीय चेतनाएँ भी स्वातन्त्र्य-आन्दोलनों के रूप में भारतीय जन-मानस को आलोडित करने लगी थी। पर साहित्य, विशेषतः उपन्यास-साहित्य अभी तक उन्हीं अस्वाभाविक घटनाओं के ताने-बानों में उलझकर साधारण और कहीं-कहीं तो निम्न स्तर का मनोरंजन मात्र जुटा रहा था। ऐसे समय में प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करके उन व्यवस्थाओं को स्पष्टतः चुनौती दी कि जो अब भी जीवन को खोखला किये जा रही थीं। हमारे विचार में प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता और देन व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोही स्तर मुखरित करना ही है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास के अन्तः-बाह्य धरातल को कल्पना के अस्वाभाविक एवं भौंडे क्षितिज से उतार कर जीवन के यथार्थ धरातल पर उसे प्रतिष्ठापित किया। व्यवहार-जगत् के यथार्थ रहस्य-रोमांचों को अपना वर्ण्य-विषय बनाया। घटनाओं के तानों-बानों की उलझी हुई डोरियाँ काट करके वहाँ मानव-चरित्रों के भिन्न रूपों को सजाया-संवारा। थोथे आदर्शों के गुलझट में से उपन्यास-साहित्य को निकाल कर उसे व्यावहारिक यथार्थों के पर्यावरण में संजोने का अनवरत प्रयत्न किया। इसका मूल कारण यह था कि वे इस मान्यता के पोषक थे कि - “साहित्य, समाज और राजनीतिक में अटूट सम्बन्ध है।” अतः उन्होंने व्यावहारिक दृष्टियों से ही जीवन को सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में देखते हुए अपने उपन्यास साहित्य की सर्जना की। इसी कारण उनका समग्र साहित्य क्रमशः विकसित हो हुए ‘गोदान’ तक पहुँच करके व्यवस्थाओं के प्रति एक प्रत्यक्ष एवं प्रबल चुनौती बन सका। सत्य तो यह है कि वह चुनौती आज भी विद्यमान है।

अपने ‘उपन्यास’ नामक लेख में उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था- “मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्रा समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।” यह सत्य है कि साहित्य के अन्य अंगों के समान उपन्यास हमारा मनोरंजन भी करता है। पर अब वह मनोरंजन मात्र रागात्मक न रह कर वृद्धि-रस से संयत हो गया है। मूलतः साहित्य के सम्बन्ध में, उसकी सोद्देश्यता पर विचार करते हुए प्रेमचन्द भी यही मानते हैं कि साहित्य मात्र कल्पना की मनोरंजन उछल-कूद ही नहीं है। वह बुद्धि-संयत, औचित्यपूर्ण जीवन-व्यवहारों का चितेरा भी है। साहित्य के लक्ष्यों के सम्बन्ध में

विशेषतः कथा-साहित्य के सन्दर्भों में वे कहते हैं - “अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है। मनोरंजन के सिवाए उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है।

अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप ही प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल करने का सफल प्रयत्न किया है। इसी कारण वे साहित्य की परिभाषा करते समय एक स्थान पर कहते हैं - “साहित्य की सर्वोत्तम की परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना या व्याख्या करनी चाहिए।” यहाँ प्रेमचंद जी के विचार अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि और आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। उन्होंने भी कहा था कि साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य समाज का दर्पण तभी बन सकता है कि जब साहित्यकार का दृष्टिकोण उपयोगितावादी प्रवृत्तियों से परिचालित रहे। हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि प्रेमचन्द जी अपने समग्र साहित्य में उपयोगितावादी दृष्टियों से पूर्णतः परिचालित थे।

प्रेमचन्द का पहला उपन्यास “सेवासदन” (1918) है। यद्यपि इसके पहले भी 1905 ई० में “प्रेमा” नामक उपन्यास निकल चुका था, परन्तु इस छोटी-सी किताब को एक बड़ी सी कहानी कहना ही अधिक उपयुक्त लगता है। यह उपन्यास इनके उर्दू “हम खिरमा व हमसवाब” का अनुवाद है।¹ विधवाओं के प्रति इनकी संवेदना इसमें व्यक्त हुई है। इस तरह हिन्दू-समाज के एक बहुत बड़े पीड़ित वर्ग को लेकर ये क्षेत्र में आए और “विधवा विवाह” के रूप में इस समस्या का समाधान बताया।

“सेवासदन” के उपरान्त हिन्दी-जगत् को प्रेमचंद जी का एक छोटा सा “वरदान” मिला। “वरदान” में मध्यवर्गीय समाज के सीमित पक्ष का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें उपन्यासकार ने समाज-चित्रण की अपेक्षा कहानी पर विशेष बल दिया है। इसी के अन्तर्गत प्रेम और अनमेल-विवाह की समस्या पर दृष्टिपात किया गया है। प्रेमचन्द हिन्दी-जगत् के पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने अपनी अधिकांश कृतियों के कथानक का विषय ग्राम जीवन से लिया था। ग्राम-जीवन का चित्रण करते हुए उनके अपने अनुभव उनके सामने विद्यमान थे क्योंकि प्रेमचन्द का जन्म ग्राम में हुआ, गाँव की धरती से उनका काफी दिनों तक साहचर्य रहा। उन्होंने अपने युग के ग्राम-जीवन की समस्याओं को अनुभूत करके उसके सजीव चित्र खींचे हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी ने “युग और साहित्य” में ग्राम-जीवन के प्रति प्रेमचन्द की सहानुभूति के सम्बन्ध में लिखा है - “प्रेमचन्द आज तक की देहाती पगडंडियों के बटोही हैं। अतएव यह ठीक है कि भविष्य में शायद भारतीय ग्रामों का इतिहास उनके उपन्यासों में पढ़ा जाए।”²

“वरदान” में नगर के मध्यवर्गीय समाज की अपेक्षा ग्रामीण जीवन और समाज का चित्रण अधिक सजीव है। इसके अठारह पृष्ठों में ग्रामीण जीवन का जैसा मार्मिक चित्रण हुआ है, वैसा सम्पूर्ण उपन्यास में अंकित नगर के मध्यवर्गीय जीवन का नहीं हो पाया है। प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में इस जीवन के उल्लास-विनोद के मध्य उस विषाद के अंधकार को भी देखा है जो शोषण से प्रादुर्भूत होता है। विपत्तिग्रस्त। मानवता का यह चित्र कितना मर्मस्पर्शी है- “टूटे-फूटे फूस के झोपड़े मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर, कीचड़ से लिपटी हुई भैंसे, दुर्बल गायें... मनुष्यों को देखो तो उसकी शोचनीय दशा है। हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक लेपटा वस्त्र नहीं है... रात दिन पसीना बहाने पर भी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलती।”³

शरीर श्रम के उपर इन किसानों का अपना वश हैं लेकिन, विधाता पर नहीं। आँखें आकाश की ओर टंगी रहती है। गाँव में काशी नाम का एक व्यक्ति है जिस पर देवता उतर आया है। इस देवता से मझगांव के किसान जो जिज्ञासा करते हैं वह इन शब्दों में प्रस्तुत है- “महाजन अब के वर्ष खेती की उपज कैसी होगी? पारी कैसा बरसेगा? बीमारी आयेगी या नहीं? स्पष्ट है किसानों की कुल तीन चिन्ताएँ हैं एक फसल कैसी होगी, दो दृष्टि कैसी होगी और तीन महामारी का प्रकोप तो नहीं होगा। इससे यह विदित है कि “वरदान” की रचना करते समय प्रेमचन्द के ध्यान में अनावृष्टि, दुर्भिक्ष और महामारी की, उस समय की चिन्ताएँ हैं। “वरदान” प्रारंभिक कृति है। उसमें समस्याएं तो उठायी गई हैं किन्तु प्रेमचन्द उनके वर्णन विश्लेषण में प्रौढ़ता नहीं भर सके।⁵

प्रेमचन्द को यह विदित था कि भारतीय किसान की सबसे बड़ी समस्या ऋण की है। वह यह भी जानते हैं कि कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर लौटता नहीं है। लेकिन इस कर्ज की समस्या को जिस रूप में “वरदान” में प्रस्तुत किया गया है वह मूल समस्या को उभार कर रख नहीं पाता। “वरदान” की राधा के पिता के उपर बीस रुपये का ऋण है जिसको चुकाने में वह असफल रहा।⁶ महाजन इतनी छोटी रकम के लिए दफा 13(अ) के अन्तर्गत उस गरीब को हवालात में डलवा देता है।⁷

“वरदान” की रचना के समय ऋण सम्बन्धी ऐसा कानून था कि कर्जदार को महाजन नादहिन्दगी की हालत में जेल की सजा दिला सकता था। यह नियम बड़ा अमानुषिक था और इसके विरुद्ध जनमत तैयार हुआ और कांग्रेस ने जब प्रांतीय शासन-भार ग्रहण किया तब इस कानून को मन्सूख कर दिया गया। प्रेमचन्द ने इस नाजायज कानून की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। किसानों की ऐसी दशा हो गयी थी कि यदि उनमें थोड़ी सी चेतना आ जाती तो विद्रोह हो जाता। वरदान की रचना सन् 1905 से 1912 के बीच हुई। यह वही समय है जब रूस में किसानों ने जारशाही के अनाचार के विरुद्ध किया था। श्री बी० एल० बेसक्रवनी के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि सन् 1905 से 1908 के तीन वर्षों में भारत में जन-आन्दोलन के लिए ऐसी अनुकूल भूमिका खड़ी हो गयी थी कि रूसी क्रांति के अमर नेता लेनिन ने इशारा किया था कि भारत के मजदूर भी सचेत हो उठे हैं और उनकी लड़ाई भी संघ-बद्ध राजनीतिक लड़ाई का रूप ले रहा है।⁸ लेकिन भारत में वैसी अपेक्षित जागरूकता नहीं आ सकी। उसके लिए अनुकूल अवसर तब नहीं था। यह सही है कि प्रेमचन्द ने “वरदान” में भारतीय किसानों की विपन्नता का चित्र हल्के-फुल्के हाथों से ही खींचा है तथा पित यह तो प्रत्यक्ष ही है कि प्रेमचन्द के इस उपन्यास में अनावृष्टि, अकाल और महामारी उस युग की समस्याओं के रूप में प्रतिफलित है।

“प्रेमाश्रम” की रचना प्रेमचन्द ने सन् 1916 से लेकर 1921 के मध्य की थी। इसमें तत्कालीन जमीन्दारी प्रथा के विरुद्ध लखनपुर के कृषकों के संघर्ष की विशद गाथा; किसान जीवन के विशाल फलक पर अंकित की गई है। इसमें शोषक और शोषित वर्गों की सम-सामयिक राजनीति स्थिति को प्रस्तुत करने के कारण वर्ग संघर्ष का सजीव चित्रण भी प्राप्त हो जाता है।

“प्रेमाश्रम” में वर्णित किसान-संघर्ष की गाथा किसान-सभा के आन्दोलनों की प्रतिच्छाया है। कहना नहीं होगा कि प्रेरणा चम्पारण और खड़ा आन्दोलन के उस संदेश से प्राप्त हुई जिसमें बताया गया था कि देश के कल्याण के निर्मित छोड़े जाने वाले आन्दोलनों का केन्द्र गाँव को ही होना होगा।⁹ महात्मा जी की प्रेरणा पर देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा सरदार पटेल जैसे वकील नेताओं ने अपनी चलती हुई उस वकालत पर लात मारी जो उनके घर में सोना बरसाती थी अथवा जिसमें यह सम्भावना था कि ब्रिटिश सरकार उन्हें हाईकोर्ट के न्यायाधीश के उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दे वैसे

ही “प्रेमाश्रम” का प्रेमशंकर अमेरिका के प्रति पूर्ण निरपेक्षता बरतते हुए देश के किसानों के साधारण जीवन को स्वीकार कर लेता है और किसान बन जाता है।

“प्रेमाश्रम” में वर्णित किसान-संघर्ष तत्कालीन राजनीतिक समस्या था, जिसका समाधान गांधीवादी दृष्टिकोण से हुआ है। उपन्यास का नायक प्रेमशंकर गांधीवादी विचारों का वाहक है। वह अंग्रेजों द्वारा निर्मित जमीन्दारी या ताल्लुकदारी की प्रथा को अनुचित मानता है। डिप्टी ज्वाला सिंह से वह अपने विचार व्यक्त करता है कि भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शांति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।¹⁰ वह इस तीसरे वर्ग को देशद्रोही मानता है। वह सियासत को रियासत नहीं मानता बल्कि उसे दलाली समझता है। नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबों की कृपा-दृष्टि बनी रही। इसके बाद अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथ से निकल गया। लेकिन राज-विद्रोह के समय पिताजी ने तन-मन से अंग्रेजों की सहायता की। शांति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत को हकीकत है।¹¹

जमीन्दारी प्रथा को अंग्रेजों ने साम्राज्य के सुरक्षा हेतु निर्मित किया था। प्रेमचन्द ने अनुभव किया कि हम इस देश के मुट्ठी भर अंग्रेज शासकों ने शोषकों की एक विशाल फौज खड़ी कर ली थी और उसके निहित स्वार्थ की तलवार किसानों की गर्दन पर सीधे पड़ी हुई है। एडवर्ड माइकेल ने बताया ही है कि ब्रिटिश शासन काल में कभी चालीस हजार से अधिक की संख्या में अंग्रेज भारत वर्ष में नहीं रहे। स्पष्ट है ऐसी स्थिति में भारतीय जनता का शोषण इतनी नगण्य संख्या वाले अंग्रेज चाहकर भी नहीं कर सकते थे। यह भी स्पष्ट है कि भारतीय ही अपने स्वदेश-बंधुओं का शोषण कर रहे थे। प्रश्न है – यह शोषक समाज कौन है? उत्तर सीधा है – “नौकरशाही” इसी नौकरशाही के नानाविध शोषण का इतिवृत्त “प्रेमाश्रम” में सुरक्षित है। किसानों के इस शोषण का विरोध प्रेमशंकर और मायाशंकर करते हैं। मायाशंकर के शब्दों में – “भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है।¹² लेकिन किसी मध्यस्थ की कहीं कोई स्थिति राजा और प्रजा के बीच नहीं हो सकती। किसी को भी मिल्कियत, जायदाद अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोज्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को समाज व्यवस्था का कलंक ही समझना चाहिए।¹³ यह स्मरणीय है कि नागपुर कांग्रेस (1920) में पारित प्रस्ताव में भी कांग्रेस ने सब देशी नरेशों से प्रार्थना की, कि वे अपनी-अपनी रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए शीघ्र से शीघ्र प्रयत्न करें।

स्पष्ट है कि कांग्रेस राजा, जमीन्दारों या ताल्लुकदारों को दोषी नहीं मानकर प्रथा को ही तत्कालीन अव्यवस्था का मूल कारण मानती थी। इसका मूल राजनीतिक कारण यह था कि कांग्रेस अंग्रेजों के साथ-साथ देशी नरेशों या जमीन्दारों का खुला विरोध कर उनको अपने विरुद्ध नहीं करना चाहती थी, क्योंकि इससे आन्दोलन क्षीण पड़ सकता था। प्रेमचंद मानता है कि दोष जमीन्दारों; ताल्लुकदारों और रईसों का नहीं वरन् प्रथा का है, जिसके कारण समाज का बल, बुद्धि और विद्या में श्रेष्ठ तथा हृदय और मस्तिष्क के गुणों से अलंकृत यह अंग आलस्य, विलास्य और अविचार के बंधनों में जकड़ा हुआ है। इस उपजीवी वर्ग की निस्सारता व्यक्त कर उसका आवरणयुक्त विरोध

कांग्रेस की सामयिक राजनीति थी और प्रेमचन्द ने “प्रेमाश्रम” में उनका यथातथ्य विवरण प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द “प्रेमाश्रम” में किसानों की समस्या का समाधान गांधी जी द्वारा बताये गये मार्ग पर चल कर करना चाहते थे।

भूमि समस्या

“प्रेमाश्रम” की प्रमुख समस्या भूमि समस्या है, जिसकी नींव में समाज-व्यवस्था और आर्थिक पहलू हैं। भूमि-समस्या के प्रश्न को लेकर जमीन्दार और किसान के विविध रूप उपन्यास में उभरे हैं। प्रेमचन्द ने जमीन्दारों के तीन स्तरों का उद्घाटन किया है। एक है ज्ञानेश्वर जो शोषण का प्रतीक है दूसरे है राय कमलानन्द जो सामन्त होने पर भी नये विचारों के प्रतिपादक हैं और किसानों के समर्थक हैं। तीसरा प्रकार व्यक्त हुआ है गायत्री के चरित्र-चित्रण में (1) बेगार (2) बेदखली (3) जमीन पर किसान का स्वत्व का न होना (4) इज्जत आबरू (5) कर्ज आदि विशेषतायें गायत्री के वर्ग की है जिन पर “प्रेमाश्रम” में यथा स्थान प्रकाश डाला गया है।

साम्यवाद के विस्तार के संकेत

“प्रेमाश्रम” में जमीन्दारों की तीन पीढ़ियों का चित्रण है। एक है जटाशंकर की, दूसरी ज्ञानशंकर की और तीसरी मायाशंकर की। जटाशंकर का युग समाप्त हो चुका है और ज्ञान शंकर का उत्कर्ष पर है। तीसरी पीढ़ी है मायाशंकर की जो भविष्य की संभावना है। मायाशंकर साम्यवाद की ओर उन्मुख है। यद्यपि साम्यवाद की विवेचना लेखक का ध्येय नहीं है। लेकिन रूस की क्रांति से प्रेमचन्द प्रभावित हुए थे। एक स्थल पर साम्यवाद की झलक दिखलाने की चेष्टा है - “तुम लोग तो मेरी हंसी उड़ाते हो, मानों काशतकार कुछ होता ही नहीं, वह जमीन्दार की बेगार ही करने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आया है, उसमें लिखा है कि रूस में काशतकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।”¹⁴

प्रेमचन्द चाहते थे कि किसानों को न्याय सुलभ हो, उनको अपना पक्ष प्रस्तुत करने की सुविधा हो और इसलिए वे चाहते थे कि अदालत से ही सरकार के प्रतिपक्ष के वकील को भी नियुक्त किया जाय। पुलिस के कारण किसान की जो तबाही है उसका अन्त तो तभी हो सकता है जब पुलिस की नौकरी में सेवा-भाव से प्रेरित सच्चरित्र व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय। लेकिन यह तो तब होगा जब शासन पुलिस को रक्षक की स्थिति में रखने के न्याय का अनुभव करे।

“प्रेमाश्रम” के रचना काल तक आकर देश इस बात को अनुभव करने लगा कि राजनैतिक आन्दोलनों का केन्द्र गांव को ही होना चाहिए। “प्रेमाश्रम” के अन्त में इसी कारण उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र गाँव की ओर चल पड़ते हैं।

रंगभूमि

“रंगभूमि” में प्रेमचन्द ने ईसाईमत और हिन्दू-धर्म को आमने-सामने रखकर परखा है। ईसाई मत से भारत के परिचय का इतिहास बहुत पुराना है। लेकिन देश में अंग्रेजी राज्य के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने के बाद ईसाई धर्म को शासक वर्ग का धर्म होने का सम्मान मिला और अब शासन की सारी सुविधाओं के साथ ईसाई मत का प्रचार हो सकता था।

“रंगभूमि” में श्रीमती जॉनसेवक हैं, जिनको हिन्दू-धर्म में केवल बुराई ही बुराई नजर आती है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के विरोधियों के निम्नलिखित दो वर्ग खड़े थे जो इस पर प्रहार कर रहे थे-

- 1) शासकों के सहधर्मियों का वर्ग, जो हिन्दू धर्म का उग्र विरोधी था।
- 2) अपने ही बीच का वह वर्ग, जो पाश्चात्यों का कृतदास होकर अपने ही धर्म, अपने ही आचार विचार का कठोर निन्दक हो गया था।

श्रीमती सेवक ईसाई थी और भारतीय थी। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दूओं के किस वर्ग से आयी थी उच्च या निम्न। क्योंकि ईसाई मत -प्रचार का प्रभाव उन भारतीयों पर ही अधिक पड़ा जो, अपने समाज में सम्मान और अधिकार से वंचित हो गये थे। हिन्दू धर्म के प्रति उसका आक्रोश और घृणा भाव बहुत बढ़ा-चढ़ा है। हिन्दू धर्म का खंडन करते समय वह उचित अनुचित विचार का भी ध्यान नहीं रख पाती। सूरदास के प्रति उसका निम्नलिखित कथन सूचित करता है कि उसके हृदय में हिन्दू-धर्म के प्रति घृणा का कितना तीव्र भाव है।”

“तेरे भगवान ने तुझे अन्धा क्यों बना दिया? इसलिए कि तू भीख मांगे।”

सेवक परिवार में ही मिस्टर जॉनसेवक की पुत्री सोफिया भी है जिसके धार्मिक विचार अत्यंत उदार हैं। धार्मिक विषयों में वह अपनी विवेक बुद्धि के सिवा और किसी के आदेशों को नहीं मानती।

सोफिया द्वारा हिन्दू-धर्म की इस प्रकार वकालत कराने के पीछे भी प्रेमचन्द का एक विशेष उद्देश्य है। वैसे तो इसके लिए किसी हिन्दू पात्र को भी उपस्थित किया जा सकता था। लेकिन रंगभूमि की सोफिया को प्रेमचन्द भारतीय लोकमानस पर अपनी निष्पक्ष उदारता का छाप छोड़ने वाली श्रीमती एनी बेसेन्ट का प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रेमचन्द ने स्वीकार भी किया है कि वे एनी बेसेन्ट से प्रभावित हुए थे।¹⁵

भीख मांगकर गुजारा करने वाला सूरदास भी त्याग की मूर्ति होने से धार्मिक है। सूरदास अपने लिए भीख मांगता है लेकिन अपनी जमीन उसने दूसरों की गायों को चरने के लिए खाली रख छोड़ी है। यह अन्धा है, शरीर शक्ति में क्षीण है फिर भी भरसक दूसरों का उपकार करने से पीछे नहीं हटना चाहता।¹⁶ धर्म के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की अपनी कुछ निश्चित मान्यताएँ थी, जिन्हें यत्र-तत्र उन्होंने प्रकट भी किया है। धार्मिक पाखण्ड के प्रति प्रेमचन्द को प्रारंभ से ही आक्रोश था। उसे वे धर्म नहीं मानते थे। उनके अनुसार धर्म वही है जो मनुष्य के अंदर मानवोचित गुणों का विकास करे। यह आवश्यक नहीं कि पढ़े-लिखे शिक्षित जनों में ही ऐसे भाव पाये जायें। किसी में भी सात्विक वृत्ति पायी जा सकती है।

कायाकल्प

“कायाकल्प” में सन् 1924-28 की कालावधि के बीच जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उनका चित्रण किया गया है। हिन्दूओं और मुसलमानों के परस्पर संघर्ष का एक बड़ा कारण गाय की कुर्बानी का प्रश्न था। लेकिन सच तो यह है कि गाय की कुर्बानी अपने में एक महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं थी, मुख्य थी कुर्बानी के पीछे छिपी हुई भावना। प्रश्न अधिकार का था - जिद का था। “कायाकल्प” में इस धर्मान्धता पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय मनीषियों ने बताया है कि मनुष्य अपने कर्मों का भोग भोगता है और तदर्थ उसे बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है। “कायाकल्प” में इसी धारणा के फलस्वरूप देवप्रिया का पति फिर-फिर जन्म लेकर अपनी पत्नी के पास आता है। हमारे यहाँ यह भी विश्वास है कि मनुष्य की आत्मा की अतृप्त लालसाएँ उसे बार-बार संसार में खींच लाती है। “कायाकल्प” की देवप्रिया का पति भी कहता है- “यह अतृप्त तृष्णा फिर फिर मुझे तुम्हारे पास लायेगी।”¹⁷

हिन्दूओं ने धार्मिक-साधना के क्षेत्र में स्त्रियों को बाधक माना है। हाँ कबीर जैसे कुछ संत ऐसे अवश्य थे जिन्होंने गृहस्थी बसायी थी और स्त्री संगति को सर्वथा त्याज्य नहीं माना था। इसके पीछे उनका वैष्णव आदर्श था जो अनासक्त कर्म विधान में विश्वास रखता था।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने भी स्त्री को धार्मिक क्षेत्र में बाधक नहीं बताया। कायाकल्प में शंखधर भी जीवन की पूर्णता पत्नी के साथ ही प्राप्त करना चाहता है।

कर्मभूमि

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में धर्म की उस राजनीति को पहचाना है, जिसके बल पर अंग्रेज भारत वर्ष में अपने डटे रहने का औचित्य सिद्ध करते थे। “कर्मभूमि” में प्रेमचन्द ने यही दिखलाया है कि अंग्रेजों की राजनीति किस प्रकार धर्म की आड़ में खेल रही थी और कैसे हिन्दू धर्म की बुराइयों के कारण देश की स्वतंत्रता के प्रश्न को खटाई में डाला जा रहा था। जब अंग्रेजों ने अछूतों को दलित कहकर उनके लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाया तो गाँधी जी ने उसका विरोध किया। उन्होंने देखा कि सरकार इस पृथक निर्वाचन पद्धति का सिलसिला खड़ा कर सदा-सर्वदा के लिए अछूतों को हिन्दू-धर्म से भिन्न रखना चाहती है। इससे उन्होंने कहा था - स्पृश्यता जीवित रहे, इसकी अपेक्षा में यह अधिक अच्छा समझता हूँ कि हिन्दू-धर्म डूब जाये। एक राष्ट्रवादी कलाकार होने के नाते यह सर्वथा उचित ही था कि प्रेमचन्द उन तमाम बातों को अपने ध्यान में रखते, जिनके कारण हमारी प्रगति का मार्ग अवरूद्ध हो रहा था।

प्रेमचन्द ने समझ लिया था कि अछूतों का उद्धार तभी हो सकेगा जब उनकी सोई हुई आत्मा को कोई जगा दे। प्रो. शांतिकुमार इसी कर्तव्य की पूर्ति का प्रयास करता है। मंदिर में जब अछूतों को कथा सुनने की सुविधा नहीं दी जाती तब प्रो. शांति कुमार स्वयं कथावाचक हो जाता है। लेकिन उस कथा मंडली में प्रो. शांति कुमार किसी अवतार की कहानी नहीं कहता। वह अछूतों से ही एक सीधा सा प्रश्न पूछता है कि क्या उन्हें ईश्वर ने ऐसा ही गर्हित जीवन व्यतीत करने के लिए भेजा है? यदि ईश्वर ऐसा अन्यायी नहीं है तो स्पष्ट है कि उनकी यह दुर्दशा समाजकृत विधान है। इसलिए अछूतों को मुँह खोलना चाहिए और अपने विरुद्ध होने वाले अन्याय का विरोध करना ही चाहिए।¹⁸ स्वभावतः धर्म के ठेकेदारों को यह सह्य नहीं होता और लाठियां चल पड़ती हैं। इस संघर्ष में दो चार अछूतों की जान तो जाती है, लेकिन मंदिर का द्वार सबके लिए खुल जाता है। अधिकार प्राप्ति के लिए अछूतों ने जो संघर्ष किया है उसका रूपाकार भी ठीक वही है जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन का था।

गोदान

प्रेमचंद के एकाधिक उपन्यासों में यह दिखाया गया है कि हिन्दूओं में धर्म के नाम पर उन लोगों का शोषण किया जाता है जो धर्मभीरू हैं, समाजभीरू हैं। “गोदान” में जिस होरी की अवतारणा होती है वह “मरजाद” निभाने में ही अपनी सारी मर्यादा खो देता है (बिरादरी की “चिरौरी” करते-करते किसान से मजदूर होकर दम तोड़ देता है। उपन्यास के आरंभ में उसने अपनी बेबशी का उल्लेख करते हुए कहा है - “जब दूसरे के पाँव तले अपनी गर्दन दबी हो तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है।”¹⁹ मुसीबत यही है कि किसान के पास गर्दन एक है लेकिन उसके उपर पड़े हुए पाँव असंख्य हैं।

“गोदान” भारतीय ग्रामीण-जीवन का महाकाव्य है। लेखक ने उनके नाम गोबर, धनिया, झुनिया आदि उनके घर, खेत, खलिहान उनकी वेशभूषा के यथार्थ चित्र खींचकर ग्रामीण जीवन का वाह्य

स्वरूप अंकित किया है तो बिना बात के चिढ़ने वालों (झिंगुरी सिंह), चोरी के माल में हिस्सा बांटने वालों (दातादीन) का अंकन कर उसके आंतरिक पक्ष का संकेत दिया है। किसानों के बीच भूमि और गोधन-पूजा का विशेष महत्व है। यदि भूमि उसके प्यार और प्रतिष्ठा की वस्तु है तो गाय श्रद्धा और पूजा की। किसान की बड़ी अभिलाषा यही होती है कि उसके पास कुछ अपनी जमीन हो ताकि वह महतो कहलाये और द्वार पर एक गाय जुगाली करती रहे। धर्म और ब्राह्मण का भय उसकी आत्मा में गहराई तक पैठ रहता है, गो-वध करने पर तीर्थ-यात्रा करनी पड़ती है। सारे गांव को भोज देना पड़ता है, अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर वह जाति भ्रष्ट कर दिया जाता है उसे प्रायश्चित्त के रूप में या तो दंड भरना पड़ता है अथवा हवन और ब्राह्मणों को भोजन कराना पड़ता है। किसानों का दृढ़ विश्वास है कि छोटे-बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं, अतः वह चुपचाप शोषण का शिकार बनता रहता है। बिरादरी में रहने का मोह किसान की परम्परागत मान्यताओं में से एक है और उसके लिए वह अनेक कष्ट सहन करता है। उसकी संस्कृति में अन्तर्जातीय विवाह अमान्य है। वह अंधविश्वासों से बुरी तरह घिरा है – टोना, टोटका, कुदृष्टि, स्वर्ग-नरक का भय सभी से आतंकित रहता है। मंदिर में जाकर या गंगाजल हाथ में लेकर शपथ ग्रहण की प्रथा उनमें प्रचलित है। किसी के परदेश से लौटने पर सारे गाँव में बैना बांटा जाता है। शुभ अवसर पर सत्यनारायण की कथा कहलाई जाती है और गांव भर को कथा सुनने का निमंत्रण दिया जाता है। कथा के बाद आरती होती है और उसमें पैसा न डालना अनुचित समझा जाता है।

सामाजिक स्थिति

कृषि-संस्कृति का चित्र पूरा करने के लिए लेखक ने गांव में प्रचलित त्योहारों और उत्सवों का भी यथार्थ वर्णन किया है – “देहातों में साल के छह महीने किसी-न-किसी उत्सव में ढोल मंजीरा बजाता रहता है। होली के एक महीना पहिले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है, आषाढ़ लगते ही आल्हा शुरू हो जाता है और सावन-भादों में कजरियाँ होती हैं। कजरियों के बाद रामायण-गान होने लगता है।”²⁰

इस प्रकार “गोदान” में भारतीय जन-जीवन की यथार्थ-झांकी अपनी तमाम दुर्बलता और सबलता, परम्परा और जातीयता, संस्कृति और सामाजिकता के साथ, वर्ग-भेद-जन्य शोषण, अत्याचार और उनके विरुद्ध जीवन-संघर्ष के सुख-दुख(आघात-प्रतिघातों एवं उत्थान-पतन के विविध रूप में चित्रित हुए हैं।

निष्कर्ष

प्रेमचन्द हिन्दी-जगत् के पहले उपन्यासकार को जिन्होंने अपनी अधिकांश कृतियों के कथानक का विषय ग्राम्य-जीवन से चुना था। ग्राम जीवन के चित्रण में उनके व्यापक जीवनानुभव का सक्रिय योगदान था। यह ग्राम समाज प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिस प्रमाणिकता के साथ चित्रित हुआ है, नगर कथा उसी रूप में नहीं। ग्राम जीवन का चित्रण करते समय प्रेमचन्द उसके हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, उत्साह-निराशा आदि जीवन के दोनों पक्षों का प्रमाणिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। महाजनी प्रथा और ऋण की समस्या से भारत के गांव प्रेमचन्द के उपन्यासों में बहुत आतंकित दिखाये गये हैं। ऋण की समस्या से मुक्ति दिलाने में अंग्रेजी साम्राज्यवाद कोई भूमिका नहीं निभाता। ऐसा लगता है प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारत के गाँव जमीन्दार और उनके कारिन्दों के असीमित शोषण के लिए खुला मैदान है। “वरदान”, “प्रेमाश्रम”, “रंगभूमि”, “कर्मभूमि” और “गोदान” में भारत के गांवों की समस्याएँ व्यापक रूप से आकार ग्रहण कर सकी है। विशेषतः “प्रेमाश्रम” और “गोदान” में प्रेमचन्द

किसानों की सजगता और शोषण तन्त्र की अमानवीयता का बड़ा प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द ग्राम समाज को वाणी देने के लिए ही हिन्दी उपन्यास के उस आरंभिक दौर में आविर्भूत हुए थे। उनकी अपनी जो एक दृष्टि थी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी की, उसके अन्तर्गत गांव अपनी विसंगतियों और विशेषताओं में खुलकर सामने आए। दूसरे शब्दों में ग्राम समाज प्रेमचन्द की लेखनी से हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में भरपूर गौरवान्वित हुआ अथवा यह कहना चाहिए कि प्रेमचन्द की लेखनी ग्राम समाज को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित कर धन्य हो गई।

संदर्भ-संकेत

1. प्रो. राजेश शर्मा, गोदान : समीक्षा पृ० 3
2. शिव नारायण श्रीवास्तव : “हिन्दी - उपन्यास” पृ० 101
3. कुमकुम राय : प्रेमचन्द और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में ग्राम्य जीवन और संस्कृति पृ० 61
4. वरदान - प्रेमचन्द पृ० 70.
5. वरदान - प्रेमचन्द पृ० 74
6. डॉ० सरोज प्रसाद - “प्रेमचन्द के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिफलन” पृ० 276
7. वरदान, प्रेमचन्द पृ० 77
8. वही, पृ० 78
9. प्रेमचन्द और गोर्की - पृ० 81
10. डॉ० सरोज प्रसाद - “प्रेमचन्द के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिफलन” - पृ० 131
11. प्रेमाश्रम; पृ० 142
12. प्रेमाश्रम; पृ० 382
13. वही; पृ० 382
14. प्रेमचन्द, पृ० 69
15. कमल का सिपाही, पृ० 15
16. वही, पृ० 19
17. कायाकल्प, पृ० 349
18. कर्मभूमि, पृ० 12
19. गोदान, पृ० 12
20. गोदान, पृ० 371

‘सबसे बड़ा छल’ में ग्रामीण यथार्थ

डॉ० अशोक कुमार सिन्हा

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा, बिहार

‘सबसे बड़ा छल’ ग्रामीण यथार्थ-बोध की एक सशस्त रचना है। इसमें उपन्यासकार मधुकर सिंह ने ग्रामीण परिवेश में घटित होने वाले समस्त प्रसंगों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। गांव में अमीर एवं गरीब दोनों वर्गों के लोग होते हैं। इस उपन्यास में अमीर वर्ग के लोगों में चौधरी बेला सिंह राजा बाबू, मुकुन्द देव और बिट्ठल बाबा हैं। गरीब वर्ग में देवनाथ सिंह, बुराई सिंह, रामदेव महतो, बलदेव, हरिवंश, रग्थू आदि हैं। चौधरी बेला सिंह गांव का सबसे धनी एवं प्रभावशाली व्यक्ति है। उनके पास बारह सौ एकड़ जमीन है। बी.डी.ओ. की गाड़ी बराबर उसके यहां लगी रहती है। उसके राय-विचार से ही गांव में सरकारी योजनाएं कार्यान्वित होती हैं। थाने में भी उसकी पहुंच है। वह हाथी पर सवार होकर चलता है। उसका बहनोई राजा बाबू प्रतिष्ठित जमींदार एवं सुराजी हैं। राजा बाबू के कारण लोग चौधरी को भी सुराजी समझने लगते हैं। राजा बाबू सुराजी हैं, पर उन्हें जमीन से बहुत मोह है। वे अपनी जमीन गरीबों को देने के लिए तैयार नहीं हैं। ऐसे ही जमींदार पर व्यंग्य-प्रहार करते हुए ‘नागार्जुन’ लिखते हैं-

जमींदार हैं, साहूकार हैं, बनिया हैं, व्यापारी हैं,

अंदर-अंदर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी हैं।¹

चौधरी बेला सिंह एक अत्याचारी व्यक्ति है। एक बार गांव के ही एक गरीब आदमी की बेटी को दिन-दहाड़े चौधरी ने उठवा लिया। बेटी के मां-बाप डर से किसी से कुछ कह नहीं रहे थे। उन्होंने यही समझ लिया, बेटी मर गई है, रो-कलपकर चुप्पी लगा गए।² यह बात सुराजी रामदेव महतो तक पहुंचती है। वह जयप्रकाश नारायण आदि स्वतंत्रता सेनानियों के साथ जेल में रह चुका है। वह कई बार जेल जा चुका है और स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के कारण कुल सात साल की सजा काट चुका है। चौधरी द्वारा लड़की उठा लेने की घटना सुनकर उसका खून खौन उठा। उसने कहीं से बेंत लिया और चौधरी की हवेली में घुस गया। चौधरी मसनद से लगे थे और चोबदार हाथ-पैर दबा रहे थे। बस, रामदेव ने वगैर कुछ पूछे चौधरी को बेंत लगाना शुरू कर दिया और इतना मारा कि चौधरी का सारा शरीर फूट गया। सचमुच चौधरी ने रामदेव के पैर पकड़ लिये थे, मगर रामदेव बोला- ‘हैण्डनोट के जितने भी कागज तुम्हारे पास हैं उन्हें लाओ और नाथू चमार की बेटी को फौरन हाजिर करो।’ बाद में जिन-जिन लोगों के हैण्डनोट थे उन्हें बुलाया और सबके सामने आग लगाते हुए बोला- आज से तुम कर्जखोर नहीं हो।³ और दण्ड में उसने चौधरी की नाक काट ली। नाक कट जाने के कारण चौधरी की आवाज हास्यास्पद हो गयी। समय-समय पर लोग उसका मजाक उड़ाने लगे। एक स्थल देखिये- ‘चौधरी की कटी हुई नाक और घनघनाती आवाज को स्मरण कर बूढ़े भले चुप हों, मगर नौजवान मुस्कुरा रहे थे। बिलर और जगेसरा तो ठहाका लगाकर हंस रहे थे, जैसे रंडी की जगह चौधरी का नाच हो। जगेसरा को यह मजाक सूझा कि चौधरी तो भिखारी ठाकुर के नाच में बहुत अच्छा जोकर बन सकते हैं।’⁴ इस पर भी चौधरी का अत्याचार कम नहीं है। वह गरीबों को जमीन से बेदखल कर देता है और घर से भी बेदखल कर देने की धमकी देता है। ऐसे ही जमींदार के बारे में ‘नागार्जुन’ लिखते हैं-

लूट मचाई, रेप किया है
 कल्ल किया है, यह खूनी है
 देखो फिर भी इन ससुरों की
 चर्चा कैसी दिन दूनी है।
 भूमिहरण बर्दाश्त कर गये
 चुप्पी साथी मार-पीट पर
 गुस्सा तब भड़का बहुओं की
 इज्जत जब लूटी घसीट करा।⁵

चौधरी बेला सिंह एक प्रपंची व्यक्ति हैं। वह गांव के वातावरण को अशांत किये हुए है। गांव के लड़ाई-झगड़े, मार-पीट, एक-दूसरे से घृणा एवं गंदी राजनीति, इन सबों की जड़ में यही व्यक्ति होता है। इसके कारण गांव के लोग भयभीत रहते हैं। लोग डरे रहते हैं कि पता नहीं कब मुसीबत आ जाये। लोग डर से उसे मालिक या सरकार कहते हैं। इसके संबंध में देवनाथ सिंह ठीक कहता है- 'यहां चौधरी बेला सिंह का फन्दा ऐसा है कि कोई भी निर्दोष या गरीब यहां टिक नहीं सकता। मुसहरों, हरिजनों को जला ही रहे हैं, बांकी लोगो को आपस में लड़ाकर समाप्त कर देंगे।'⁶ चौधरी चालाकी से देवनाथ सिंह को अपने जाल में फंसा लेता है। उसे 'चौधरी बेला सिंह सेना (बीएसएस) का कप्तान बना देता है। वह अपनी बन्दूक से बुराई सिंह की हत्या कर देता है और उसके इशारे पर पुलिस देवनाथ सिंह को पकड़कर थाने ले जाती है। मुकुन्द देव वहां का एम.ए.एल. है। चौधरी बेला सिंह, मुकुन्द देव और बिट्ठल बाबा बराबर बैठकर बातें किया करते हैं। ये लोग सुराजी रामदेव महतो के लड़के बलदेव को डकैत कहते हैं। मुकुन्द देव धरना-प्रदर्शन में भाग लेते हैं। अखबारों में वक्तव्य देते हैं और विधान सभा में प्रश्न पूछने की तैयारी करते हैं। ये व्यस्त दीखते हैं और चौधरी से इनकी निकटता है।

बिट्ठल बाबा गांव का सम्पन्न व्यक्ति हैं। उसका बड़ा बेटा पुलिस विभाग, पटना में बड़ा बाबू है, मझला सचिवालय में और दो घर पर गृहस्थी में है। उसके पास लगभग पचास एकड़ जमीन है। वह रामनामी चादर ओढ़े रहता है और चन्दन का टीका लगाता है। बिट्ठल बाबा एक खुराफाती आदमी है। गांव में घूम-घूमकर झगड़ा लगाना, गंदी राजनीति करना और चौधरी साहब के प्रपंचों में रहना उसका काम है। उसके दरवाजे पर जात वाले लोग जमा होते हैं और गंदी राजनीति की योजनाएं बननी शुरू हो जाती है। चुनाव के समय उसकी जाति के लोग उसके दरवाजे पर जमा होते हैं। जब पंचायत शुरू हुई तो लोगों ने उसके हाथों में तुलसी-दल और गंगाजल थमा दिया और कसम दिलाई कि आज से जात के लिए सब कुछ करेगा। बिट्ठल बाबा घोर जातिवादी व्यक्ति है। गांव की निम्न जातियों के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त रूखा है। उसका कहना है कि 'जो जात सामने खाट पर बैठने की हिम्मत नहीं करती है, उसे चुनाव में जिताकर हम उल्टा काम क्यों कर रहे हैं? बलदेव अगर मुखिया हो गया तो क्या उसका सम्मान करना नहीं पड़ेगा? चुनाव के दिन जो भी चमार-दुसाध, बढई, लुहार, मियां, कहार हैं, सबके घर में जंजीर चढ़ा दो। जो भी बलदेव के लिए वोट मांगने की हिम्मत करे उसका सिर उतार लो। चौधरी साहब ऐसे ही कड़े वचनों से बिट्ठल बाबा को मान देते हैं और अपने साथ घण्टे, दो घण्टे तक बिठाए रहते हैं।'⁷

गांव में देवनाथ सिंह अपने चाचा हरिवंश के झगड़े एवं बेईमानी से परेशान है। बिट्ठल बाबा उसे झूठे मुकदमे करने की सलाह देते हुए कहता है कि हरिवंश पर फौजदारी मुकदमा कर दो कि उसने घर की दीवार तोड़ दी है और पत्नी को भाले से मारा है। पर देवनाथ इसके लिए तैयार नहीं होता है। बिट्ठल बाबा गलत बातों का प्रचार करने में अत्यन्त निपुण है। चौधरी अपनी बन्दूक से बुराई सिंह की हत्या कर देता है। बिट्ठल बाबा सारा गांव घूमकर प्रचार कर आता है कि यह करतूत रामदेव महतो के बेटे बलदेव की है। 'बिट्ठल बाबा की इस मुरादी से गांव और भी अशांत हो गया। जो डरा हुआ नहीं था वह भी डर से कांपने लगा। गरीब और कमजोर लोगों को आशंका है कि पुलिस आई तो पहले उन्हीं को पकड़कर ले जाएगी।'⁸

गांव में गरीब परिवार के लोगों की संख्या अधिक है। उपन्यास का प्रमुख पात्र देवनाथ सिंह गरीब परिवार से ही हैं। उपन्यास का आरंभ और अंत इसी के प्रसंगों से होता है। उपन्यास के आरंभ में वह कलकत्ते में यूनियन के प्रभावशाली नेता के रूप में हैं। उसकी पत्नी गांव में रहती है। गांव की समस्याओं और चाचा के झगड़ों से ऊबकर वह अकेली औरत बार-बार पत्र लिखती है। देवनाथ सिंह गरीबी से निकला हुआ व्यक्ति है। वह घर का गहना बेचकर कलकत्ता आया था। कलकत्ता में वह दरबानी का नौकरी ढूँढने लगा, फिर फैक्टरी में नौकरी की और यूनियन का मंत्री बन गया। अच्छा पैसा अर्जित किया, सम्मान इतना कि फैक्टरी में पहुंचते ही मैनेजर से लेकर मजदूर तक उसकी ओर ही टकटकी लगाये रहते। तीन हजार मजदूर उसके साथ थे। सबों के बोनस, मंहगाई भत्ता, छटनी, मालिक के साथ विवाद सभी का समाधान उसे ही करना था। गांव के बारे में वह सोचता है- 'अब कौन खेती की तरफ ताकता है। सब लोग तो शहर की ओर भाग गए हैं और होशियार लोगों के शहर में बड़े-बड़े बिजनेस हैं, सिनेमा घर हैं, ट्रक और बसें चलती हैं। गांव के तमाम जमींदार अमीर-उमराव तो शहर बस गए हैं। गांव में सिवा बीमारी, जहालत, भूख, कलह, छल-प्रपंच और मारपीट के अलावा क्या है? जिधर ताको गरीबी और भूख।'⁹ देवनाथ सिंह महसूस करता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी गांवों की समस्याओं का समाधान नहीं हो सका है। वह कहता है- 'लोग तो आजादी के बीस साल बाद भी उसी आदिम गुफा में जी रहे हैं। स्वतंत्रता के बीस साल बाद भी जिन्होंने प्रखंड कार्यालय के बाहर कुछ भी नहीं समझा है और प्रखण्डों का दायरा है- चुनाव, मार-मीट, झूठ, लफ्फाजी और गलत राजनीति।'¹⁰ इस स्थल पर 'अज्ञेय' की निम्न पंक्तियों का स्मरण हो जाता है-

आजादी के बीस बरस से
बीस बरस की आजादी से,
तुम्हें कुछ भी नहीं मिला
मिली सिर्फ आजादी॥

देवनाथ गांव जाना नहीं चाहता है पर बार-बार पत्नी की चिट्ठी और चाचा के झगड़े की कथा से ऊबकर वह गांव चल देता है। गांव आने के बाद उसे पता चलता है कि चाचा लोगों की नियत यह है कि वह कलकत्ता चला जाय और उसका सारा खेत एवं घर हड़प लिया जाय। लाठी और भाले के जोर से जमीन से बेदखल कर दिया जाय। इसी उद्देश्य से बांसवाड़ा के पीछे वाली जमीन उसके चाचा जोत लेते हैं। देवनाथ सिंह शांति से काम लेना चाहता है। वह चाचा से कहता है कि आप ही हमें बतला दीजिए कि मेरी जमीन कहां-कहां है? इस पर चाचा गुस्से से भर उठते हैं और उनका लड़का भाला निकाल लेता है। चाचा कहते हैं कि मुझे जब-जब याद पड़ता जायेगा, खेत दखल करता

जाऊंगा। फिर वे झूठ का सहारा लेते हुए कहते हैं कि तुम्हारे बाप ने हमसे दो हजार रुपये लिये थे, वह मिल जाना चाहिए नहीं तो खून बहेगा। अंत में देवनाथ सिंह पंचायत बुलाता है। दो बार पंचायत होती है, और चाचा हर फैसले को नकारते जाते हैं। देवनाथ अब चौधरी साहब के यहां जाता है। चौधरी कहते हैं कि उसे 'किसान संघ' की मदद करनी पड़ेगी। वे उसे उलझाते-बहलाते हुए उससे अपना काम निकालने लगते हैं। देवनाथ अपने खेत में सरकारी योजना की मदद से नलकूप लगाने की योजना बनाता है। उसके चाचा हरिवंश छल का सहारा लेते हैं। वे समझाते हैं कि वह उनका अपना है। सभी मिल कर रहेंगे। नलकूप उसके खेत में लगवा दे, और बाद में खेत बदली कर उसे दे देंगे। नलकूप चाचा के खेत में लग जाता है और चाचा आज-कल करते-करते वादा से मुकर जाते हैं। देवनाथ सिंह, चौधरी के यहां जाता है। चौधरी उसे सान्त्वना देता है और उससे अपना काम निकालने लगता है। उसे चौधरी बेला सिंह सेना (बी.एस.एस.) का कप्तान बना देता है, जिसका काम गरीबों पर अत्याचार करना है। बी.एस.एस. की बन्दूक से चौधरी गांव के बुराई सिंह की हत्या कर देता है और इधर पुलिस देवनाथ सिंह को पकड़कर थाना लेकर चली जाती है।

उपन्यास के अन्य पात्रों में बुराई सिंह कम्युनिस्ट विचारधारा का है। उसका कहना है कि चौधरी को अपनी जमीन गांव के गरीब लोगों के बीच बांट देनी चाहिए। धनी वर्ग का जुल्म एवं शोषण नहीं चलेगा। यह समाज में समानता का हिमायती है। रामधारी सिंह 'दिनकर' भी लिखते हैं-

शांति नहीं तबतक, जबतक,
सुख-भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो॥

बी० रसेल का भी कहना है कि हम अपने सुख के लिए दूसरे को सुख से वंचित करते हैं, जबकि मनुष्य की शांति एवं प्रसन्नता दूसरे के ऐक्य पर निर्भर है- "That it is not by making others suffer that we shall achieve our own happiness, but that happiness and the means to happiness depend upon harmony with other man."¹² देवनाथ सिंह समाज में असमानता का विरोधी है। वह देखता है कि चौधरी ने गरीबों की जमीन पर कब्जा कर रखा है, और गरीब दाने-दाने के लिए मुंहताज हैं। वह भूमिहीन संघ बनाकर क्रांति पर उतारु हो जाता है। वह चौधरी के खेत में लगी धान की फसल को कटवा देता है। वह देवनाथ सिंह से कहता है कि इस चौधरी ने गांव के गरीब दुसाध-चमार की झोपड़ियों को उजाड़ कर इन्हें बेदखल कर दिया है। ये अपना हक ही तो फसल के रूप में काट रहे हैं। हम इस पर हल चलवायेंगे। गोपाल सिंह 'नेपाली' भी शोषितों-दलितों के हक की बात करते हैं-

सामाजिक पापों के सिर पर चढ़कर बोलेगा अब खतरा,
बोलेगा पतितों-दलितों के गरम लहू का कतरा-कतरा।
.....
पतित-दलित मस्तक ऊंचाकर संघर्षों की कथा कहेंगे,
और मनुज के लिए मनुज के द्वार खुले के खुले रहेंगे॥¹³

संघर्ष और क्रांति से ही व्यवस्था में परिवर्तन होता है। वैषम्य को दूर करने के लिए, अपने अधिकार के लिए क्रांतिकारी कदम उठाना ही पड़ता है। 'नीलकुसुम' में दिनकर भी कहते हैं-

कहीं दूध के बिना तरसती मानव की संतान
 कहीं क्षार के मटके खाली करते जाते श्वान।
 कहीं बसन रेशम के रास्ते, मंहगी कहीं लंगोटी
 कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी
 इस समाज की एक दवा है, आग और क्रांति! शांति!¹⁴

बुटन सिंह की क्रांतिकारी विचारधारा के साथ गांव का बलदेव भी है। बलदेव स्वतंत्रता सेनानी रामदेव महतो का पुत्र है, और जुल्म एवं शोषण के विरुद्ध है।

गांव में पुलिस की स्थिति का भी चित्रण है। पुलिस का काम कानून की रक्षा करना है। लोगों को अत्याचार, शोषण एवं जुल्म से बचाना है। अपराधियों को पकड़ना है। शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना उसका फर्ज है। पर पुलिस इसके विपरीत करती है। चौधरी बेला सिंह, हरिजन बस्ती में आग लगवा देता है। इस पर पुलिस कहती है- 'मुसहरों के घर रोज जलते हैं। पुलिस कहां-कहां दौड़ती चले। साले सब इसी तरह जल-भुनकर मर जायेंगे। जब तक युद्ध महामारी या ऐसी कोई घटना नहीं हो, तब तक हिन्दुस्तान की आबादी घटेगी कैसे? मुसहर-तुसहर, चमार-दुसाध सुअरों की तरह बच्चे देते हैं। वे जब किसी काम के नहीं हैं तो मरना ही चाहिए। थाना की इसमें कोई दिलचस्पी नहीं। लोग सिर पटकते रह गये, पुलिस नहीं आई। उल्टे दारोगा ने धमकी दी कि अगर फिर आए तो पकड़कर हाजत में बन्द कर देंगे। जादू-मन्त्र से आग लग गई तो उसमें पुलिस क्या करेगी?'¹⁵ गांव के लोगों की धारणा है कि पुलिस भ्रष्ट होती है। घूस लेना और लोगों को परेशान करना उसका काम है। तभी तो गांव के लोग देवनाथ सिंह को समझाते हैं- 'सांप के विष का और पुलिस की घूस का कोई अन्त नहीं होता।' (पृ. 22)

प्रेमचंदकृत 'गोदान' उपन्यास में भी पुलिस का यही चरित्र दिखलाई पड़ता है। होरी की गाय मरने के बाद पुलिस आती है और होरी को परेशान कर देती है। धनिया के तेवर के कारण होरी घूस नहीं दे पाता है, पर पुलिस गांव के अन्य लोगों से घूस लेकर ही जाती है। वहां की स्थिति का चित्रण प्रेमचंद इस प्रकार करते हैं- 'दारोगा जी ने कठोर स्वर में कहा- यह खुशामद फिर कीजिएगा। इस वक्त तो मुझे पचास रुपये दिलवाइए, नकद और यह समझ लो कि आनाकानी की तो मैं तुम चोरों के घर की तलाशी लूंगा। ... तुमने अभी अन्धे नहीं देखा। कहो तो वह भी दिखा दूं। एक-एक को पांच-पांच साल के लिए भेजवा दूं। ये मेरे बांये हाथ का खेल है। डाके में सारे गांव को काला पानी भेजवा सकता हूं।'¹⁶ पुलिस की कार्यशैली पर नागार्जुन भी लिखते हैं-

मरो भूख से झट आ धमकेगा थानेदार,
 लिखवा लेगा तुमसे, वह तो था बीमार।¹⁷

गांव के निम्न वर्ग में खैनी, गांजा आदि का प्रचलन रहता है। उपन्यास में प्रसंगानुकूल इसके भी दृश्य आये हैं। कलकत्ता से गांव आने के बाद देवनाथ सिंह को एक व्यक्ति राय देता है कि दरवाजे पर खैनी-गांजा रखोगे तो लोग आयेंगे और पूछ बढेगी।

इस उपन्यास में गांव में व्याप्त छल, कपट, धूर्तता, अत्याचार को दिखलाया गया है। देवनाथ सिंह के साथ उसका चाचा हरिवंश छल करता है। उसके बासबाड़ी के पास वाला खेत जोत लेता है। कहने

पर उल्टे दो हजार रुपये देने के लिए कहता है। छल से ही वह नलकूप अपना लेता है। चौधरी बेला सिंह छल-प्रपंच से ही बारह सौ एकड़ के मालिक बन बैठे हैं। विरोध करने पर छल से बुटक सिंह की हत्या कर देते हैं। हरिजन की बस्ती में आग लगा देते हैं और छल-प्रपंच से मामला दबा देते हैं। बिट्टल बाबा छल के ही सहारे जीते हैं। ग्रामीण परिवेश में बड़े एवं दुष्ट लोगों का छल, भोले-भाले ग्रामीणों के बीच फलता-फूलता रहता है। उपन्यासकार की दृष्टि में यह चिंता का विषय है।

मधुकर सिंह अपने जीवन-संघर्ष की कथा में इस उपन्यास को अपनी आत्मकथा कहते हैं। देवनाथ सिंह के जीवन का संघर्ष मधुकर सिंह के जीवन से काफी मेल खाता है। उपन्यास में देवनाथ सिंह कलकत्ते से गांव की ओर अग्रसर होता है। मधुकर सिंह का तो जन्म ही कलकत्ते में हुआ। काफी समय कलकत्ते में रहने के बाद ये गांव में रहने लगे। सरकार की 'हरित क्रांति' योजना के अन्तर्गत मधुकर सिंह ने नलकूप लगाया और चाचा लोगों ने इन्हें परेशान किया। उन्हीं के शब्दों में- 'चाचाओं के खूंखार पंजे मुझे दबोचने के लिए बड़ी तेजी से खुल गये। टोले वाले और चाचाओं की धरती मेरे नलकूप से सालों भर हरी-भरी रहती, मेरा ही खेत पानी के लिए तरसता रहा है। मुझे कर्ज लेकर पक्की नाली बनवानी पड़ी, चाचाओं का ऐसा ही आदेश था। कुछ जमीनें इसी दौर में रेहन रखनी पड़ी, जो अभी तक लौटाई नहीं जा सकी है।'¹⁸

इस उपन्यास में देवनाथ सिंह 'हरित क्रांति' योजना के अन्तर्गत नलकूप लगवाता है और उसका चाचा हरिवंश छल से उस पर अधिकार कर लेता है। देवनाथ सिंह पूरी जिंदगी चाचा के लड़ाई-झगड़े से परेशान रहता है। उसका चाचा कहता है- 'मेरी याद धीरे-धीरे खुलती है। अभी कैसे बता दूं कि तुम्हारा बाप कितना बड़ा बेईमान था।' (पृ. 21) मधुकर सिंह के भी चाचा का कहना है- 'तुम्हारा बाप शैतान था। उसने मुझसे बेईमानी की थी। उसका बदला मैं तुमसे लूंगा। चाचा की खूंखार और बेईमान आदतों से पत्नी, मां और बच्चे सभी डरे रहते हैं।'¹⁹ गांव के लोग खैनी-गांजा आदि का व्यवहार खूब करते हैं। मधुकर सिंह का भी परिवार इससे आहत हुआ। मधुकर सिंह के दादा गांजा पीते थे। इस प्रसंग का उल्लेख वे इस प्रकार करते हैं- 'जो भी दो-तीन एकड़ जमीन थी, वह मेरे दादा ने गांजा पीने के लिए गांव के अमीर सामंतों के यहां गिरवी रख दी थी, और बंगाल स्थित मिदनापुर जिले के किसी मारवाड़ी के यहां दरबानी की नौकरी करने लगे थे।'²⁰ दरबानी का प्रसंग आया तो उपन्यास में देवनाथ सिंह कलकत्ता में पहले दरबानी की ही नौकरी ढूंढता है। फिर फैक्टरी में नौकरी करते हुए यूनियन का नेता बन जाता है। वह कम्युनिस्ट विचारधारा का है और मजदूरों की लड़ाई लड़ता है। मधुकर सिंह भी काफी समय तक कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े रहे। इनकी रचनाओं में शोषितों के प्रति सहानुभूति स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है। वस्तुतः 'सबसे बड़ा छल' उपन्यास में मधुकर सिंह के जीवन, परिवार, गांव एवं आस-पास के वातावरण को सहज ही ढूंढा जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की शोध पत्रिका, अप्रैल 2011, पृ. 180 से उद्धृत।
2. मधुकर सिंह, सबसे बड़ा छल, पृ. 30
3. वही, पृ. 70
4. वही, पृ. 70
5. नागार्जुन, चुनी हुई कविताएं, पृ. 231
6. मधुकर सिंह, सबसे बड़ा छल, पृ. 80

7. वही, पृ. 36
8. वही, पृ. 85
9. वही, पृ. 13-14
10. वही, पृ. 16
11. रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, पृ. 29
12. बी. रसेल, न्यू होप्स फॉर ए चेंजिंग वर्ल्ड, पृ. 17
13. गोपाल सिंह 'नेपाली', नवीन, पृ. 24
14. रामधारी सिंह 'दिनकर', नीलकुसुम (हिमालय का संदेश), पृ. 93
15. मधुकर सिंह, सबसे बड़ा छल, पृ. 77
16. प्रेमचंद, गोदान, पृ. 97-98
17. परिषद् पत्रिका, पटना, अप्रैल 2011 से उद्धृत।
18. मधुकर सिंह, भाई का जखम (स्वयं से गुजरते हुए), पृ. 6
19. वही, पृ. 8
20. वही, पृ. 5

प्रसादयुगीन भारतीय राजनैतिक परिवेश और 'चंद्रगुप्त'

संजीव शर्मा

शोधार्थी, पीएच०डी०, दिल्ली विश्वविद्यालय

ऐतिहासिक नाटक के लेखक के समक्ष इतिहास की तथ्यात्मकता और अपनी कल्पनाशीलता के द्वंद्व की समस्या प्रायः उपस्थित होती है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्व-बोध के कारण, इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में इतिहास के अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ना अनिवार्य हो जाता है। अतीत और वर्तमान की यह निरंतरता ऐतिहासिक नाटकों की कसौटी होती है। ऐसे में नाटककार को इतिहास की घटनाओं और पात्रों का ऐसा चित्रण करना होता है कि उनमें वर्तमान ध्वनित हो। एक ऐतिहासिक नाटककार होने के कारण जयशंकर प्रसाद ने अपने वर्तमान समय के प्रश्नों को इतिहास के द्वारा हल करने का प्रयत्न किया। सत्येंद्र कुमार तनेजा के अनुसार - “प्रसाद ने वर्तमान के तीव्र दबाव के कारण ही अतीत की इतनी खोज की।”

हिंदी साहित्य में प्रसाद और भारतीय राजनीति में गाँधी का आगमन लगभग एक ही समय हुआ था। इस समय प्रथम विश्व-युद्ध प्रारंभ हो चुका था। महात्मा गाँधी जैसे नेताओं ने इस युद्ध में अंग्रेजों का समर्थन यह सोचते हुए किया - “बिना किसी शर्त के और पूरे हृदय से अंग्रेज सरकार से (लड़ाई जीतने में) सहयोग करना हमें जितना शीघ्र अपने लक्ष्य के समीप पहुँचा देगा, उतना अन्य कोई उपाय नहीं है। इसे मैं एक आदरणीय महत्वाकांक्षा मानता हूँ कि हम साम्राज्य के लिए लड़कर अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त करें।”² परंतु विश्व-युद्ध में विजय के बाद अंग्रेजों ने भारत में रौलट-एक्ट लगा दिया। देश भर में इसका विरोध हुआ। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में प्रदर्शन कर रही भीड़ पर जनरल डायर ने गोलियाँ चलवाकर हजारों निहत्थों को मरवा दिया।

इसी बीच खिलाफत आंदोलन के कारण हिंदु-मुस्लिम एकता कायम हुई। गाँधी ने उचित समय को देखकर 1920 में असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया। परंतु 4 फरवरी 1922 के चौरी-चौरा कांड के कारण विवादास्पद फैसला लेते हुए गाँधी ने असहयोग आंदोलन स्थगित कर दिया। सुभाष-नेहरू जैसे युवा नेताओं ने इस फैसले पर अपना रोष प्रकट किया। सन् 1922 के कांग्रेस अधिवेशन में कौंसिल-प्रवेश को लेकर कांग्रेस में मतभेद हुआ। जिसके कारण मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास ने ‘स्वराज्य पार्टी’ की स्थापना कर कौंसिलों में प्रवेश किया। कुछ वर्षों के उपरान्त ही चितरंजन दास की मृत्यु के साथ ही ‘स्वराज्य पार्टी’ की भी मृत्यु हो गयी। इसी बीच देश में हिंदु-मुस्लिम दंगे भी होने लगे। इस अवसर का लाभ उठाने आहत, पीड़ित, परास्त देश को अपने नृशंसतापूर्ण कार्यों द्वारा और भी गहरी चोट पहुँचाने के लिए अंग्रेजों ने वैधानिक सुधारों के नाम पर साईमन कमीशन नियुक्त किया। समस्त राष्ट्र ने साईमन का स्वागत हड़तालों द्वारा किया। साईमन-विरोध के इसी क्रम में पुलिस द्वारा लाठियों के निर्मम प्रहार के कारण लाला लाजपत राय शहीद हो गए। इस घटना के कारण देश भर में क्रांतिकारी घटनाएँ होने लगीं। दिसंबर 1929 को रावी के तट पर जवाहर लाल नेहरू ने भारत के स्वतंत्र होने की घोषणा ‘स्वराज्य’ को ‘स्वाधीनता’ से जोड़कर किया। 26 जनवरी 1930 को संपूर्ण राष्ट्र में स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया। इसके लिए घोषणापत्र प्रस्तुत हुआ - “हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्र की भाँति अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपने

परिश्रम का फल हम स्वयं भोगे और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हो जिससे हमें भी विकास का पुरा मौका मिले। ... अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से संबंध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।”³ 12 मार्च सन् 1930 से महात्मा गाँधी का ऐतिहासिक दांडी मार्च प्रारंभ हुआ। समस्त भारतवर्ष में इस यात्रा के बहाने अंग्रेजों का नृशंस दमन प्रारंभ हो गया। 12 नवंबर 1930 को प्रथम गोलमेज सम्मेलन असफल हुआ। एक बार फिर से संपूर्ण भारतवर्ष में गहरी निराशा छा गई।

प्रसाद की अंतश्चेतना का विकास इसी स्वाधीनता संग्राम के दौरान हुआ। प्रसाद को गंभीरता के साथ यह अनुभूत हुआ कि भारत की पराधीनता राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दोनों स्तरों पर है। इस विषय पर माधुरी सुबोध का कहना है - “वास्तव में वे इतिहास - कथाओं के माध्यम से संकुचित प्रांतीयता और सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर आर्यावर्त को ऊँचा उठाने के लिए कृत-संकल्प दिखाई देते हैं। पराधीनता के कारण हताश जाति पर शासकों द्वारा डाले गए मनोवैज्ञानिक दबाव से ऊपर उठाने के लिए इतिहास को एक उपकरण की तरह इस्तेमाल करते दिखाई देते हैं।”⁴ प्रसाद इतिहास को प्रदर्शनी की बजाए अपने गहरे जीवनानुभव के फलस्वरूप गतिशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उनके नाटकीय पात्रों की व्यक्तिगत वेदना, राग-विराग, उत्साह-निराशा संपूर्ण भारतीय जाति की कहानी बनकर समूचे राष्ट्र के अतीत का रूप धारण कर लेती है। वस्तुतः इस प्रकार का चित्रण वर्तमान के प्रति एक संवेदनशील रचनाकार की दृष्ट्यात्मक प्रतिक्रिया बनकर प्रस्तुत होती है। श्री महेश आनंद जी प्रसाद के कालखंड पर विचार व्यक्त करते हुए आगे कहते हैं - “प्रसाद का युग राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण का काल है। अंग्रेजी शासकों की दमन-नीति के विरोध में उन्होंने जो उद्बोधन संगीत दिया उसमें वह राष्ट्रीय और व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा के मूल्यों को प्रतिष्ठित करते हैं। वे मूल्य प्रसाद के समय तक सीमित न रहकर किसी भी निरंकुश या विघटनशील राष्ट्र में रहने वाले समाज और मनुष्य के बीच पैदा होने वाले मूलभूत प्रश्नों को उभारते हैं।”⁵

इस प्रकार अपने समय की राजनैतिक स्थितियों से प्रेरित होकर भारतीय जनता को स्वाधीनता-संग्राम में विशाल मात्रा में सम्मिलित करने के लिए प्रसाद ने ‘स्कंदगुप्त’ और ‘चंद्रगुप्त’ की रचना की। विदेशी शासन का विरोध एवं स्वराज्य-स्थापन इन दोनों ही नाटकों का प्रमुख स्वर कहा जा सकता है। उपरोक्त दोनों ही नाटकों में सत्ता और शक्ति संतुलन की चेष्टा का धरातल दो प्रकार से चलता है - विदेशी आक्रमण का विरोध और स्वराज्य-संगठन। इस पर माधुरी सुबोध का कथन उचित जान पड़ता है - “बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध देश की रक्षा चंद्रगुप्त, सिंहरेण और पर्वतश्वर तलवार उठाकर करते हैं तो चाणक्य के स्वराज्य गठन की चेष्टा भी बाहरी आक्रमण के विरुद्ध देश को सशक्त बनाने के लिए ही है।”⁶

चंद्रगुप्त नाटक के कथानक पर ध्यान दे तो ईसा पूर्व 325 के आस-पास की घटनाओं एवं प्रसाद-युग की घटनाओं में अनेक साम्यता विद्यमान है। डॉ. राजमणि शर्मा उपरोक्त दोनों काल खंडों की तुलना करते हुए सर्वप्रथम ‘चंद्रगुप्त’ नाटक के उद्देश्य पर अपना विचार व्यक्त करते हैं - “नंदवंश के अत्याचार को मिटाकर मौर्य-साम्राज्य की स्थापना करना तथा विभिन्न देशी-नरेशों की फूट को मिटाकर राष्ट्रीयता का भाव जगाना इस नाटक का प्रधान उद्देश्य है।”⁷ इसके बाद शर्मा जी प्रसाद-युग एवं नंद-युग दोनों के शासन की तुलना करते हुए आगे कहते हैं - “जिस प्रकार नंद का शासन अत्याचार और विलास का शासन था, जिस प्रकार भारतीय नरेशों की आपसी फूट के कारण संकट भरा भारत के कुछ भाग में घूस आया; उसी प्रकार आपसी मनोमोलिन्य के कारण प्रसादयुगीन विदेशी शासक भी देश के भीतर घूस आने में सफल हुआ। बाह्य-शत्रु और अत्याचार को मिटाने

के लिए संपूर्ण राष्ट्र को उसी प्रकार एक होने की आवश्यकता है, जिस प्रकार 'चंद्रगुप्त' नाटक में अंत तक सिंहरण, पौरव, आंधीक आदि एक हो जाते हैं।⁸ स्पष्ट है कि सिकंदर के चित्रण से प्रसाद एक ओर विदेशी शासकों से भारतीयों को मुक्त कराना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर अत्याचारी एवं निरंकुश नंद के चित्रण द्वारा तत्कालीन भारतीय रजवाड़ों एवं सामंतों से जनता को मुक्ति का मार्ग दिखलाते हैं। नाटक में नंद के परिणाम को देखकर निश्चय ही भारतीयों को अन्यायी सरकार के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। इस प्रकार इस नाटक में राष्ट्रीयता का स्वर प्रमुख हो उठता है। जिस प्रकार 'चंद्रगुप्त' नाटक में मालव-क्षुद्रक आदि के साथ संगठित होकर चंद्रगुप्त-चाणक्य ने सिकंदर और सिल्यूकस को भारत से बाहर निकाल दिया; उसी प्रकार प्रसाद चाहते थे कि भारत के देशी रजवाड़े की जनता और शेष भारत एकजुट होकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाल दे।

नंदकालीन भारत और 1930-31 के अंग्रेज शासित भारत दोनों की राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र का विचार है - "चंद्रगुप्त ठीक उसी वर्ष (1931) प्रकाशित हुआ था, जिस वर्ष शहीद-सम्राट चंद्रशेखर आजाद और उनके प्रमुख क्रांति शिष्य शहीद आजम भगत सिंह ने राष्ट्र की वेदी पर प्राणाहुति दी थी, प्रखर देशभक्त गणेश शंकर विद्यार्थी हिंदु-मुस्लिम एकता के पावन कर्म पर चलते हुए अमर हुतात्मा बने थे, लौह-पुरुष सरदार पटेल की अध्यक्षता में ऐतिहासिक कराची कांग्रेस हुई भी। इन संदर्भों में पुरातन में नूतन का अतिपरक समावेश हो जाना नितांत उद्देग-जनक भी नहीं है।"⁹ इस प्रकार प्रसाद का अतीत सीधे वर्तमान से आकर जुड़ जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि मात्र इतिहास को उकेरने में ही नहीं है। ध्यात्व है कि प्रसाद ने जो भी आख्यान लिए हैं वे भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग से संबंधित हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की ओर दृष्टि देने पर प्रसाद की रचनाएँ क्रांतिकारियों में नैतिक-बल तथा गौरव की भावना भरती दिखती है।

चंद्रगुप्त का कथानक ही राष्ट्रीयता की भावना को अभिव्यक्त करता है। 'चंद्रगुप्त' का कथानक मात्र विदेशी आक्रांता के नतमस्तक होने को ही नहीं वरन् भारतीय स्वाधीनता को भी प्रतिबिंबित करता है। प्रसाद ने नाटक में मौर्यकाल को लिया क्योंकि यह वही काल है जब विश्व विजेता सिकंदर ने भारतीय विजय का स्वप्न देखा और भारतीयों की एकजुटता के कारण पराजित हुआ। इस प्रकार प्रसाद ने अपने युग की आवश्यकता को जाना और पहचाना था। उनमें इतिहास एवं समय की सही पकड़ थी और शायद इसीलिए इतिहास वर्तमान को प्रतिबिंबित करने का माध्यम बनकर उभरा है। चंद्रगुप्तकालीन भारत की राजनैतिक स्थिति पर हम पूर्व प्रकरण में चर्चा कर चुके हैं।

यह वह समय था जब भारत पर सिकंदर का आक्रमण हो रहा था। भारतीय राज्य आपसी द्वेष के कारण विश्रृंखलित थे। भारतीय जनता एक ओर विदेशी आक्रमण से आक्रांत थी, दूसरी ओर नंद जैसे शक्तिशाली परंतु अत्याचारी शासक के कारण त्रस्त थी। पश्चिमोत्तर सीमा पर सिकंदर का अधिपत्य स्थापित हो रहा था। अब वह मगध की ओर बढ़ रहा था। ऐसे में भारतीय जनता अपनी मुक्ति, अपनी स्वतंत्रता के लिए तड़प रही थी। 'चंद्रगुप्त' नाटक में भारतीयों की मुक्ति का यह प्रयास दो स्तरों पर दर्शित होता है - (1) सिकंदर के विदेशी शासन एवं आक्रमण से मुक्ति (2) अत्याचारी नंद एवं कायर आंधीक के शासन से मुक्ति। इस नाटक में भारतीय जनता की तत्कालीन कारुणिक दशा तथा उसके कारणों का वर्णन करते हुए, चंद्रगुप्त अलका से कहता है - "बंदी सारा देश है राजकुमारी, दारुण द्वेष से सब जकड़े हैं।"¹⁰ दूसरी ओर चाणक्य ग्रीक आक्रमण एवं राज्य स्थापन से विचलित था। वह यवन आक्रमणकारियों को उनकी लूट-खसोट के कारण दस्यु समझता था। वह ग्रीकों की बर्बरता एवं भारतीयों की हीन दशा के बारे में आंधीक को आगाह करते हुए कहता है -

“इसी से दस्यु और मलेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य-जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।”¹¹ आभीक द्वेष एवं लोभ के कारण चाणक्य की इस चेतावनी को अनसुना कर, उसका अपमान कर देता है।

चाणक्य अपनी गंभीरता एवं राष्ट्र-भक्ति के कारण इस अपमान को बर्दाश्त कर लेता है। चंद्रगुप्त एवं सिंहरेण को वह प्रांतीयता एवं जातीयता से ऊपर उठाकर राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाकर भारत के भावी संकट से अवगत कराता है – “मगध और मालव को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा क्या तुम नहीं देखते कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनंतर दूसरे विजेता से पददलित होंगे?”¹² राष्ट्र की मुक्ति की आकांक्षा अकेले चाणक्य के ही हृदय में नहीं पल रही थी। चंद्रगुप्त एवं सिंहरेण सहित अनेक भारतीयों की यही हार्दिक इच्छा थी। चंद्रगुप्त भारतीयों की राष्ट्र-मुक्ति की बलवती इच्छा को व्यक्त करते हुए चाणक्य को आश्वस्त करना चाहता है – “गुरुदेव, विश्वास रखिए, यह सब नहीं होने पावेगा। यह चंद्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।”¹³

चंद्रगुप्त के उपरोक्त आश्वासन के बाद भी चाणक्य शांत नहीं रह पाता। वह जानता है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हालांकि पर्वतेश्वर अकेले सिकंदर से युद्ध करने की तैयारी कर रहा है। फिर भी चाणक्य को ज्ञात है कि जब तक समस्त भारत, विशेषकर मगध (नंद) की शक्तिशाली सेना पर्वतेश्वर की सहायता नहीं करेगी, पर्वतेश्वर जीत नहीं पायेगा। फलस्वरूप चाणक्य नंद को सिकंदर के साथ युद्ध में पर्वतेश्वर की सहायता करने का सुझाव प्रदान करता है – “यवनों की विकटवाहिनी निषध-पर्वतमाला तक पहुंच गई है – तक्षशिला की भी उसमें अभिसंधि है। संभवतः समस्त आर्यावर्त पदाक्रांत होगा। उत्तरापथ में बहुत छोटे-छोटे गणतंत्र हैं, वे उस सम्मिलित पारसिक यवन-बल को रोकने में असमर्थ होंगे। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है, इसलिए मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिए।”¹⁴ परंतु अपने व्यक्तिगत द्वेष के कारण नंद, चाणक्य की सलाह न मानकर उसका अपमान कर देता है। ऐसे में चाणक्य नंद को राज्य करने के अयोग्य ठहराकर योग्य शासक के हाथ में मगध की सत्ता का हस्तांतरण होने की भविष्यवाणी करता है – “सावधान नंद! तुम्हारी धर्मांधता से प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी, उसमें नंद-वंश समूल उखड़ेगा। नियति-सुंदरी के भवों में बल पड़ने लगा है। समय आ गया है कि शुद्र राजसिंहासन से हटाए जाएँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हो।”¹⁵

इधर गांधार में आभीक द्वारा सिकंदर की सहायता करने के कारण अलका अकेले विद्रोह करने की सोचती है। वह स्पष्ट शब्दों में अपने पिता को कहती है – “गांधार में विद्रोह मचाऊँगी।”¹⁶ नंद से हताश एवं अपमानित होकर भी चाणक्य हिम्मत नहीं हारता। वह अन्य भारतीय राजाओं को सिकंदर के विरुद्ध संगठित करने का अनवरत प्रयास करता है। ऐसे में एक ठहराव की स्थिति आ जाती है। सिकंदर भारतीय राजनीति के इस ठहराव की ओर संकेत कर कहता है – “विजय करने की इच्छा क्लान्ति से मिटती जा रही है। हम तो इतने बड़े आक्रमण के समारंभ में लगे हैं और यह देश जैसे सोया हुआ है, लड़ना जैसे इनके जीवन का उद्देगजनक अंश नहीं।”¹⁷ सिकंदर भारतीयों के जिस ठहराव को ‘सोया हुआ’ समझ रहा था, वह तो तूफान आने के पूर्व की शांति थी। पर्वतेश्वर के रूप में सिकंदर को भारतीयों का प्रत्युत्तर इन शब्दों में प्राप्त होता है – “उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं।”¹⁸

इसमें कोई शक नहीं कि प्रारंभ में पर्वतेश्वर अपने उपरोक्त शब्दों की मर्यादा अदम्य वीरता के साथ रखता है। परंतु बाद में वह अपनी बात पर कायम नहीं रह पाता। वह सिकंदर से संधि कर लेता है। ऐसे में चंद्रगुप्त रणभूमि में ही उसे संधि से रोकने का प्रयत्न करता है - “पंचनद-नरेश! आप क्या कर रहे हैं! समस्त मागध सेना आपकी प्रतीक्षा में है, युद्ध होने दीजिए।”¹⁹ पर्वतेश्वर चंद्रगुप्त की बात नहीं मानता। उसके इस कृत्य से कल्याणी खिन्न होकर उसकी भर्त्सना करती है। अब चंद्रगुप्त और कल्याणी अपने ही बल पर सिकंदर से लड़ने का प्रयास करते हैं। वे ऐसा प्रदर्शन सिकंदर की सेना के सामने करना चाहते हैं कि ग्रीक सेना मागध पहुँचने से पहले ही भयभीत हो जाए।

चाणक्य की कुटनीति और सिंहरण के अथक प्रयास के कारण क्षुद्रकों एवं मालवों की सम्मिलित सेना, चंद्रगुप्त को अपना सेनापति बनाने पर सहर्ष तैयार हो जाती है। इस प्रकार यवन-सेना को भारत से बाहर खदेड़ने का पुनः प्रयास चंद्रगुप्त और सिंहरण के द्वारा होने लगता है। चंद्रगुप्त को इस गुरुभार का बोध था वह सिंहरण से कहता है- “मालव, हम लोगों ने भयानक दायित्व उठाया है, इसका निर्वाह करना होगा।

सिंहरण - जीवन-मरण से खेलते हुए करेंगे वीरवर।

चंद्रगुप्त - यही, कि हमें आक्रमणकारी यवनों को यहाँ से हटाना है, और उन्हें जिस प्रकार हो, भारतीय सीमा के बाहर करना है।²⁰

अंततः नाटक में भारतीयों की मुक्ति की लालसा एवं उसके क्रियान्वयन हेतु प्रचंड प्रयास के कारण सिकंदर की हार होती है और वह भारत से लौट जाता है।

मात्र सिकंदर की सेना के भारत से चले जाने से ही भारतीय जनता मुक्त नहीं हो गई थी। मागध एवं गांधार जैसे राज्यों पर अयोग्य राजाओं (नंद-आंधीक) के रूप में जनता के आंतरिक शत्रु अभी भी विद्यमान थे। एक ओर जहाँ मागध पर ग्रीक-आक्रमण के बादल छाए थे, वहीं नंद को सुरा-सुंदरी से फुर्सत न थी। नंद की हालत यह थी कि वह सुंदरियों के कुटिल कटाक्षों को ब्रह्मास्त्रों से भी अधिक घातक समझता था - “तू नहीं जानता कि मैं ब्रह्मास्त्र से अधिक इन सुंदरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ।”²¹ जिस राज्य का राजा सुंदरियों से इतना डरता हो, उसके राज्य की क्या स्थिति होगी इस पर विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

ऐसी स्थिति में प्रजा की खोज, उसके सुख-दुख की चिंता कौन करेगा? चाणक्य के समक्ष यही मुख्य प्रश्न था - “क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था? मागध! मागध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असंभव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा - नहीं तो नाश ही करूँगा।”²² पूर्वोक्त कथन के आलोक में चाणक्य के समक्ष दो रास्ते - सृजनात्मक एवं विध्वंसात्मक थे। चाणक्य पुनः सृजन का चुनाव करता है। वह नंद को अंतिम चेतावनी देता है, ताकि अभी भी नंद सचेत हो जाए - “सावधान नंद! तुम्हारी धर्माधता से प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी, उसमें नंद-वंश समूल उखड़ेगा।”²³

चाणक्य पर्वतेश्वर से मागध के पुनः निर्माण हेतु सहायता माँगता है। प्रारंभ में पर्वतेश्वर इंकार कर देता है। चंद्रगुप्त की वीरता को देखकर बाद में चाणक्य की बात मान लेता है। किसी भी अत्याचारी शासक के अंत के लिए यह आवश्यक है कि जनता की सहायता प्राप्त किया जाए। मागध की जनता स्वयं नंद के शासन से मुक्त होना चाहती थी। वहाँ के नागरिक नंद के अत्याचारी शासन की तुलना ‘वेण और कंस’ से करते हुए कहते हैं - “वेण और कंस का शासन क्या दूसरे प्रकार का रहा

होगा।”²⁴ मगध की जनता नंद के कुशासन एवं भेदनीति को समझ गई थी - “महापद्म का जारज-पुत्र नंद केवल शस्त्र-बल और कूट-नीति के द्वारा सदाचारों के सिर पर तांडव-नृत्य कर रहा है। वह सिद्धांत-विहीन, नृशंस, कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेदनीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है।”²⁵ यहाँ प्रसाद ने दर्शाने का प्रयत्न किया है कि ऐसे सिद्धांत विहीन शासकों के लिए धर्म अपनी सत्ता को बचाये रखने का एक माध्यम मात्र होता है। चाणक्य, शकटार, चंद्रगुप्त आदि मगध की जनता के समक्ष नंद की इस हकीकत को सामने लाकर नंद को सत्ता-च्युत कर स्वराज्य की स्थापना करते हैं।

मगध में चाणक्य और चंद्रगुप्त द्वारा स्वराज्य स्थापन के बाद वे भारत के अन्य भागों को भी शोषण-मुक्त कराना चाहते थे। सिल्यूकस के रूप में यवन आक्रमणकारी एक बार फिर भारत पर कब्जा करने के लिए आ गए थे। अलका गांधार के नागरिकों को ग्रीकों का सामना करने के लिए प्रेरित करती है। उसे चिंता है कि कहीं इस बार भी आंभीक आक्रमणकारियों से हाथ ना मिला ले - “तक्षशिला के वीर नागरिकों! एक बार अभी-अभी सम्राट चंद्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था - आर्यावर्त प्यारा देश ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पद-दलित हाने जा रहा है। तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पूण्यभूमि को परतंत्रता की श्रृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखें से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है, और तुम?”²⁶ नागरिकों में अलका के इस ललकार की अनुकूल प्रतिक्रिया होती है। वे राष्ट्र की मुक्ति के लिए तैयार हो जाते हैं। अलका उन्हें उद्बोधन गीत देती है - “हिमादि तुंग श्रृंग से.....।”²⁷

अंततः आंभीक भी यवनों से लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। वह अपना राज्य अलका को सौंप कर एक सैनिक मात्र बन जाता है। वह चाणक्य से कहता है - “सब स्वीकार है, ब्राह्मण! मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र में एक सैनिक होना चाहता हूँ - और कुछ नहीं।”²⁸

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि चंद्रगुप्त नाटक में तत्कालीन भारतीय जनता विदेशी शासन एवं निरंकुश-अत्याचारी देशी शासकों से मुक्त होने के लिए अथक प्रयास करती है। सिंहरण, अलका, कल्याणी, पर्वतेश्वर तथा चंद्रगुप्त के नेतृत्व में भारतीय जनता अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करती है। चाणक्य स्वराज्य की प्राप्ति एवं उसके उचित परिचालन हेतु निरंतर प्रयासरत रहता है।

संदर्भ ग्रन्थसूची

- 1 प्रसाद : साहित्य-सर्जना के आयाम : सं. डॉ. माधुरी सुबोध, पृष्ठ 187
- 2 प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय भावना : डॉ. विद्या खंडेलवाल, पृष्ठ 48 से उद्धृत
- 3 वही, पृष्ठ-52
- 4 प्रसाद : साहित्य-सर्जना के आयाम : सं. डॉ. माधुरी सुबोध, पृष्ठ 267
- 5 वही, पृष्ठ-257
- 6 वही, पृष्ठ-278
- 7 प्रसाद का गद्य साहित्य : डॉ. राजमणि शर्मा, पृष्ठ 50
- 8 वही, पृष्ठ-50
- 9 प्रसाद : आलोचनात्मक सर्वेक्षण : डॉ. रामदरश मिश्र, पृष्ठ 161
- 10 चंद्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 83
- 11 वही, पृष्ठ-40

- 12 वही, पृष्ठ-42
- 13 वही, पृष्ठ-42
- 14 वही, पृष्ठ-54
- 15 वही, पृष्ठ-55
- 16 वही, पृष्ठ-64
- 17 वही, पृष्ठ-75
- 18 वही, पृष्ठ-84
- 19 वही, पृष्ठ-85
- 20 वही, पृष्ठ-97
- 21 वही, पृष्ठ-44
- 22 वही, पृष्ठ-48
- 23 वही, पृष्ठ-55
- 24 वही, पृष्ठ-123
- 25 वही, पृष्ठ-51
- 26 वही, पृष्ठ-143
- 27 वही, पृष्ठ-144
- 28 वही, पृष्ठ-144

नई कविता के परिप्रेक्ष्य में गिरिजा कुमार माथुर का काव्य

विजयश्री कश्यप

शोधार्थी, पटना विश्वविद्यालय, पटना

हिन्दी की आधुनिक काव्य धारा में प्रथम “तार सप्तक” एक क्रांति का संवाहक ग्रंथ माना जाता है। अज्ञेय ने सात प्रयोग धर्मी कवियों की कविताओं के इस संग्रह में जो ई० 1943 को प्रकाशित हुआ में गिरिजा कुमार माथुर को विशेष स्थान दिया। तार सप्तक में संकलन के आधार पर कुछ समीक्षक उन्हें प्रयोगवादी काव्य धारा से संपृक्त करते हैं लेकिन वास्तव में माथुर किसी वाद या परम्परा की सीमाओं से बहुत आगे हैं। माथुर जी के कवि संस्कारों पर डा० कैलाश बाजपेयी की टिप्पणी भी उल्लेखनीय है, “ऐसे भी कवि होते हैं, जिन्हें किसी काल की धारा-विशेष से बांधा ही नहीं जा सकता वे वादी नहीं होते और किसी एक ही विधा में सीमित रहकर काव्य रचना उनके लिए असम्भव होता है.....। वे आगे लिखते हैं- “वे भविष्य जीवी होते हैं, इसलिए उनका वर्तमान उपेक्षित रह जाता है।”

तार सप्तक की कविताएँ जहाँ मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए युगीन यथार्थ से सीधा साक्षात्कार करती हैं। इन कविताओं में चित्रों और रंगों की योजना भी दर्शनीय है। विषय वस्तु तथा टेक्नीक से संवर्धित उनकी कविता सम्पूर्णता में व्यंजित होती है। “कुतुब के खंडहर” कविता में वातावरण चित्रण का यह मनोरम दृश्य दर्शनीय है।

सेमल की गरमीली हल्की रूई समान

जाड़ो की धूप खिली नीले आसमान में²

गिरिजा कुमार माथुर का काव्य जीवन का सच्चा दस्तावेज है। मंजीर से लेकर “मुझे और अभी कहना है तक यदि माथुर के काव्य जीवन का विश्लेषण करे तो उनके काव्य कर्म की मौलिकता को समझा जा सकता है। माथुर जी ने जब अपना कवि कर्म आरंभ किया तब उन्होंने उस समय की कविता के परम्परागत प्रतिमानों से हटकर शुद्ध मानवीय आदर्श और सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की। नेमिचन्द्र जैन ने इस वस्तुस्थिति को इस प्रकार बयां किया- “जो कुछ भी यथार्थ है सच्चा है, ईमानदारी की उपज है और हमारी भावसम्पदा को अधिक समृद्ध बनाता है, वह किसी भी शिल्प में, किसी भी पीढ़ी के कवि से क्यों न प्राप्त हो, हमारा उत्तराधिकार है और अपना है। इसलिए सुविधादायक नारों और लेबिलों से मुक्त करके कविता को अपने वास्तविक प्रकृत रूप में प्रतिष्ठा देना आज अत्यंत ही आवश्यक है।³

रघुवीर सहाय माथुर से बेहद प्रभावित रहे थे। उन्हीं के शब्दों में- “माथुर के कुछ सफल और असफल रंगों ने कवि को अपनी थोड़ी बहुत सामर्थ्य का बोध कराया और तब से अपनी कला के प्रति सजग होकर लिखने की कोशिश की।”⁴

गिरिजा कुमार माथुर के जीवन का कर्मक्षेत्र दिल्ली, लखनऊ जैसे महानगर के अतिरिक्त अन्तराष्ट्रीय महानगरों की यात्राएँ उनके काव्य में अपना अपना प्रभाव छोड़ती हैं। इसलिए उन की दृष्टि व्यक्ति और समाज के प्रति अधिक यथार्थपरक हो गई है। ग्रामीण परिवेश में माथुर ने गरीब

किसानों की दयनीय स्थिति को अत्यंत निकट से देखा ज्ञातव्य हो माथुर जी ग्रामीण संस्कारों से जुड़े थे और सम्भवतः इसी कारण उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी-

भूख की मनहूस छाया
जबकि भोजन सामने हो,
आदमी हो ठीकरे सा
जबकि साधन सामने हो।
धन वनस्पति भरे जंगल
और यह जीवन भिखारी,
शाप नल का घूमता है
भोथरे हैं हल कुल्हाड़ी।⁵

गिरिजा कुमार माथुर जहाँ भूख की मनहूस छाया का चित्रण करते हैं वहीं सहाय जी अप्रतिम आशा से भर यह कहते हैं

जितनी बूँदें
उतने ही जौ के दाने होंगे,
इस आशा में चुपचाप गाँव यह
चौपालों बंगलों में बैठे भीग रहा है खड़े खड़े।
चौपालों बँगलों में बैठे
जन देख रहे जल का गिरना
चिड़िया चुनगुन से टुकुर-टुकुर।⁶

ग्रामीण गरीबी के अतिरिक्त नगरीय परिवेश में साधारण मध्यवर्गीय जीवन में अभावों और विषमताओं का चित्रण भी नई कविता के अन्य कवियों ने बखूबी किया है। माथुर की “नाश और निर्माण” में उनकी कविता मशीन का पुर्जा नगरीय जीवन में धनिक एवं अल्प आय के लोगों के जीवन स्तर को प्रकट करने के साथ ‘क्लर्क’ के जीवन संघर्ष का यथार्थ चित्र सामने रखती है। जीवन की सरसता और संवेदना किस तरह गरीबी के कारण समाप्त हो गई है।

सारा नगर लिहाफों में पड़ा सोता है,
पर वह मजबूरी से कांपता उठ आया है।

-- -- -- --

रफू किया उसका वह स्वेटर
तीन सर्दियाँ देख चुका है,
उसका जीवन, जीवनहीन मशीन बन गया
जाड़ों के दिन की मिठास अब जहर हुई है।

रघुवीर सहाय के काव्य में यह संवेदना का स्तर और गहरा होता जाता है।

स्त्री मर गई एक छोटे-छोटे बच्चे छोड़कर
और इस घटना को इस अधेड़ उम्र में देखकर,
बच्चों की रोटी के सोच में पड़ गया मेरा मन
कितना आसान था प्रेम छोड़ पैसे की शरण में आ जाना।

प्रेम जो समाज में न्याय की लड़ाई है
पैसा जो सिर्फ है मुआवजा मौत का।

यहाँ स्त्री के मर जाने पर अनाथ बच्चों को रोटी देने की पीड़ा और मरने के एवज में मिलने वाला मुआवजा सब एक अजीब सी संवेदना का तार बुनने लगते हैं।

महानगरीय जीवन की कुंठा, संत्रास, भाग दौड़, निराशा उन के काव्य में उपजीव्य बनी है। वर्तमान समाज में मूल्यों का विघटन इतनी तेजी से हुआ है कि सामाजिक रिश्ते भी काफी बदल गए हैं। गाँवों में भी किसान और मजदूर पिस रहे हैं। सामाजिक समस्याएँ बढ़ गई हैं। जीवन यापन में अभाव बढ़ने लगा है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति में भ्रष्टाचार, जातिवाद तथा अनेक कुरीतियों ने अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया है। जनता के सपने धीरे-धीरे बिखरने एवं टूटने लगे हैं। घुटन और संत्रास, तनाव और असंतोष सब बढ़ने लगा है। तभी तो गिरिजा कुमार माथुर कहते हैं—

राजनीति शब्द है,
लोकतंत्र शब्द है,
समाजवाद शब्द है,
अफसर और बाबू बीच घपले पड़ा शब्द है
बीच में टपक पड़ा जातिवाद
नए भाड़ भूना।⁷

रघुवीर सहाय ने इस विडम्बना को कुछ इस तरह दिखाया है। जहाँ मतदाता की विवशता की विडम्बना के साथ प्रकट हो जाती है—

देश की व्यवस्था का विराट वैभव
व्याप्त है चारों ओर
एक कोने में दुबक ही तो सकता हूँ
सब लोग जो कुछ रचाते हैं उसमें
केवल अपना मत नहीं दे ही तो सकता हूँ
वह मैं करता हूँ
किसी ने नहीं डरता हूँ
अपने आप और बेकार।

राजनीतिक अवसरवाद का हाल यह है कि विरोधी दल की सरकार बन जाने पर उसमें शामिल होने के लिए पहले वाले शासक दल का महामंत्री धड़ाधड़ जनवादीवादों की घोषणा किए जा रहा है—

गाकर सुनाता है
जनवादीवादों की घोषणा
महामंत्री जनता के लिए नहीं
वह विरोधियों को प्रमाण दे रहा है
कि मैं दलबदल के लिए योग्य व्यक्ति हूँ।

गिरिजा कुमार माथुर एवं नई कविता के कवियों ने युगबोध के तीक्ष्ण स्वरों को न केवल पहचाना है बल्कि करुणा की आँखों से देखकर एक नया विद्रोही तेवर भी खड़ा किया। स्वतंत्रता के साथ करोड़ों भारतीयों की महत्वाकांक्षाएँ जुड़ी थीं। भारतीय जनमानस ने आशाएँ लगा रखी थीं कि अब

भुखमरी, गरीबी, शोषण तथा बेरोजगारी जैसी समस्याओं का अन्त हो जायगा। परन्तु देश विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे तथा भ्रष्ट राजनेताओं की स्वार्थ वृत्ति के कारण विकास का स्वप्न अभी स्वप्न ही था इस पर 1962 में चीन का आक्रमण तथा 1965 में पाकिस्तान का आक्रमण नई नई आजादी के उल्लास को फीका कर गए। गरीबी और बेरोजगारी के साथ-साथ कमर तोड़ महंगाई ने एक “मंगलमय स्वतंत्र भारत” का स्वप्न भंग कर दिया था। जैसा हर युग में होता आ रहा है कि कवि भी युगीन भावों से प्रभावित हुआ वैयक्तिक स्वप्न भंग कवि ने कहीं आक्रोश और कहीं कारुणिक ढंग से इनका सजीव चित्र प्रस्तुत करता है।

गिरिजा कुमार माथुर ने इस सन्दर्भ में कहा- यह कटुता उस स्वप्न भंग से उपजी है जिसे कविता से लेकर हर प्रबुद्ध व्यक्ति ने पिछले 20-25 वर्षों में भोगा है। लेकिन जिन चुनौतियों ने एक तीव्र, उत्तप्त भाव बोध आरंभ में पैदा किया था वह बुझने लगा और उसके स्थान पर “स्वप्न के धीरे-धीरे टूटने, जिन्दगी के पंगु होते जाने और सामाजिक व्यक्ति के रूप में आदमी की विवशता की भावना नयी कविता पर छाने लगी।”⁸

रघुवीर सहाय ने इसे “दिल्ली मेरा परदेस” की ‘भूमिका’ में स्वयं स्वीकारा भी है-

मेरे जैसे कई लेखकों के लिए, जो अजादी के वर्ष 1947 में लिखना शुरू कर चुके थे, उसके बाद के करीब दस वर्ष एक तरह के उत्साह के वर्ष थे। उत्साह सब में था पर हम कुछ अलग ही थे। हम लोग राष्ट्र के नाम पर स्थापित किए जाने वाले हर किस्म के दकिया नूसीपन को आलोचना बिना भय के कर सकते थे। हमें अस्पष्ट सही, विश्वास था कि राष्ट्र को हम ही बना रहे हैं, हमसे पिछली पीढ़ी के लोग तो केवल- कालक्रम के संयोग से अधिकारी स्थानों पर हैं, उनकी सृजनशक्ति क्षय हो रही है और वे एक नए राष्ट्र की रचना का संकल्प सिर्फ दोहरा रहे हैं। हम इसके विपरीत प्रयोग कर रहे हैं, दुनिया को और अपने देश को समझ रहे हैं और कुछ नई प्रतीतियाँ और संवेदनाएँ विकसित कर रहे हैं जो आगे रचनात्मक शक्तियों के काम आएंगी।⁹

इस तरह नई कविता के अन्य कवियों की तरह माथुर ने तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का यथातथ्य वर्णन अपने काव्य में किया है। गिरिजा कुमार माथुर की ‘साक्षी रहे वर्तमान में वक्त के हैं सामने, धूप के धान’ आदि काव्य संग्रहों में देखी जा सकती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में राजनेताओं के व्यवहार में व्यापक परिवर्तन आया। देश-प्रेम तथा लोकहित के स्थान पर अब स्वार्थ तथा भाई-भतीजावाद की भावना प्रधान हो गई। किसी अखबार में नेता के खिलाफ छपी खबरों पर नेता के व्यवहार का व्यंग्य चित्र दर्शनीय होता है-

नेता बहुत चिंतित था
गोलघर से उतरते
मोटा चेहरा भरभराया था
हर बात पर इस वक्त
वह नाराज था
चिड़चिड़ाया था
किसी अखबार में छपी थीं
कुछ सच्ची सतर्कें
उसके खिलाफ पड़ती थीं।¹⁰

रघुवीर सहाय ने वर्तमान व्यवस्था के मनुष्य विरोधी दुहरे चरित्र को नंगा करने की लगातार कोशिश की है तथा लोकतंत्र के नाम पर लोकतांत्रिक संस्थाओं और उपकरणों को भ्रष्ट करने वाले जनप्रतिनिधि के अश्लील चरित्र का खोखलापन उधाड़ते हुए उस पर प्रहार किया है-

सिंहासन ऊँचा है, समाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाएँ बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे- विविध प्रकार के
हल्की सी दुर्गंध से भर गया है समाकक्ष
सुनो वहाँ कहता है
मेरा प्रतिनिधि
मेरी हत्या की करुण कथा
हंसती है सभा
तोंद मटका
ठठा कर
अकेले अपराजित सदस्य की व्यथा पर
फिर मेरी मृत्यु से डर कर चिंचिया कर
कहती है
अशिव है अशोमन है मिथ्या है।¹¹

देश और समूचे विश्व की वर्तमान अव्यवस्था, अशांति और मौलिकवादी विचारधारा को देखकर कवि का मन चीत्कार कर उठता है। दुनिया की इन समस्त विकृतियों को देखकर संसार के सत्तासीन नियामकों तथा व्यवस्थापकों से चुनौतिपूर्ण प्रश्न करते हुए कवि कहता है।

क्या यही वह दुनिया है
जिसे रचने हम आये थे
वह सत्य हैं कहां
जिसे कहा दफना हम आए थे।¹²

रघुवीर सहाय भी इस वैश्विक एवं राष्ट्रीय घटनाक्रमों से बेहद आहत होते हुए कहते हैं-

यह मैं क्यों कहता हूँ?
क्योंकि आज ताकतवर धरती निचोड़ कर दौलत बढ़ाएँगे
और उसे इस तरह बाँटेंगे कि हर समय
उनको गरीबी की जगह मिलती रहे
ऐसे मानवीयता बची रहे पृथ्वी पर
हर समय एक नई क्रूरता पैदा होती रहे
जैसे एक मौसम बना कर पकाया हुआ बेफसल फलफूल।
इस झूठे करुणामय मन को धिक्कार है
वह दुख ही सच्चा है जो हमने झेला है।¹³

गरीब व्यक्ति का निरंतर गरीब होते जाना और अमीर का अमीर यह उनका समाजवादी मन स्वीकार नहीं कर पाता। उन्होंने अभिजात वर्ग पर ऊँगली उठाते हुए कहा था।

हम ही क्यों यह तकलीफ उठाते जाएँ
दुःख देने वाले दुख दें और हमारे
उस दुख के गौरव की कविताएँ गाएँ
यह है अभिजात तरीके की मक्कारी
इसमें सब दुख हैं, केवल यही नहीं है
अपमान, अकेलापन, फाका, बीमारी।¹⁴

‘साक्षी रहे वर्तमान’ में गिरिजा कुमार माथुर ने शिष्ट ढंग से सामाजिक अन्तर्विरोधों को अकवितावादी शैली में व्यक्त किया है। सामान्य आदमी को कवि ने पेट और लिंगी कहते हुए तथा ऊँचे लोगों को शोषण की प्रवृत्ति के कारण पंजा या दाँत कहते हुए सामाजिक विडम्बना को उजागर करते हुए कहा है-

दिन-दिन विपन्न होते घर
संडांध के कारखाने हैं
क्योंकि मामूली आदमी
अब सिर्फ पेट है, लिंगी है
और हर ऊँचे चढ़ने वाला आदमी
पंजा है या दाँत है
छुरा है, ब्लैक मेलर दलाल है।¹⁵

माथुरजी ने मध्यवर्गीय समाज में रहते हुए जीवन की कटुता घुटन, संघर्ष, पीड़ा व क्षोभ को स्वयं भोगा है। इसको उन्होंने अपने काव्य में यथार्थ अभिव्यक्ति दी है। आज के मनुष्य का जीवन जीने के लिए आवश्यक साधनों को जुटाने के प्रयास में कठपुतली सा हो गया है। जीवन यापन के संघर्षों से जूझते व्यक्ति की स्थिति मशीन जैसी हो गई है। यथा-

काम धंधे में लगे
तमाम आदमी निकलते हैं
उनमें और कठपुतलियों में
अब कोई फर्क नहीं लगता।¹⁶

मध्यमवर्गीय व्यक्तियों की विडम्बनाओं एवं विसंगतियों को झेलते जाने और इसका विरोध न किए जाने को सहाय जी ने लोगों की कमजोरी मान उसे आड़े हाथों लिया है-

सभी लुजलुजे हैं
मोलतोल करते हैं, हिचकिचाते हैं, मुकर जाते हैं
ऐंठते हैं, बिछ जाते हैं
तपाक से मिलते हैं, कतरा जाते हैं
बीड़ा उठाते हैं, बरा जाते हैं
सभी लुजलुजे हैं
गिजगिज है, गिलगिल हैं।
सभी लुजलुजे हैं।¹⁷

इन्हीं व्यक्तियों का सजीव चित्र जो महानगरीय जीवन की सड़ांध, भागदौड़, आपाधापी और निराशा कुंठा की जागती तस्वीर है दिखाते हुए माथुर ने कहा-

चारों तरफ घूम रहे ज्यादातर
थूकते, काँखते, कराहते, विपन्न
असंतुष्ट, नाराज, आदमी
या इम्पाला कारों में सपाटे लगाते
कैबरे में कीमती डीक उड़ाते खाश आदमी।¹⁸

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. डा० कैलाश बाजपेयी माथुर संस्मरण संकलन यंत्रस्थ पृष्ठ-5
2. गिरिजा कुमार माथुर, तारसप्तक पृष्ठ-132
3. नेमिचन्द्र जैन, बदलते परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ 110
4. दूसरा सप्तक पृष्ठ-138
5. धूप के धान पृष्ठ-98
6. पहला पानी रघुवीर सहाय रचनावली पृष्ठ-44
7. मैं वक्त के हूँ सामने पृष्ठ-17
8. गिरिजा कुमार माथुर नई कविता : सीमाएँ और सभावानें पृष्ठ-143
9. दिल्ली मेरा परदेश पृष्ठ-(2)
10. साक्षी रहे वर्तमान पृष्ठ-37
11. आत्महत्या के विरुद्ध पृष्ठ- 16, 17
12. मैं वक्त के हूँ सामने पृष्ठ-31
13. सच क्या है? रघुवीर सहाय रचनावली पृष्ठ सं० 270
14. हमने यह देखा....., पृष्ठ -66
15. गिरिजा कुमार माथुर साक्षी रहे वर्तमान पृष्ठ-35, 36
16. भीतरी नदी की यात्रा पृष्ठ-68
17. सीढ़ियों पर धूप में रघुवीर सहाय रचनावली पृष्ठ-91, 92
18. साक्षी रहे वर्तमान पृष्ठ-32

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय

काजल कुमारी

शोध छात्रा, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

मानव इतिहास में मनुष्य ने हजारों वर्षों तक आखेटक और खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत किया। लोग हजारों वर्षों तक आखेटक तथा खाद्य संग्राहक का जीवन व्यतीत करने के पश्चात गांवों में बसने लगे और कृषक तथा पशुपालक का जीवन व्यतीत करने लगे। व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने तथा पशुओं के पालतू बनाने के क्रम में मनुष्य गेहूं, जौ, भेड़ तथा बकरी इत्यादि के संपर्क में आया, जिनके पूर्वज तथा प्रजातियां काफी विस्तृत किंतु व्यतिक्रमीत अवस्था में एशिया के ऊपरी क्षेत्रों में तुर्की तथा अफगानिस्तान में फैले थे। इसके अवशेष सबसे पहले दक्षिण एशिया के मेहरगढ़ में (6000 ई.पू.) पाये गये हैं। ऐसी कोई निश्चित अवधि का पता दक्षिण एशिया में नहीं चला है, जिससे यह माना जाय कि इस समय में आखेटक तथा खाद्य संग्राहक की जीवन शैली छोड़कर लोग कृषि तथा पशुपालन करने लगे थे। विभिन्न क्षेत्रों में नवपाषाण युग विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्तरों पर एक विशेष प्रकार के पत्थर और मृद्भांड की तकनीक तथा अलग-अलग तरह के पशुओं के साथ आया। नवपाषाणीय अर्थव्यवस्था स्थानीय पशुओं को पालतू बनाने को उत्सुक नहीं थी। नवपाषाण संस्कृतियाँ जो जेहलम घाटी, गारो तथा उत्तरी चांचर पहाड़ियों में पायी गयी हैं, वे एक अलग तरह की विचित्रता को दर्शाती हैं, जिससे यह लगता है कि इनका शिल्प कलात्मक संबंध इस महाद्वीप के बाहर स्थित संस्कृतियों से रहा है। दूसरी तरफ, उड़ीसा में हमें उत्तर-पूर्व तथा दक्कन पठारी संस्कृतियों का सम्मिश्रण मिलता है। कुछ संस्कृतियों के बारे में हमें सिर्फ तिथिविहीन तथ्यों पर निर्भर रहना पड़ता है और कुछ में हम जैविक तथा जंतुसमूह संबंध के प्रमाण भी उपलब्ध नहीं पाते हैं। कच्छ मैदानी क्षेत्रों की तरह ही विन्ध्य पठार की बेलन घाटी तथा गंगा के मैदानी क्षेत्रों में इलाहाबाद का इलाका काफी महत्वपूर्ण है। यहाँ हमें पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग तथा प्रारंभिक नवपाषाण युग के घटनास्थल एक क्रम में मिले हैं। यहाँ से हमें चावल के अवशेष तथा कूबड़वाले पशुओं के पालतू होने का संकेत भी मिला है।

ताम्रपाषाणिक युग

हमें ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का एक सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पश्चात् मिला है, जो 2,000 ई.पू. की हैं और जो भौगोलिक रूप से उदयपुर के उत्तर-पूर्व में स्थित बनास तथा बेचान दोआब से होते हुये मालवा और पश्चिम महाराष्ट्र में भीमा घाटी तक गयी हैं। कुछ मुख्य स्थानों—दंगवाड़ा तथा उज्जैन के नजदीक कायथा और प्रवारा के पास दायमाबाद का स्तरित शैल विज्ञान पद्धति द्वारा अध्ययन करने पर यह पता चला है कि कायथा संस्कृति के बाद बनास, फिर मालवा और तब जोरवे संस्कृति का विकास हुआ है।

प्रारंभिक लौहावस्था

व्यवस्थित ग्रामीण जीवन शैली के उदय ने जिस तरह विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप लिए, वैसे ही लोहे के प्रयोग ने विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न तरीकों से लोगों की जीवन शैली को प्रभावित किया।

लोहे के प्रयोग की प्राचीनता को जानने के लिए दक्षिणी एशिया के छह प्रमुख क्षेत्रों से एक सर्वेक्षण किया गया, जिससे यह पता चला कि आर्यों के आने और लोहे के प्रयोग से कोई संबंध नहीं है। जिन क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया है, उनसे यह पता चलता है कि यहाँ पर काफी मात्रा में लौह-अयस्क (जो आसानी से पिघलाया जा सकता था) पाया गया है। मालवा क्षेत्र में रेडियो कार्बन पद्धति से पता चला है कि करीब 1100 ई.पू. लोहे का प्रयोग शुरू हो गया था। यह बात इस आधार पर कही गयी है कि मालवा में ताम्रपाषाणिक युग के पश्चात् लौहावस्था आयी थी। प्राप्त साक्ष्य से ज्ञात होता है कि दोनों अवस्थाओं में एक निरंतर संबंध है। मालवा में ताम्रपाषाणिक युग का अंत करीब 1300 ई.पू. का है। प्रथम लोहे के प्रयोग का एक निश्चित स्थान या क्षेत्र खोजना कठिन है, क्योंकि बहुत कम ही रेडियो कार्बन तिथि उपलब्ध हैं। निश्चित रूप से यह बात कही जा सकती है कि किसी एक क्षेत्र-विशेष में लोहे का प्रयोग नहीं हुआ होगा, अपितु कुछ शताब्दियों के अंदर ही बहुत सारे समुदायों ने लोहे का प्रयोग शुरू कर दिया होगा। गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में यह स्पष्ट है कि लोहे के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इन स्थलों पर जनसंख्या का दबाव उत्तरी हड़प्पा की तुलना से ज्यादा था। मगध के राजतंत्रों तथा कोशल और उत्तरी गणराज्यों का उदय ऊपरी लौहावस्था के परिपेक्ष्य में देखा जाता है। 1963 में डी.डी. कौशांबी ने इस बात की घोषणा की थी कि इतने बड़े पैमाने पर जंगलों का काटा जाना तथा कृषि व्यवस्था का गंगा घाटी में अपनाया जाना बिना लोहे के प्रयोग का संभव नहीं हो सकता।

भौगोलिक विस्तार

उत्तर-पश्चिम सीमांत

दो खंडों में यह क्षेत्र बंटा हुआ है। पेशावर तथा तक्षशिला के बीच का क्षेत्र, जिसमें पेशावर घाटी तथा पोतवार के पठार सम्मिलित हैं, और स्वात तथा चित्राल के बीच का क्षेत्र। कोटदीजी से संबंधित जानकारी सरायखोला का नवपाषाणिक स्तर देता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा क्षेत्र तत्कालीन हड़प्पा से व्यापारिक स्तर पर जुड़ा था। अनेक पुरातात्विक स्थान स्वात-छित्रल क्षेत्र में मिले हैं जो यह दर्शाते हैं कि यहाँ के लोग विभिन्न प्रकार की धातु, पत्थर तथा अन्य चीजों का इस्तेमाल करते थे, जिनमें शंख, मूंगा तथा हाथी दांत संभवतः इस क्षेत्र में सिंधु घाटी से आया था। घनीगई का पत्थरनुमा स्थान जो करीब-करीब 3000 ई.पू. का है, स्वात-छित्रल की आधारशिला के बारे में बताता है। “आद्य ऐतिहासिक कब्रिस्तान” 2000 ई.पू. का इस क्षेत्र से प्राप्त है। ऐसे कब्रिस्तानों का प्रमाण तथा संबंधित बस्तियों को “गांधार कब्र संस्कृति” के नाम से जाना जाता है और ये कब्रिस्तान नम्यतापूर्ण तथा कलश स्वरूप (फलेक्सड तथा अर्न) दफन से तथा ताम्रपाषाणिक युग से संबंधित हैं। कई स्थानों पर कब्रिस्तानों तथा संबंधित बस्तियों का अध्ययन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं—अलीग्राम, बीरकोट घुण्दई, लेबनर, खेराटी, लालबटाई, तिमारगढ़, बालाम्बात, कालको-दीरेय तथा जरीफ करुणा जो चित्रल स्वात, दिर, बनर इत्यादि घाटियों में स्थित हैं।

कश्मीर

तीस से अधिक नवपाषाणिक स्थल कश्मीर में पाये गये हैं, जिनमें से ज्यादा बारामूला, अनंतनाग तथा श्रीनगर खंड क्षेत्रों में पाये गये हैं। इसका इतने बड़े क्षेत्रों में फैला होना इस बात की ओर इंगित करता है कि यहाँ की संस्कृति मैदानी क्षेत्रों में पायी गयी संस्कृतियों से भिन्न नहीं है। गुफकराल में कुंडलीनुमा तांबे की बालों की चिमटी तथा बुर्जहोम में कोटदीजी की तरह गोलाकार बर्तन पर

“सिंहनुमा देवी” का चित्रण, कश्मीर और सिंधु सभ्यता के बीच आपसी आदान-प्रदान का प्रमाण है। यह गुफकराल का एकरमिक युग यह बताता है कि इस समय तक छोटे तथा बड़े-बड़े रहने वाले कमरों का निर्माण हो चुका था। छिछला तथा बड़े कमरों का निर्माण पहले के युगों में भी पाया गया है। दो कमरों वाला मकान बाद के युगों में भी मिलता है। चटायीनुमा आधार वाले हाथ से बने हुये भूरे रंग के बर्तन कश्मीर के नवपाषाणिक युग की एक विशेष कृति है। गुफकराल तथा बुर्जहोम में इस प्रकार के बर्तन पाये गये हैं। दो हजार ई.पू. के मध्य तक कश्मीर का नवपाषाणिक युग महापाषाणिक युग में परिवर्तित हो गया था।

लद्दाख तथा अल्मोड़ा

यहाँ से पाये गये स्रोत अनिश्चित हैं, क्योंकि अवशेषों की संख्या कम है तथा उनकी तिथियों में काफी विषमता है। फिर भी इन्हें पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता। ये आंशिक स्तर पर कराकोरम के दोनों भागों के बीच के संबंध को बताते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत तथा कश्मीर के बीच संबंध के संदर्भ में हम हिमालय के प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन कर सकते हैं। हम लद्दाख की क्यारी में पाये गये हस्त निर्मित लाल बर्तनों की तुलना बुर्जहोम के द्वितीय नवपाषाणिक युग के बर्तनों से कर सकते हैं। चार घर तथा भेड़ बकरी आदि पालतू जानवर तीन क्रमिक स्तरों में पाये गये हैं। 1000 ई.पू. इसकी तिथि है। उसी भौगोलिक संरचना में स्थित शैक (क्यारी से 10 किलोमीटर की दूरी पर) से छठी शताब्दी ई.पू. की एक रेडियो कार्बन तिथि पायी गयी है।

उत्तर-पूर्व राजस्थान

जोधपुरा का बड़ा-सा टीला सहीबी नदी के तट पर मिला है, जो ज्ञानेश्वर-जोधपुरा संस्कृति का पहला साक्ष्य है। तीसरी-चौथी शताब्दी ई.पू. का यह टीला लगता है। निदानकारी बर्तन-पहियों से बना, गुलाबी तथा कृत्थई रंगों से उत्कीर्ण चित्रित तथा अन्य विभिन्न आकारों में—ज्ञानेश्वर में पाया गया है जो दिल्ली-जयपुर रेलवे लाइन के छोटे अरावली पहाड़ों में मिला है। काफी मात्रा में तांबे के औजारों विशेषकर तीरों के ज्ञानेश्वर से मिलने के बाद इस संस्कृति पर ध्यान गया, जो यहाँ पर उत्खनन में पायी गयी थीं। ज्ञानेश्वर का पुनः खनन पुरातत्वविदों ने किया और वहाँ काफी संख्या में इस तरह के साक्ष्य (करीब 83 की संख्या में) पाये गये जो उत्तर-पूर्व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों—सिकर, जयपुर तथा चुरू जिलों में स्थित हैं। तांबे के खनन तथा संबंधित कार्यों के कारण उत्तर पूर्व राजस्थान का महत्व है। ज्ञानेश्वर, जो 3 या 4 एकड़ से बड़ा क्षेत्र नहीं है, वहाँ से लगभग 2000 तांबा निर्मित साक्ष्य मिले हैं और जब ऐसे-ऐसे 83 घटनास्थल हों तो वहाँ पर तांबे के इस्तेमाल का अनुमान लगाया जा सकता है।

दक्षिण-पूर्व राजस्थान

पुरातत्वविदों ने दक्षिण पूर्व राजस्थान के तीन ताम्रपाषाणयुगीन क्षेत्रों—अहर, गिलुन्द तथा बलथल—का अध्ययन किया है, जो वहाँ की बनाव, बेरौच तथा उसकी सहयोगी नदियों द्वारा जल प्राप्त करते थे। नब्बे से अधिक अहर या बनाव संस्कृति के स्थलों की संख्या है, जो उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा अजमेर, जयपुर तथा टोंक जिलों में और मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले में पायी गयी हैं। समान रूप से संस्कृतियों की गति दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व गिलुंद राजस्थान की ओर तथा बेरौच एवं बनाव की ओर उन्मुख थी। नदियों के किनारे अहर स्थल स्थित थे, जिनका आकार एक-दो एकड़ से लेकर दस एकड़ तक का था और दो भिन्न स्थलों के बीच की दूरी पांच से दस मील की थी। अहर

संस्कृति की बड़ी विशेषता है-यहाँ के लोग तांबे की धातु-विद्या से परिचित थे। अहर में उपस्थित खनिज उरेहित मनका, लैपिस-लाजुली तथा रंगपुर जैसे आकर्षक लाल बर्तन इस बात को दर्शाते हैं कि इनका संबंध गुजरात स्थित हड़प्पा संस्कृति से रहा होगा। इस संस्कृति का विस्तार, मालवा की तरफ और दक्कन तक (जैसे अहर में महाराष्ट्र का जोरवे बर्तन) भी था। बहुत पहले अहर और गिलुंद की संस्कृतियों का उत्खनन (अहर 1953-54 और गिलुंद 1959-60) हुआ था, किंतु हाल में उत्खनित बलथल (1994-98) ज्यादा साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

References

- Alahakoon, Hector: *The Later Mauryas : 232 BC to 180 BC*, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1980.
- Altekar, A.S.: *State and Government in Ancient India*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1958.
- Benichou, Lucien D. : *From Autocracy to Integration: Political Developments in Hyderabad State*, Chennai, 2000.
- Copleston, Reginald Stephen: *Buddhism : Primitive and Present in Magadha and in Ceylon*, AES, Delhi, 1994.
- David, F.: *The Myth of the Aryan Invasion of India*, New Delhi, Voice of India, 1994.
- Dikshit, D.P. *Political History of the Chalukyas of Badami*. New Delhi: Abhinav, 1980.
- Elst, Koenraad: *Update on the Aryan Invasion Debate*, New Delhi, Aditya Prakashan, 1999.
- Falk, Harry : *Asokan Sites and Artefacts - A Source-book with Bibliography*, Mainz : Philipp von Zabern, 2006.
- Gopal, M. H. : *Mauryan Public Finance*, George Allen & Unwin Ltd, London, 1935.

छठी शताब्दी ई०पू० की नारी और महात्मा बुद्ध

डॉ० उदय कुमार पासवान

शोध छात्र, इतिहास विभाग,
अल्लमा इक़बाल कॉलेज, बिहारशरीफ (नालंदा) बिहार

पृष्ठभूमि

छठी शताब्दी ई० पू० की आधी आबादी नारी प्राचीन भारतीय इतिहास की स्वर्णिम अध्याय गढ़ी है। इसकी कोख से महामनीषियों की एक ऐसी दिव्य दृश्य सामने आई जो पतनशील धार्मिक एवं सामाजिक स्वरूप को निश्चित दिशा निर्देश दिया। जिसकी दर्शन और आदर्श मानव जीवन को प्राचीन काल से अब तक और भविष्य में एक नयी दृष्टि को विकसित करता रहेगा।

बुद्धकालीन समाज की नारी की स्थिति में पूर्वकाल की तुलना में गिरावट निरंतर जारी था। उस समाज की आधी आबादी स्त्री थी लेकिन पुरुष प्रधान परिवार में बहुत संतोषजनक स्थिति नहीं कही जा सकती। वैसे तो समाज की विस्तृत अध्ययन सामाजिक स्रोत और पुरातात्विक भग्नावशेष पर ठिकी है जिसमें ब्राह्मण धर्म का साहित्य, बौद्ध धर्म व जैन साहित्य और भौतिक संस्कृतिक के अवशेष से प्लुरल समाज में नारी की स्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है। और नारी अवसाद एक मिसाल के रूप में है। नारी की स्थिति में गिरावट के साथ ही महात्मा बुद्ध के उनकी अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति में अविस्मरणीय योगदान देकर मानों अपनी जीवन के उद्देश्य को बौद्ध धर्म के दर्शन में पिरो दिया जिसकी प्रासंगिकता आज भी है और भविष्य में भी रहेगा।

स्वरूप

ऋग्वैदिक काल के अंत में पुरुषसूक्त के दसवें मंडल में समाज की चतुर्वर्गीय विभाजन के स्वरूप मिलने लगता है। उस समाज में यह विभाजन कर्म आधारित था जिसमें पुरुष प्रधान परिवार में नारी की स्थिति घर के प्रबंध में पूर्ण स्वतंत्रता की थी। साधारणतया एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। पति पत्नी के साथ धार्मिक कृत्यों में भाग ले सकती थी। लड़कियां जनेउ धारण कर सकती थी और उन्हें अपना पति चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। उत्तर वैदिक काल आते-आते नारी की स्थिति में गिरावट आई। पुरुष प्रधान समाज में पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकते थे। राजा की चार पत्नियों का उल्लेख इस काल के साहित्य में मिलता है। अब पुत्री को दुखों का स्रोत माना जाने लगा फिर भी कुछ स्त्रियाँ विदुषी थीं; शास्त्रार्थ करने के लिए किसी भी विद्वान को चुनौती दे सकती थी लेकिन इस काल में ऐसी महान विदुषियों के लिए दण्ड से प्रहार करके और बाल मुड़वा देने की पुरुष प्रधान दबंगता का आश्रय भी लिया गया था। इस प्रवृत्ति के कारण दिन प्रति दिन स्त्रियों की दशा दयनीय होने लगी। छठी शताब्दी ई० पू० आते - आते नारी की स्थिति में और गिरावट आई। लेकिन लौह अविष्कार का जमीनी हकीकत सामने आया तो निम्न मध्यम वर्ग की स्त्रियों ने आर्थिक समृद्धि में हाथ बटाई और परिवार की निर्णायक भूमिका में भाग लेने लगी; लेकिन यह किसानों एवं मजदूरों के घरों की स्थिति भी यहाँ नारी की संघर्षशील भूमिका अपने जीवनयापन को लेकर मिलती है। उच्च वर्गीय समाज में ऐसी स्थिति नहीं थी फिर भी शिक्षित महिलाओं के आदर मिलता था। बौद्ध धर्म के उदय और संबंध में स्त्रियों के प्रवेश से समाज में स्त्री एवं शूद्रों की

स्थिति में परिवर्तन आया। स्त्री आदर और सम्मान प्राप्त करने की स्थिति में कुछ हद तक आ गई लेकिन ऋग्वैदिक नारी की स्वतंत्रता से कोसों दूर थी।

महात्मा बुद्ध छठी शताब्दी ई० पू० की एक अद्वितीय दर्शन के साथ अवतरित हुए। उनका जन्म एक संभ्रांत एवं राजपरिवार में होने से पालन-पोषण अतिराजसी ठाठ-बाट में हुआ था। उनके वय से लेकर निर्वाण तक इस राजसी जिन्दगी से कोई लेना देना नहीं रहा। उनका वयः विकास में समय-समय पर उत्प्रेरक ऊर्जा नारियों द्वारा मिलता रहा। उसका लाभ उठाकर महात्मा बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया। और दर्शन के सर्वोच्च श्रेणी में पहुँच कर मानव जीवन शैली को आसान बनाने की कोशिश की। उनके जीवन में कई क्रांतिकारी मोड़ आये और उस मोड़ पर नारी उन्हें प्रतीकात्मक हो या प्रत्यक्ष अपना विचार उनके सामने रखी और उनसे लाभ उठाकर भारत वसुन्धरा को विश्व के लिए ज्ञान का स्रोत बना दिया।

महात्मा बुद्ध महामाया के गर्भ में पले और उनके जन्म के सातवें दिन कालकवलित हुई माँ का अमृत दूध पान न कर सके। उनकी मौसी व बाद में विमाता बनी महाप्रजापति गौतमी ने लालन-पालन किया और सिद्धार्थ को बुद्धत्व के योग्य बनाया। प्रोफेसर भागवत ने लिखा है कि गौतम बुद्ध की ज्ञान लालसा, या, उत्साह वृद्धि की तीव्रता, विशद दृष्टि, कार्यक्षमता बनने की कुशलता आदि जो गुण प्रकट हुए थे, उनका अधिकांश श्रेय गौतमी महाप्रजापति को ही है। वस्तुतः आज जिस बौद्ध धर्म के सामने विश्व का मानव समाज नतमस्तक है, उसका बीजारोपण गौतमी के द्वारा ही हुआ था। विमाता से हर समय इन्हें खुश रखने के लिए नये-नये प्रयोग और नये वातावरण देती रही, लेकिन जब सिद्धार्थ ने गृह त्याग दिया और वनवासी होकर दिव्य ज्ञान के रास्ते संयासी बन गये तो गौतमी का मातृत्व अवसाद से भर गया। यह दुःख स्थायी लगने लगा और पुत्र वियोग में माता राजदरबार के द्वार पर टकटकी लगाई रहती। लगभग 6 वर्षों के बाद जब सिद्धार्थ ने बुद्धत्व को प्राप्त करके दिव्य ज्योति के साथ ज्ञान का विस्तार प्रारंभ किया तो इनसे कपिल वस्तु की जनता के साथ पिता महाराज शुद्धोधन, मात-गौतमी, पत्नी यशोधरा पुत्र राहुल, गौतमी पुत्री नंदा एवं अन्य दरबार के क्षत्रियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। महात्मा बुद्ध को महान बनाने के पीछे उनकी माँ का बहुत बड़ा योगदान था।

बुद्धम्, शरणम् गच्छामि।

धम्म शरणम् गच्छामि।

संघम् शरणम् गच्छामि।

चिंतनशील सिद्धार्थ बाल्य-काल से ही ध्यानी पुरुष में दिल रमाने लगे थे। इनके शांत मन को मनोरम उपवन, नृत्य, वाद्य, संगीत के सरस वातावरण ने डिगा नहीं सका। उनका विवाह कपिल वस्तु के पास कलि नामक छोटे राज्य की राजकन्या, गोपा या विम्बा या भद्रकच्छा या यशोधरा नामक नारी भूषण से हुआ था। इसका महात्मा बुद्ध पर बड़ा प्रभाव था। जातक से ज्ञात होता है कि महाराज दण्डपाण्डि द्वारा रचित स्वयंवर में शास्त्रार्थ विद्या में सिद्धार्थ की अपूर्ण योग्यता से प्रसन्न होकर यशोधरा ने उनके गले में जयमाला डाली थी। यशोधरा कुशाग्र बुद्धि की थीं, वे विश्वदिव्य दर्शन का हर वक्त कदर करती थीं। संभवतः वह जानती थी कि सिद्धार्थ सत्य की खोज में जरूर जायेंगे लेकिन असमय ही बिना बताये नहीं जा सकते। यशोधरा अपने पति के साथ सुख-दुख में साथ रही और एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई जिसे राहुल नाम सिद्धार्थ के ध्वनि निवृत्त से ही रखा गया।

कर्तव्यनिष्ठ एवं आत्मविश्वासी महिला यशोधरा पर महात्मा बुद्ध का पूरा विश्वास था वे जानते थे कि मेरे अनुपस्थिति में परिवारिक कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकती है। इसी बीच नगर भ्रमण करते सिद्धार्थ ने जीवन संबंधी चार दृश्य देखे जिससे उनके सांसारिक जीवन के प्रति मोह भंग हो गया।

वे जर्जर शरीर वाले वृद्ध को देखा, फिर रोगग्रस्त व्यक्ति को देखा, फिर उन्होंने एक मृत व्यक्ति को देखा। इन तीनों से निष्कर्ष निकाला की यहाँ दुखमय जीवन के प्रति घोर तृष्णा है। अंतिम दृश्य उन्होंने एक प्रसन्न मुद्रा में भ्रमणशील सन्यासी को देखा। यह दृश्य उनके जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया और विषमतामूलक वैभवशाली जीवन से विरक्ति का विचार पाल लिया।

महात्मा बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति में नारी उर्जा का एक मिसाल यह भी है कि रात्रि में रमणीय गणिकाओं का नृत्य को देखकर चिंतन को सांसारिक आयाम देना चाहा लेकिन उस अनायास में एक जीवन का अध्याय समाप्त कर दूसरे जीवन की शुरुआत उस समय करने के लिए विवश कर दिया जब निद्रा अवस्था में नृत्यांगनाओं के बिखरे बाल सज्जा, राक्षसी खराटे और निर्वस्त्र बदन को देखकर सांसारिक दुख सुख के त्याग का मार्ग की खोज में निकल पड़े। वे अर्द्धरात्रि में अपनी पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को निद्रावस्था में ही छोड़कर गृहत्याग दिया। सत्य की प्राप्ति के लिए दर-दर भटकते रहे। अंततः उन्होंने घोर तपस्या का प्रण किया। शरीर जर्जर-जर्जर हो गया और प्राण पखेरू निकलने ही वाला था कि एक नारी निर्देश का पालन कर अपनी जान तो बचाई ही साथ वे तपस्या का मध्यम मार्ग भी चूँ लिया।

महात्मा बुद्ध बनारस के नजदीक उरूवेला में समाधि लगाई और आत्म शोधन व आत्म पीड़न करके शरीर को निष्प्राण बना लिया था। इसी समय महात्मा बुद्ध ने कुछ महिलाएँ को लोकगीत गाते हुए सुन जिसका अभिप्राय था कि वीणा के तार को इतना न ढीला करो जिससे आवाज ही न निकले और इतना भी जोर से न कसों जिससे तार ही टूट जाए। बुद्ध ने प्रतीकात्मक जवाब अपनी कठोर समाधि के लिए पाली। इन नारियों ने अपने गीत के माध्यम से एक तो उनकी जान बचा दी इससे सत्य प्राप्ति के लिए सहज मार्ग भी बता दिया। यह नारी निर्देशन का परिणाम था विश्वदर्शन और मानव दर्शन का प्रादुर्भाव। महात्मा बुद्ध ने उरूवेला में ही सुजाता नामक महिला के हाथों क्षीर चावल का पान करके आमरण तपस्या की त्याग कर दिया था।

बुद्ध को ज्ञान प्राप्ति से विश्व के लिए नई राह और नई उम्मीद दिखने लगी थी। उन्होंने उस ज्ञान को सार्वजनिक करने के लिए संघ का गठन किया। इसमें भिक्षुक शामिल थे। महाप्रजापति गौतमी और उनकी पत्नी यशोधरा ने संघ में प्रवेश कर लिया। यह नारियों के क्रांतिकारी परिवर्तन का निर्देशन बुद्धकालीन युग में मिलता है। वैशाली के प्रसिद्ध राजगणिका अम्बपाली ने भी संघ में प्रवेश पाकर दीक्षा ली थी। 500 महिलाओं मिश्र संघ का नेतृत्व गौतमी कर रही थी।

निष्कर्ष

नारी त्याग की प्रतिमूर्ति होती है “वह नारी तुम केवल श्रद्धा हो नग-पग तल में पियुष बनकर बहा करो। इस जीवन के समतल में” नारी अपनी उपस्थिति ज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं उसके लिए परिस्थितियाँ तैयार की। इसमें बंध कर समाज को अमूल निधि मिलता रहेगा।

संदर्भ सूची

- 1) वृहद् भारत सामाजिक इतिहास - श्री राईटर, भाग-1, पृष्ठ-174.
- 2) प्राचीन भारत का इतिहास - झा एवं श्रीमाली, पृष्ठ-261.
- 3) प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - राम शरण शर्मा, पृष्ठ-125.
- 4) प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास - डॉ० ओम प्रकाश, पृ०-325.
- 5) प्राचीन भारत-भारत सरकार प्रकाशन विभाग, पृ०-82.

ग्रामीण व्यवस्था का सामन्तीकरण

डॉ० सुशील कुमार

ग्राम- अमरपुरा, जिला-पटना।

सामन्त एक व्यापक अर्थ रखने वाला शब्द है। इस श्रेणी में अधीन राजा, राज्य के अधिकारी, स्वयं को समर्पित करने वाले राजा, दान प्राप्त ब्राह्मण, राजा के कुछ संबंधी आदि आते थे। 'लल्लनजी गोपाल' के अनुसार सामन्त शब्द के अर्थ प्रारम्भ में ग्राम के कुछ पड़ोसी कृषक तथा बड़े राज्यों में पड़ोसी राजा था। बाद में अधीन राजा के अर्थ में प्रयोग होने लगा था।¹ गुप्त युग में ही हमें यह प्रमाण मिलने लगते हैं कि शक्तिशाली नरेश सामन्ती को कुछ भूमि दे देते थे। अपने संबंधी तथा वंशजों को दी हुयी भूमि भोग, ग्रास अथवा भुक्ति कहलाती थी। अनेक बार ये सामन्त स्वयं भी दानपत्र जारी करके अपने अन्तर्गत सामन्त बनवा लेते थे, जैसे सातवीं शताब्दी ईस्वी (612-13) ई० में महासामंत महाराज समुद्रसेन क निर्मण्ड ताम्रपत्र में उसके अंतर्गत भी सामन्त होने का वर्णन है। प्रारंभ में यह दान केवल धार्मिक संस्थाओं और मंदिरों को दिया जाता था परन्तु बाद में कुछ अधिकारियों को भूमि देने की परम्परा भी प्रारम्भ हो गयी। हवेनत्सांग भी अधिकारियों को भूमि के रूप में वेतन देने का वर्णन करता है।² अतः राजा के संबंधी, भूमि दान वाले ब्राह्मण, राज्य के अधिकारी, अधीन राजा सभी भूमि एवं ग्रामों के स्वामी हो गये। इस प्रकार ग्रामों में राज्य तथा किसान के बीच एक ऐसे मध्यस्थ भू स्वामी वर्ग का विकास हो गया जिससे उत्पन्न आर्थिक सामाजिक तथा प्रशासनिक संस्था को ही विद्वानों ने 'यूडलिज्म' अथवा सामंतवाद कहा है। इसकी परिभाषा के विषय में अनेक बाद विवाद हुए हैं।³

ग्रामीण संदर्भ में सामन्तवाद का सही अर्थ अथवा परिभाषा देने के लिए जिन प्रश्नों का हल करना आवश्यक हैं वे हैं- (क) भू-स्वामित्व तथा राजस्व की समस्या। भू-स्वामित्व के अर्थ ग्राम की भूमि पर पूर्णतया अधिकार था अथवा केवल राजस्व का अधिकार? (ख) क्या यह दान सामन्त के जीवन तक सीमित था अथवा पुस्तैनी? (ग) वे कौन से वैधानिक अथवा नैतिक अनुबंध थे जो कृषक के अपने सामन्त के प्रति तथा सामन्त के राज्य के प्रति थे जिनसे भारत की यह समाजार्थिक व्यवस्था को सामन्तवाद का नाम दिया जा सके। अथवा सामन्तवाद का मानव स्वरूप था अथवा क्या सुनिश्चित पहचान थी जिससे भारतीय समाजार्थिक व्यवस्था को उससे तादात्म्य किया जा सके? (घ) दानग्रहीता के राजस्वीय, न्यायिक अथवा सैनिक अधिकारों की क्या सीमा थी? क्या उससे ग्रामीण जनता का शोषण होता था? (ङ.) भूमि दानों से क्या कृषि दास प्रथा प्रचलित हो गयी? अथवा ग्रामीण व्यवसायों के लोग क्या भूमि से इस प्रकार बंध गये कि उनको कहीं जाने का अधिकार नहीं था? क्या यूरोप की मैनेर व्यवस्था से यहां साम्य देखा जा सकता है?

उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार से दिये गये हैं। कार्लमार्क्स ने भारतीय ऐतिहासिक प्रक्रिया के विषय में कहा था कि इसमें ऐतिहासिक विकास प्रगतिहीन समाजों की एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिनमें सामन्ती अवस्थाएँ नहीं आयी।⁴ मार्क्स की इस अवधारणा का खंडन करते हुए कुछ विद्वानों ने भारत में सामन्तवाद के अस्तित्व और स्वरूप को उसके ऐतिहासिक उद्भव और विकास के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है जिनमें रामशरण शर्मा⁵ तथा डी०डी० कोसम्बी प्रमुख हैं। कोसम्बी के अनुसार भारतीय समाजार्थिक संस्थाएँ यूरोपीय संस्थाओं की कोरी

नकल न होकर अपनी पृथक् रूप से एक स्वतन्त्र पहचान रखती हैं।⁶ इन विद्वानों के अनुसार सामन्तवाद के कारण हैं- अधिकारियों को भूमि दान देने की प्रथा तथा उन्हें अपने क्षेत्र में अपनी सेना कायम करने देना। उसम हूण (5वीं से 6ठी शताब्दी) तथा अरब (8वीं 9वीं) आक्रमण से उपजी असुरक्षा जिसके कारण समान्य सुरक्षा के लिए राजा की तुलना में कृषक अपने निकट अधिकारी पर निर्भर था। इन अधिकारियों के क्षेत्र में राजा की सेना का प्रवेश तथा निर्गमन वर्जित था। ऐसे क्षेत्रों को आचाट भटप्रवेश कहते थे। इन अधिकारियों को भूमिदान देने का दूसरा कारण सिक्के तथा मुद्राओं की इस युग में कमी थी जो व्यापार के हास से ही हो गयी थी।⁷ डी०डी० कौसम्बी के अनुसार सामन्तवाद की दो अवस्थाओं में एक ऊपर से सामन्तवाद था जिसमें शक्तिशाली राजा अपने अधीनस्थ शासकों से कर लेते थे। दूसरा नीचे से सामन्तवाद जिसके अनुसार गांव में राज्य और कृषक के बीच एक ऐसे भू स्वामित्व वर्ग का उदय हुआ जो स्थानीय जनसंख्या पर अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करे उसे अपने वश में रखता था, उनसे कर वसूल करता तथा अन्य कई विधियों से उसका शोषण करता था।

सैद्धान्तिक रूप से इस कर का कुछ भाग वह स्वयं लेता तथा कुछ भाग अपने स्वामी नरेश को भेजता। कौसम्बी के अनुसार इस भूस्वामी वर्ग के उदय के पीछे के प्रमुख कारणों में ग्रामीण समुदायों की असाधारण वृद्धि थी जिससे एक ऐसा वर्ग महत्वपूर्ण हो गया जो शहर की तथा ग्रामीण व्यापारिक व्यवस्था पर अपना नियन्त्रण कर सके तथा दूसरा कारण सैनिकों तथा सेनापतियों को दी गयी विजित भूमि था। आर०एस०शर्मा आदि के अनुसार सामन्तवादी प्रणाली में वास्तविक कृषिकार्य “कृषिदास”(serfs) करते थे जो भूमि का स्वामित्व नहीं रखते थे। जी० एल०आध्या तथा ए०एन०बोस के अनुसार संपूर्ण कृषि भूमि का अधिकांश भाग बड़ी जागीरों का था जिनमें काम करने वाले काश्तकार (tenants) या मजदूर होते थे। आर०एस०शर्मा के अनुसार सामन्तवादी प्रथा का सार कृषिदास प्रथा है। वे दो प्रकार के कृषिदासों का अस्तित्व मानते हैं- प्रथम अस्थाई मजदूर जो सामंतों की भूमि में कार्य करते थे दूसरे अर्धकृषिदास जो अपनी उपज का कुछ भाग सामन्तों को देते थे। दूसरे वर्ग के कृषिदास सामंतों की भूमि में कार्य तो नहीं करते थे किन्तु आपद्काल में ग्राम नहीं छोड़ सकते थे तथा यदि वह ग्राम किसी अन्य को दान में दिया जाता तो वे भी उस नये स्वामी के अंतर्गत हो जाते थे। वे छठी शताब्दी के मैत्रक नरेश धरसेन के दानपुत्र की यह व्याख्या करते हैं कि अवसर देखते हुए सामन्तों को बेगार लगाने का अधिकार था।

मध्य भारत में बेगार को सर्वेविष्टि कहते थे। पूर्व मध्यकालीन दानपत्रों में धीरे-धीरे दान प्राप्तकर्ता के करों एवं परिहारों में वृद्धि होने लगी। उसके राजस्वीय अधिकारों में जमीन पर उगे पेड़, पौधे, जंगल, नदी, तालाब, खनि भूतवात प्रत्याय आदि भी शामिल हो गये। विष्टि अथवा बेगार को भी राजस्वीय अधिकारों में गिना जाने लगा। आर०एस०शर्मा के अनुसार बहुत से अभिलेखों में सदशापराध का उल्लेख दानग्रहीताओं को ग्रामवासियों के बीच न्याय करना तथा उनको दंड संबंधी अधिकार देना दिखलाता है। इसके विपरीत डी०सी०सरकार के मत में सामन्तवाद की पहचान राजा तथा उसके अधीनस्थ सामन्ती राजाओं तथा सामन्तों शासकों की विभिन्न कोटियों के बीच एक दूसरे के प्रति निर्धारित दायित्वों के अनुबन्धों पर आधारित सैनिक सेवा है। राजा अथवा बड़े सामन्त अपने अधीनस्थों को उनके द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली सैनिक सेवा के बदले उन्हें भूमि देते थे। परन्तु डी०सी० सरकार के अनुसार क्योंकि भारतीय भूमिदानों में सैनिक सेवा में दिये गये अनुबन्ध नहीं हैं, न ही भूमि द्वारा पुरस्कृत व्यक्ति के लिये कहीं भी कर्तव्य निश्चित नहीं किये गये थे। इसलिये भारत

में सामन्तवाद नहीं था। उनके अनुसार कुछ विद्वानों ने भ्रमवश पूर्व मध्यकालीन जमींदारी प्रथा को ही सामन्तवाद मान लिया है।⁸ उनके विचार में, यह कहना कि सिक्कों की कमी के कारण अधिकारियों को वेतन स्वरूप भूमि दान दिया जाता था मिथ्या है क्योंकि उसक काल में पुराण, दीनार, निष्क, स्वर्ण आदि अनेक प्रकार के सिक्के थे।

हरबंस मुखिया ने यूरोपीय सामन्तवाद के लक्षणों की तुलना भारतीय सामन्तवाद से करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जिस समाजार्थिक प्रथा को भारत में सामन्तवाद कहा है उसमें वास्तव में सामन्तवाद के मानक स्वरूप यूरोपीय सामन्तवाद के कोई गुण नहीं थे।⁹

प्रो० रे ने डी०सी० सरकार के तर्कों का उत्तर देते हुए कहा कि कृषक के अपने सामंत के प्रति अथवा सामंत के अपने कृषक के प्रति वैधानिक अथवा नैतिक बंधन सामरिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक कुछ भी हो सकते हैं। उनके अनुसार नीचे से ऊपर अधिकारियों की श्रेणीबद्ध श्रृंखला ही उनके अनेक कर्तव्यों अथवा आभारों की द्योतक है जो सामन्तवाद दिखलाते हैं। एक०के० सरस्वती¹⁰ का भी यही मत है कि यद्यपि ये आभार या बंधन पट्टों में नहीं लिखे हैं फिर भी ये स्वाभाविक थे।

बी० एन० एस० यादव इस विषय में एक बीच का मत लेते हैं। वे स्वामी-सेवक संबंध को सामन्तवादी अवधारणा का प्रमुख तत्व मानते हैं। वे धार्मिक भूमिदान के साथ-साथ प्रशासनिक एवं सैनिक सेवा के बदले लौकिक भूमिदान की परम्परा को पूर्व मध्यकाल के सामन्तवाद के पुष्ट प्रमाण मानते हैं। वे लेख पद्धति का उद्धरण देते हैं जिसमें वि०सं० 802 के ऐसे दान प्रसाद पोर्टल का वर्ण है जिसके द्वारा दानप्राप्त व्यक्ति उस स्थान में शांति कायम रखने तथा आवश्यकता पड़ने पर दानी को सिपाही तथा घोड़े आदि प्रदान करें।¹¹ परन्तु वे यूरोपीय फ्यूडेलिज्म से भारतीय सामन्तवाद को बहुत भिन्न मानते हैं और यूरोप की भांति कृषि दास प्रथा का यहां अभाव मानते हैं। उनके अनुसार कृषकों से भूमि का स्वामित्व ले लिया गया हो ऐसा यहां उदाहरण नहीं है। कुछ चंदेल दान-पत्रों में ग्राम के साथ ग्रामिकों-कृषक, व्यापारी, कारीगर आदि के उपर भी अधिकार दिये गये हैं, परन्तु वह किसी वास्तविक स्वत्व के कारण नहीं अपितु राजा द्वारा दानप्राप्त कर्ता को एक Privilege के रूप में उनके ऊपर अधिकार देने के तौर पर।¹² कृषिकार्य करने वाले मजदूर वेतन के आधार पर रखे जाते थे जिनको सीरवाहक, कृषिबल आदि कहते थे। यह प्रथा यूरोप से भिन्न थी क्योंकि, यहां मजदूरों को संपत्ति की स्वतंत्रता तथा जातीय स्वतंत्रता का पूर्ण अधिकार था।¹³ शूद्र कृषक भी यूरोप के कृषिदास की भांति नहीं था जो “दूसरे मनुष्य का मनुष्य” हो जिसमें व्यक्तिगत नाता दूसरे मनुष्य पर आश्रित होने का हो। यूरोप की भांति सामंतों की ओर से सुरक्षा की आशा की अपेक्षा भारत में यह आशा अपने जाति बान्धवों से की जाती थी।

डॉ० लल्लन जी गोपाल के अनुसार तत्कालीन अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि ग्राम दान में समस्त उर्वरा भूमि पर पूर्ण रूपेण स्वामित्व या अधिकार (Proprietary right) नहीं हो जाता था।¹⁴ परन्तु भूमि दान के रूप में कोई विशिष्ट क्षेत्र दिया जाता था तो उसके ऊपर उसका वैयक्तिक स्वामित्व हो जाता था।¹⁵ अतः ग्राम दान में कृषकों से भूस्वामित्व नहीं ले लिया जाता था। कई विद्वानों के अनुसार ऐसे भी प्रमाण नहीं मिलते हैं जिनमें बड़ी जागीरों का वर्णन हो जिनमें कृषिदास प्रथा का अधिक अवसर मिले। प्रारम्भ से ही बौद्ध साहित्य में कृषक को गृहपति तथा अभिलेखों को कौटुम्बिक कहा है जिनसे बड़े जागीरदारों का नहीं अपितु छोटे कृषकों का भास होता है।¹⁶

इसी प्रकार बी०एन०एस०यादव के अनुसार कृषक न्यायिक मामलों में सामंतों के ऊपर आश्रित नहीं था केवल राजस्वीय मामलों में था। कुछ रूसी इतिहासकार एंटोवा तथा बोनगार्ड लेविन का भी यही मत है।

भारत में यूरोप की भाँति कृषिदास प्रथा थी इस तथ्य की आलोचना करते हुए डॉ० ओमप्रकाश का कथन है कि रामशरण शर्मा के अनुसार यहां हमें कृषकों की भूमि-बद्धता (वे ग्राम छोड़कर सामन्त के आदेश के बिना नहीं जा सकते थे, भूमि से ही बंधे थे) तथा बेदखली (सामन्त जब चाहे हटा सकता था) दोनों ही देखने को मिलती है। यह संभव नहीं क्योंकि ये दोनों एक साथ मिलना स्वाभाविक नहीं क्योंकि भूमिबद्धता कृषकों की संख्या कम होने पर होती है तथा बेदखली या तो कृषकों की बहुतायत होने पर होती है या भूस्वामी के अपने लिये अधिक लाभकारी व्यवसाय चुन लेने से। हम जानते हैं कि पूर्व मध्यकाल में कृषि के अतिरिक्त और कोई लाभप्रद व्यवसाय नहीं था। भूमि बद्धता तथा बेदखली को साथ-साथ मानने का अर्थ है कृषकों की कमी तथा बहुतायत को साथ-साथ मानना।

सामन्तवाद के विषय में डी०एन०झा¹⁷ के अनुसार भूमिदानों की प्रवृत्तियों के पीछे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उतना हाथ नहीं था जितना कि विकसित एवं ब्राह्मण सभ्यता के क्षेत्रों की भूमि पर अत्यधिक दबाव के कारण उत्पन्न वर्ग संघर्ष का। उनके अनुसार 1000ई० के आस पास सामन्तवाद का विघटन भी दिखाई देता है जो कि भूस्वामियों के अत्यधिक शोषण एवं बेदखली के विरुद्ध उत्पन्न होने वाला शोषित किसान वर्ग का संघर्ष में सामन्तवाद के विषय में नया प्रकाश डाला है। उनके अनुसार जिसकी झलक हमें साहित्यिक स्रोतों एवं अभिलेखों में दिखाई देती है।

सामन्तवादी तत्वों के परिणाम सभी तर्कों को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि इस सामाजार्थिक व्यवस्था में शोषण यूरोप की भाँति कृषिदास प्रथा अथवा “मैनर व्यवस्था” के कारण नहीं परन्तु अनेक अधिकारियों की शृंखला-बद्धता के कारण था। यद्यपि भूमि दान सैद्धान्तिक तौर पर दानप्राप्तकर्ता के जीवन काल तक ही सीमित होता था फिर भी व्यवहारिक रूप से पुश्तैनी हो जाता था।

पहले तो केन्द्र को जो भूमि कर दिया जाता वही सड़कों, सिंचाई आदि कार्यों में लगाया जाता परन्तु इस प्रथा में ग्रामिकों के अनुरक्षण के लिए सामन्त अलग से कर लगाते। अतः मध्यस्थ को छोड़ के दोनों छोरों-राजा तथा कृषक दोनों को हानि थी। कई बार राजा को कर से वंचित होना पड़ता था। विशेषतः मन्दिरों आदि के दान में। डॉ० ओमप्रकाश के अनुसार कुछ दान प्राप्त भूस्वामी तो अवश्य कर मुक्त होंगे किन्तु अधिकांश में विशिष्ट प्रकार के कार तृणोदक निकर, आरुवण, अग्रहार, प्रदेयांश, पिंडदान इत्यादि लगाये जाते थे।¹⁸

संदर्भ सूची

1. जे०आर०ए०एस० भाग 1 व 2
2. वाटर्ज भाग 1 पृ० 176-77
3. कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1964 में हुई गोष्ठी का प्रकाशन “लैण्ड सिस्टम एण्ड “यूडेलिज्म इन एश्येंट इण्डिया”
4. डेनियल थार्नर “मार्क्स एण्ड एशियाटिक मोड्स ऑफ प्रोडक्शन” कांट्रिव्यूशन टु इंडियन सोस्योलोजी अंक 1966 पृ० 33-46
5. रामशरण शर्मा - भारतीय सामन्तवाद
6. डी०डी० कौसम्बी - “द बेसिस ऑफ इंडियन हिस्ट्री” जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी अंक 85 (1955) पृ० 35-45, 226-37
7. आर०एस०शर्मा - ‘इंडियन “यूडेलिज्म” उनके अनुसार सिक्कों की कमी से भूमिदान प्रथा बंद की गयी थी।
8. डी०सी०सरकार “लैण्ड सिस्टम एण्ड “यूडेलिज्म इन एश्येंट इण्डिया”
9. हरबंस मुखिया “वाज देयर “यूडेलिज्म इन इंडियन हिस्ट्री” इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस वाल्टेयर 2979 पृ० 259

10. डी०सी०सरकार “लैंड सिस्टम एण्ड “युडेलिज्म इन एश्येंट इण्डिया”
11. बी०एन०एस० यादव- “लैंड सिस्टम एण्ड “युडेलिज्म” सेक्यूलर लैंड ग्रांट्स ऑफ द पोस्ट गुप्ता पीरियड एण्ड सम एस्पेक्ट्स ऑफ द ग्रोथ ऑफ “युडल काम्प्लेक्स इन नार्थ इंडिया पृ० 77 पद टिप्पणी 6-7
12. बी०एन०एस० यादव- “लैंड सिस्टम एण्ड “युडेलिज्म” सेक्यूलर लैंड ग्रांट्स ऑफ द पोस्ट गुप्ता पीरियड एण्ड सम एस्पेक्ट्स ऑफ द ग्रोथ ऑफ “युडल काम्प्लेक्स इन नार्थ इंडिया पृ० 94 पद टिप्पणी5
13. बी०एन०एस० यादव- वही, पृ० 94
14. लल्लन जी गोपाल - एस्पेक्ट्स एश्येंट ऑफ हिस्ट्री ऑफ एगिकल्चर इन एश्येंट इंडिया अध्याय 3, पृ० 68 तत्कालीन अभिलेख जो यह सिद्ध करते हैं - एपिग्राफिया इंडिका vi नं. 4, vii, पृ० 203, xxvi नं. 23,47, iii नं. 4, xxviii नं. 13, इंडियन एंटीक्वेरी पृ० 301, ix पृ. 102
15. लल्लन जी गोपाल - वही पृ० 68
16. डॉ० जी०सी०पाण्डे 'फाउण्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर भाग- 2' डाइमेशन ऑफ एश्येंट इंडियन सोशल हिस्ट्री पृ० 91.
17. डी० एन० झा “ प्रेसिडेन्सियल एड्जेज” प्रोसीडिंग ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस वाल्टेयेर 1979, पृ० 22-33

भारतीय समाज में जातीय व्यवस्था: एक विवेचना

डॉ० पवन कुमार शर्मा

आचार्य, अध्यक्ष एवं संकाय प्रमुख

समाज विज्ञान संकाय तथा प्रभारी अकादमी

अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

आदिकाल से ही समाज में वर्ण (वर्ग) एवं जाति को लेकर विभिन्न मतों का प्रचलन रहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ के समय में न तो जाति थी और न ही वर्ण (वर्ग)। (महाभारत, भीष्मपर्व) ऐसी व्यवस्था काफी लम्बे समय तक रही। इसलिए महाभारतकार महाभारत में इस विषय को संजय और घृतराष्ट्र के मध्य स्थापित संवाद के माध्यम से कुछ इस प्रकार से समझाते हैं कि “प्राचीन काल में राजा नहीं होता था और वहाँ पर दण्ड की भी व्यवस्था नहीं थी, तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि समाज की रक्षा कौन करता था? क्योंकि रक्षा करने वाला कोई अलग से गुट नहीं था। यानि कि प्राचीन समाज में सभी जन आपस में मिलकर रहते थे और एक-दूसरे की धर्मानुसार रक्षा करते थे। (न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिनः। स्वधर्मेण धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम्॥) यानि जब वर्ग/वर्ण नहीं थे और जातियाँ भी नहीं थी तो सभी लोग धर्मानुसार आचरण करते थे। तो, इससे यह सिद्ध होता है कि धर्माचरण ने अलग-अलग वर्गों का प्रगटीकरण नहीं होने दिया। दूसरा, समाज का स्वरूप छोटा था, अतः समस्त क्रिया कलाप आपस में मिल जुल कर सम्पादित कर लिए जाते थे। ऐसे समाज सही अर्थों में प्रशंसा के पात्र थे। इस सम्बन्ध में शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि “ज्ञान वृद्धाः प्रशंसन्ति श्रूयन्तः परस्परम्” यानि ज्ञानवृद्ध लोग इस प्रकार के समाजों की प्रशंसा करते हैं क्योंकि सभी आपस में मिल-जुल कर रहते थे। परिणामस्वरूप सभी समान थे और कोई भी सेवक नहीं था, किन्तु हमारे समाज में सदियों से यही समझाया जाता रहा है कि जाति प्रथा सनातनी व्यवस्था है, जबकि ऐसा है नहीं। ऋग्वेद से लेकर पुराण काल तक जातियों का जन्मना सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया था। महाभारत में व्यास भीष्म से कहते हैं कि जात्या च सदृशः सर्वे कुलेन सहस्रस्तथा। यानि ऐसे समाजों में जाति के विचार से सभी सदृश हैं। इसी प्रकार से विष्णु पुराण में भी जातियों का निर्धारण जन्मना नहीं था। (खण्ड 3 अध्याय 8)। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण जी अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (4/13) यानि यह चातुर्वर्णी सृष्टि मेरे द्वारा रची गई है और इसका विभाजन गुणों के आधार पर है। यानि यहाँ तक व्यवस्था में पर्याप्त लचीलापन परिलक्षित होता है। ऋग्वेद के अध्ययन से यह भी ध्यान में आता है कि इसमें वर्णों का विकास नहीं हुआ था और जातियाँ तो कदापि नहीं थी। क्योंकि पूरे ऋग्वेद स्थानों पर ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दों का प्रयोग किया गया है। (प्राचीन भारत, राधाकुमुद मुकर्जी, पृष्ठ 34) ऋग्वेद के अध्ययन से यह भी आभास होता है कि ‘पुरुषसूक्त’ (10/9) संभवतः बाद में जोड़ा गया है क्योंकि यह एकदम अन्त में है और वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करता है।

जबकि जातियों की उच्चता और निम्नता का सिद्धान्त बौद्धिक आधार पर तय होता था। विश्वामित्र, जाबाल, रैक्व, आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब समाज की प्रारम्भिक अवस्था में जाति और कुल के विचार से भेदभाव नहीं था तो आगे भी इसी प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्माण हो सकता है। यह समन्वयकारी व्यवस्था विखण्डित कैसे हुई, उन तत्त्वों पर विचार करते हैं। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है पंचनद के क्षेत्र में बसने वाले एक ही स्तर के लोग धीरे-धीरे पाँच विभिन्न जातियों में बँट गए, इनकी आजीविका खेती थी और इनको पाँच कृषि जीवियों के नाम से स्मरण किया गया। ये जातियाँ बहुत ही उद्यमशील थीं। इन्हीं ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक उन्नत सभ्यता विकसित की। इस विकसित सभ्यता का मूल आधार कृषि/पशुपालन था। (ऋग्वेद-6/11/4, 6/51/11, 7/32/32, 9/65/32, 2/2/10, 4/38/10 एवं मैक्समूलर : इण्डिया : व्हाट कैन इट टीच अस, पृष्ठ 95-96-1899) बाद में ये पाँचों जातियाँ अपने व्यावसायिक विभेदों के कारण पाँच वर्णों में विभक्त हो गए जो कि इस प्रकार थे मंत्री, योद्धा, व्यापारी, दास और काले चमड़े वाले और इनके पुत्रों को का पुरुष, तुर्वस, वेदस, अनुस और द्रुहयस कहा जाता था। इन सभी में लम्बे समय तक आपसी सम्बन्ध स्थापित होते रहे किन्तु कालान्तर में परम्परा विछिन होने लगी। ऋग्वेद में यह भी उल्लेख मिलता है कि एक ही परिवार में विभिन्न पेशों से सम्बन्धित लोग एक साथ रहते थे “मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माँ अन्न पीसती है, साधन भिन्न हैं किन्तु सभी को धन की इच्छा है और सभी समान रूप से पशुओं की आकांक्षा करते हैं।” (ऋ० 9/112) यानि यहाँ तक समाज का पेशों के आधार पर विभाजन होना शुरू नहीं हुआ था। विशेषीकरण का सिद्धान्त अभी तक प्रचलन में नहीं आया था। पैतृक पेशे की स्वीकारोक्ति अभी तक रूढ़ न हो पाई थी। व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने पेशों को बदल सकता था। किन्तु कालान्तर में समाज के विस्तार के साथ नई व्यवस्था विकसित होने लगी। परिणाम स्वरूप मानव आपस में संगठित होने लगे। इन संगठित समुदायों को गण कहा जाने लगा। प्रारम्भ में यह गण समस्त कार्यों का संपादन मिलकर करते थे चाहे वह खेती हो, पशुपालन हो या अन्य कुछ गण में सम्पत्ति पर सभी का समान अधिकार होता था। छोटे गण मिलकर सब कार्य करते थे। जबकि बड़े गणों में खेती अलग-अलग होने लगी थी। ये अलग-अलग जो खेती गणों में की जाने लगी उन घटकों को गोत्र कहा जाने लगा। गोत्र का विस्तृत स्वरूप एक कुनबे के रूप में हुआ। इस कुनबे के समस्त सदस्य आपस में सम्बन्धी है। यह गोत्र अर्थोत्पादक है क्योंकि सभी मिलकर कृषि करते हैं। इस व्यवस्था का एक सामाजिक पहलू भी है। यानि ये आपस में मिलकर विवाह न करेंगे। अलग-अलग गोत्रों के लड़के-लड़की होंगे। इस प्रकार रक्त सम्बन्धों का विशेषीकरण होता है। इस प्रकार जब गोत्र बढ़ता है तो फिर यह भी सामूहिक श्रम न करेगा क्योंकि इसमें भी अनेक कुटुम्ब होते हैं। इनमें से कुछ में निकट का सम्बन्ध होता है और कुछ में दूर का। इस प्रकार गण-गोत्र-कुल/कुटुम्ब। ये सब आपस में एक हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में इसे बहुत ही कुशलता से समझाया गया है। भीष्म कहते हैं - **कुलेषु कलहाः जाताः कुल वृद्धैः अपेक्षिताः। गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम्॥** यानि-कुलों में आपस में कलह होती है क्योंकि वे अलग-अलग खेती करते हैं, उत्पादन करते हैं, सम्पत्ति एकत्र करते हैं। गोत्र का अधिकार कम होता है, कुल का अधिकार बढ़ता जाता है। गोत्र संपत्ति का अधिकार कुल सम्पत्ति ले लेती है। इस प्रकार गण से गोत्र और गोत्र से कुल सम्पत्ति बन जाती है, यही झगड़े का कारण होता है। इस प्रकार कुलों के झगड़े की उपेक्षा करने से कालान्तर में गोत्र ही नष्ट हो जाएगा। परिणाम स्वरूप गण विभाजन हो जाएगा। यह एक पारस्परिक व्यवस्था है जो कि एक दूसरे को प्रभावित करती है।

प्राचीन भारत में कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम के गण थे। इनके सभी सदस्य हथियार लेकर लड़ते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी के अध्ययन से यह ध्यान में आता है कि प्राचीन काल में ब्राह्मणक, (5/2/71, 4/2/104) नाम का एक देश था। काशी प्रसाद जायसवाल ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दू पॉलिसी' में लिखा है कि इस गण ने आयुधजीवी संघों की तरह बहुत ही बहादुरी से मुकाबला किया था। विशेष बात जो है वह यह थी कि इस ब्राह्मण जनपद से ही मिला हुआ जनपद शूद्रों का था (4/2/54)। यह गण भी सिकंदर से लड़ा था। इसी प्रकार खन्नोई गण भी था, यह गण क्षत्रियों का था। (हिन्दू पॉलिसी) भारतीय परम्परा में चौथा गण है विश यानि वैश्य। वैश्य उसे कहते हैं जो कि बस्ती और कबीले से सम्बन्धित है। गण घुमन्तु हो सकता है किन्तु विश नहीं। इसी विश से वैश्य बना। जिसका अर्थ हुआ बसा हुआ। यानि अन्य गण घुमन्तु हो सकते थे। किन्तु वैश्य गण बस्ती के रूप में ही रहता था और खेती आदि करता था। प्रारम्भ में खेती ही आयोत्पादन के रूप में प्रयुक्त होती थी। बाद में इसका सम्बन्ध व्यापार से जोड़ दिया गया और यहीं से गणों का स्वरूप परिवर्तित होने लगा। परिणामस्वरूप वर्ण के साथ-साथ जातियों का भी अभ्युदय हो गया। यह वह काल है जब समाज का रूप विस्तृत होने लगा और समाज के कार्य भी उसके स्वरूप के अनुरूप बढ़ने लगे। अब तक एक ही परिवार में अनेक कार्यों को सम्पादित करने वाले लोग निवास करते थे, जैसा कि मैंने इस पत्र में पहले भी उल्लेख किया है। किन्तु कालान्तर में देश, काल, परिस्थितियों के कारण और समाज की आवश्यकतानुसार विभिन्न जातियों का उभार उनके पेशे के कारण होने लगा। इस व्यवस्था की अनेक अच्छाईयाँ थी। जैसे - (1) एक पेशे के सदस्य एक विरादरी कहे जाते थे या एक ही विरादरी के सदस्य एक से ही पेशे का अनुपालन करते थे। (2) पेशा वंशानुगत होता था यह पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता था। (3) इस पेशे के चलते ही विरादरी के समस्त सदस्य आपस में एक दूसरे के सम्बन्धी होते थे और परस्पर दुख-सुख में काम आते थे। (नोबुल स्टॉप इन इण्डिया, मार्क टुली)। पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले पेशे ने जातियों को विशेषज्ञ बना दिया था। इसी कारण ये अन्य कार्य नहीं करते थे। यदि ऐसा करते तो कार्य विशेषज्ञता का सिद्धान्त क्रियाशील न रह पाता। इस प्रकार भारत में एक ही उत्पादन से सम्बन्धित अनेक जातियों का अभ्युदय होने लगा और जाति की मजबूत अवस्था उभरकर सामने आने लगी। प्रारम्भ में वर्ण या जाति परिवर्तित करना सुगम था, किन्तु कालान्तर में पीढ़ी दर पीढ़ी विशेषज्ञता प्राप्त करने के बाद जाति परिवर्तित करना दुष्कर कृत्य हो गया, क्योंकि दूसरी जाति की विशेषज्ञता प्राप्त करने में वर्षों लग जाते थे और फिर भी उतना कौशल प्राप्त नहीं हो पाता था। विश्वामित्र का उदाहरण सब के सम्मुख है।

इस वंशानुगत पेशे ने सम्पूर्ण परिवार को उस पेशे में पारंगत कर दिया जो कि उस परिवार का था। इस प्रकार श्रम विभाजन और कार्य विशेषीकरण का सिद्धान्त व्यवहार में लागू होने लगा। अब ध्यान देने वाली बात यह है कि प्रारम्भ में जो व्यवस्था लचीली थी वह बाद में जटिल अथवा रूढ़ क्यों हो गई? ऐसा इसलिए हो गया क्योंकि उत्पादन की मूल इकाई परिवार था और सारा परिवार मिलकर उत्पादन कार्य में संलग्न रहता है। इस परिवार में ही सम्पूर्ण परिवार के सदस्य मिलकर कार्य सीखते हैं और विशेषज्ञता प्राप्त करते हैं। इस तरह से यह परिवार ही इनके लिए प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में सक्रिय रहता था। कार्य के प्रशिक्षण का पृथक् से कोई अन्य केन्द्र सक्रिय नहीं था। भारत के मौसम ने भी इसमें सहयोग दिया। परिणामस्वरूप समाज आधारित अर्थव्यवस्था या संस्कृति विकसित होने लगी। यह विशेषता पश्चिम के किसी देश में विकसित नहीं हो पाई। परिणामस्वरूप वहाँ पर जब उद्योगों की व्यवस्था हुई तो उन्हें संचालन के लिए अनेक पाठ्यक्रमों और विद्यालयों

का संचालन करना पड़ा। जिसके चलते प्रत्येक क्षेत्र में बाजारवाद का चलन बढ़ गया। पश्चिम में भारत जैसी जातिव्यवस्था निर्मित नहीं हो सकती थी, क्योंकि ऐसा करने की व्यवस्था वहाँ के वातावरण ने उन्हें प्रदान नहीं की थी। लेकिन जाति व्यवस्था वहाँ पर भी थी, यह व्यवस्था थी अभिजात्य और सामान्य जाति। भारत की कार्य कुशलता की सर्वत्र तारीफ की जाती थी। अंग्रेजों को यह व्यवस्था बहुत ही चौंकाने वाली प्रतीत होती थी। भारत के कार्यकुशलता की तारीफ करते हुए मार्क्स लिखता है वे माल अच्छा इसलिए बना लेते हैं कि जो विशेष योग्यता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संचित की गई है वह बाप से बेटे तक पहुँचा दी जाती है, इस प्रकार वे अपने कार्य में विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं (कैपिटल, मार्क्स, खण्ड 1 - पृष्ठ 322)

इस प्रकार से समाज मजबूती की अवस्था में रहता है और समाज में अर्थ का प्रवाह समान रहता है। इस व्यवस्था में सम्पूर्ण समाज न केवल समृद्धि का स्वाद चखता है बल्कि समरसता का भाव भी रहता है। इस विशेषीकरण के सिद्धान्त के चलते ही इन में आपस में सम्बन्धों की स्थापना होती है, क्योंकि पेशेगत विशेषता और स्वभाव के चलते इनमें एकरूपता हो जाती है। इसी परम्परा के चलते जातियों का ताना-बाना मजबूत होता जाता है।

ये जातियाँ देश-काल-परिस्थितियों के साथ-साथ न केवल बदलती रहीं बल्कि बढ़ोत्तरी को भी प्राप्त हुईं। महाभारत, रामायण एवं पाणिनि के अष्टाध्यायी के अध्ययन से इसको आसानी से समझा जा सकता है। इन जातियों की सृजनशीलता मात्र प्राचीनकाल या मध्यकाल तक सीमित नहीं रही बल्कि यह आगे भी बढ़ोत्तरी को प्राप्त होती रही। आधुनिक काल में भी वैज्ञानिक विकास के अनुरूप अनेक नवीन जातियाँ अस्तित्व में आ रही हैं और कर्म सिद्धान्त के चलते अनेक जातियों का विलोप होना स्वाभाविक है। जातियाँ जो कि समाज-संस्कृति की प्रतिनिधि हुआ करती थीं या हैं, का स्थान पाश्चात्य सभ्यता कल्चर के संसर्ग में आकर बाजार या कम्पनियों ने लेना शुरू कर दिया। भारतीय परंपरा में उत्पादन की इकाई व्यक्ति या परिवार का स्थान लघु उद्योग से प्रारंभ होकर बड़े निगमों तक ने लेना शुरू कर दिया, परिणामस्वरूप परंपरागत प्रकार की जाति व्यवस्था चरमराने लगी और नए प्रकार की आधुनिक व्यवस्था ने जन्म लेना शुरू कर दिया। भारतीय जाति/वर्ण व्यवस्था की आलोचना के पीछे पाश्चात्य देशों विशेषकर यूरोप की ही बाजारवादी व्यवस्था है। क्योंकि यूरोप में उपनिवेशी पूंजी के आने के बाद जब औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तो उनके लिए यह सबसे आवश्यक हो गया कि सर्वप्रथम वे अपने उपनिवेशों में स्थापित सामाजिक ताना-बाना तोड़ने का प्रयास करें, क्योंकि परंपरागत ताने-बाने को तोड़ बिना वे अपने औद्योगिकीकरण के प्रयासों में सफल नहीं हो सकते थे, इसीलिए जो जाति-व्यवस्था भारत जैसे समाजों का वैशिष्ट्य थी और उनकी प्राचीनता का द्योतक थी। सर्वप्रथम उन्होंने इस व्यवस्था की न केवल आलोचना प्रारंभ की बल्कि इसको समाप्त करने के प्रयास भी किए। क्योंकि ऐसे किये बिना उनका व्यापारिक उद्देश्य पूर्ण न होता। 18वीं सदी तक भारत जो संपूर्ण विश्व का आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से नेतृत्व करता था ऐसा अचानक क्या हो गया कि वह 1757-1857 के मध्य अचानक पिछलग्गू और विपन्न हो गया। यह एक विचारणीय प्रश्न है। भारतीय परंपरा में कहीं पर भी पेशे के आधार पर व्यक्ति को छोटा बड़ा नहीं माना गया है। छोटे-बड़े का मापदण्ड व्यक्ति का ज्ञान है। इसीलिए भारत के वेदों से इतर दो बड़े महाकाव्यों में सूत का कार्य करने वाले व्यक्तियों को मन्त्री का स्थान प्राप्त है। वाल्मीकि रामायण में सुमन्त्र मूलतः रघुवंशियों का रथ हाँकने वाला (सूत) है किन्तु वह सद्विचारी, विवेकी एवं विचारवान् है इसलिए उसका नाम ही सुमन्त्र हो गया। सुमन्त्र यानि अच्छी मन्त्रणा करने वाला

या सुविचारी। वाल्मीकि रामायण में राजा के साथ इसकी युति सर्वत्र परिलक्षित होती है। यहाँ पर उसका कार्य नहीं अपितु उसका गुण या ज्ञान ही श्रेष्ठ है। प्रभु श्रीकृष्ण ने यही श्रीमद्भगवद्गीता में कहा भी है कि **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।** इसी प्रकार से महाभारत में भी संजय घृतराष्ट्र का सहायक है वह न केवल घृतराष्ट्र को महाभारत का आखों देखा हाल सुनाता है वरन् युद्ध के अनेक पहलुओं पर अपनी टीका-टिप्पणी भी करता है। संपूर्ण महाभारत के अध्ययनोपरांत तो यह भी ध्यान में आता है कि वह न केवल टीकाकार है बल्कि वह इतिहास-भूगोल-साहित्य एवं अन्यान्य विषयों का भी जानकार है। क्योंकि अनेक स्थानों पर उसने घृतराष्ट्र को युद्ध से अलग हटकर भी जानकारीयाँ उपलब्ध कराई है। इस प्रकार की जानकारीयों के विषय में निष्णात हुए बिना उपलब्ध कराना असंभव प्रतीत होता है। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि संजय भी सूत ही है। महाभारत में तो सूत पूरी एक परंपरा है। यानि परंपरागत ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार में सूत लोगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक और तो और धार्मिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने में सूत परंपरा अग्रणी रही है। संस्कृत वाङ्मय में अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ पर श्रेष्ठ कहा या माना जाने वाला ऋषि सूत के मुख से भगवद्कथा सुन रहा है। इन सब बातों को ध्यान में रखने से यह समझ में आता है कि जाति की दृढ़ता का सिद्धांत वेदों से लेकर 18वीं सदी तक स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है, क्योंकि भक्तिकाल में अनेक उदाहरण ऐसे हैं जहाँ पर जाति के स्थान पर गुणों का प्राधान्य स्वीकारा गया है। रामानन्द के प्रमुख 12 शिष्यों में से 1-2 को छोड़कर शेष ब्राह्मणेतर जातियाँ ही हैं। वैष्णव परंपरा तो इतनी श्रेष्ठ है कि वह भक्तों में जाति-बुद्धि भेद को वैष्णव ग्रन्थों में वर्णित 64 प्रकार के अपराधों में से एक अपराध मानती है। सम्पूर्ण भारत में सन्तों की जो परंपरा भक्तिकाल के अन्तराल में विकसित हुई या पौराणिककाल में थी, उनके अध्ययन के उपरांत यही ध्यान में आता है कि जाति भारत की कभी भी समस्या उस प्रकार की नहीं रही जिस प्रकार की आधुनिक समय में इसको उल्लिखित किया जाता है। भारत का सामाजिक ताना-बाना भी इस प्रकार के प्रसंगों को न तो कहीं पर उद्धृत ही करता है और न ही प्रश्रय देता है। यथा भारत में जितने भी उत्सव एवं पर्व प्रचलन में हैं इनकी सफलता के पीछे भेद-भाव के स्थान पर समरसता/समन्वय ही विद्यमान है। कुंभ जैसा विशाल मेला (विश्व का) और इसी प्रकार के अन्य मेले भी इसी बात का प्रमाण हैं कि भारत में जाति व्यवस्था समस्या नहीं अपितु समाधान ही रही है किन्तु ब्रिटिश सरकार ने भारत में इस प्रकार के विभेद पैदा करके भारत की युग-युगीन परंपरा को तोड़ने के प्रयास किए हैं।

भारतीय परंपरा सनातनी परंपरा है और नितनूतन-चिरपुरातन है, इसलिए इसमें जो भी अप्रासंगिक है वह स्वतः ही विलग हो जाता है और जो ग्राह्य है वह अपनी उपयोगिता के चलते इसका हिस्सा बन जाता है।

भारतीय समाज की अद्भुत मेधाशक्ति के चलते विकृति पूर्ण परंपराएं स्वयं ही अलग होती रही हैं और जो परंपराएं इसके लिए शक्तिवर्धक हैं वे स्वतः अंगीकार की जाती रहीं हैं। भारत का यही वैशिष्ट्य संपूर्ण विश्व को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। पश्चिमी परंपराओं के लिए यही सब चौकाने वाला है। इसीलिए वे इसको न समझ पाने की अवस्था में इसकी या तो आलोचना करते रहे या इसको अनुपयोगी बताकर इसको समाप्त करने के लिए न केवल स्वयं अपितु भारत के आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवकों को भी प्रेरित करते रहें। अपितु होना तो यह चाहिए था कि भारत के वैशिष्ट्य से पाश्चात्य जगत कुछ सीखता और भारतीय परंपराओं की प्रशंसा करता, किन्तु उसने ऐसा न करके

इसकी आलोचना करना ही श्रेयस्कर समझा। यद्यपि कुछ विद्वान् जो कि पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं, ने भारत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और भारत से जो भी कुछ सीखा है उसकी सराहना की है। इनमें से प्रमुखतः मैं दो नामों का उल्लेख करना सभिचीन समझता हूँ। (1) सर विलियम जॉन्स (18वीं सदी) एवं (2) विल ड्यूरेंट (20वीं सदी)। ये दोनों ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने भारत के सद्गुणों एवं परंपराओं को न केवल सराहा है अपितु संपूर्ण जगत् इनका अनुसरण भी करें ऐसा कहा भी है।

भारत की युवा पीढ़ी को आज इसी प्रकार के चिन्तन को विकसित करने की आवश्यकता है जो कि न केवल उनका मार्गदर्शन करे, अपितु भारत की भावी पीढ़ी को भी उनके गौरवशाली अतीत एवं परंपराओं से परिचित करावे। भारतीय परंपराएँ गरियाने की नहीं अपितु स्वीकारने और यदि कुछ विकृति आ भी गई है तो उसे सुधारने के लिए हैं। यही सनातन परंपरा है। इसीलिए यह नितनूतन-चिर पुरातन है क्योंकि यही एक मात्र ऐसी परंपरा है जो विकृतियों को दूर कर समय के साथ कदमताल करने को न केवल प्रेरित करती है बल्कि अनुमति भी देती है।

चयनित अध्ययन

1. ऋग्वेद
2. महाभारत : शान्तिपर्व
3. विष्णुपुराण
4. श्रीमद्भगवद्गीता
5. प्राचीन भारत, राधाकुमुद मुखर्जी
6. इण्डिया व्हाट कैन टीच अस, मैक्समूलर
7. अष्टाध्यायी, पाणिनी
8. हिन्दू राजतन्त्र, काशी प्रसाद जायसवाल
9. पूंजी, खण्ड-1 कार्ल मार्क्स
10. रामायण, वाल्मीकि
11. भारत की सन्त परंपरा और सामाजिक समरसता, डा. कृष्ण गोपाल
12. थिंकिंग पालिटीकली, प्रो. संजीव कुमार शर्मा
13. नो फुलस्टॉप्स इन इण्डिया : मार्क टुली
14. रिइमेजिंग इण्डिया, एडिटिड - मकी-सी एण्ड कम्पनी
15. आज का भारत, रजनी पामदत्त
16. सर विलियम जॉन्स-कलेक्टेड बर्क्स
17. केस फॉर इण्डिया, विल ड्यूरेंट

स्वराज्य पर गांधी के विचार

संध्या यादव

राजकीय सह-शिक्षा उच्च विद्यालय, भोगल, जंगपुरा, नई दिल्ली-110014

हरीश चन्द

उप-प्रधानाचार्य, राजकीय सह-शिक्षा उच्च विद्यालय, भोगल,
जंगपुरा, नई दिल्ली-110014

‘स्वराज्य’ का शाब्दिक अर्थ अपना राज्य या शासन (स्व + राज्य) होता है। वैदिक साहित्य में स्वराज्य शब्द आत्मानुशासन या ‘आत्म-संयम’ के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता रहा है। इस तरह यह स्वाधीन (स्व-अधीन-अपने नियंत्रण में) का समानार्थी होते हुए भी अंग्रेजी शब्द ‘इंडिपेंडेंस’ से भिन्न है। ‘इंडिपेंडेंस’ का अर्थ मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी या स्वच्छंदता से लिया जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि ‘इंडिपेंडेंस’ न तो ‘स्वराज्य’ की पवित्रता से युक्त है, न ही उतना विस्तृत फलक वाला ही। ‘स्वराज्य’ की परिभाषा देते हुए गांधीजी ने कहा है—‘स्वराज्य’ से मेरा अभिप्राय है—लोक सम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन। लोक सम्मति का यह शासन देशवासियों के मताधिकार के प्रयोग द्वारा आएगा। गांधीजी के शब्दों में ‘लोक सम्मति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी से बड़ी तादाद के मत के जरिए से हो, फिर वे चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, इसी देश के हों या इस देश में आकर बस गए।’ (मगर उन्होंने राष्ट्र के निर्माण में किसी भी तरह का योगदान अवश्य दिया हो।) गांधीजी का कहना है कि “सच्चा स्वराज्य थोड़े से लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं हासिल किया जा सकता है।”

स्वराज्य अर्थात् समानता का व्यवहार

गांधीजी के अनुसार ‘स्वराज्य’ प्राप्त राज्य एवं समाज में न तो जातिगत भेद होगा न ही धर्मगत (इस तरह यह मार्क्स के वर्गविहीन समाज की तरह की स्थिति होगी किन्तु उससे कदाचित् उच्चस्तरीय, क्योंकि इसमें बुर्जुआ तंत्र का अधिनायकवाद भी नहीं होगा!) इस समाज में न तो शिक्षितों एवं धनवानों का आधिपत्य होगा और न ही धार्मिक बहुसंख्यकों का आधिपत्य होगा। न ही इसमें समाज का कोई व्यक्ति वंचित-शोषित रह सकेगा। गांधीजी के शब्दों में “वह स्वराज्य सबके लिए सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लँगड़े, अंधे और भूखों मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं। ‘गांधीजी के स्वराज्य में राजा, जमींदार, किसान, भूमिहीन, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई यहूदी, पारसी सभी समान होंगे। उसमें जाति-पाति, धर्म या वर्गगत भेद के लिए कोई स्थान नहीं होगा, क्योंकि यह स्वराज्य सब लोगों का राज्य-न्याय का राज्य होगा।

स्वराज्य के तत्व

गांधीजी के स्वराज्य की अवधारणा में निम्नलिखित तत्व समाहित हैं —

- सभी नागरिकों को अवसर की समानता होगी।
- सभी लोग विदेशी नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त होंगे।
- स्वराज्य की इस दशा में पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता होगी।
- इसमें ‘धर्म-’ का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।

गांधीजी के अनुसार ये तत्व स्वराज्य रूपी समचतुर्भुज की भुजाएँ हैं। इसलिए इनमें से किसी एक का भी अभाव रहने पर समचतुर्भुज टेढ़ा हो जाएगा। यहाँ एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि गांधीजी का यह धर्म वास्तव में हिन्दू, मुस्लिम आदि धर्म नहीं है, बल्कि एक नैतिक दशा है जो मनुष्य को सभ्य एवं शुद्ध बनाने के लिए अनिवार्य है तथा जिसकी उपस्थिति रहने से व्यक्ति न तो किसी के साथ अन्याय करता है, न ही अपने साथ होने वाले अन्याय को बर्दाश्त करता है।

स्वराज्य का आदर्श : अहिंसक समाज

गांधीजी के अनुसार, सच्चा स्वराज्य अहिंसक समाज की स्थापना करना है। उनके इस स्वराज्य में निम्न विशेषताएँ होंगी।

1. सत्य और अहिंसा जैसे शुद्ध साधनों द्वारा हासिल स्वराज्य की रक्षा एवं संचालन भी इन्हीं साधनों के द्वारा होगा। अगर ऐसा नहीं होगा तो ऐसी परिस्थिति में राज्य अपने विरोधियों (राजनीतिक दलों एवं जनता) को दबाकर इस स्वराज्य का नाश कर देगा। तब वैयक्तिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी। गांधीजी कहते हैं— “वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रकट होने का पूरा अवसर केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है।”
2. अहिंसा पर आधारित समाज में लोगों को अपने अधिकार की बात ज्ञात भले न हो, किन्तु उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। वास्तव में गांधीजी के इस कल्पित स्वराज्य की यह अति विशिष्ट विशेषता है। गांधीजी कहते हैं कि कर्तव्यों के पालन से अधिकार स्वयं मिल जाते हैं ये अधिकार भी व्यक्ति समाज की सेवा के लिए ही उपयोग में लाते हैं। गांधीजी के स्वराज्य की यही विशेषता उसे ‘रामराज्य’ की श्रेणी में ला खड़ा करती है।
3. अहिंसा पर आधारित समाज में कोई किसी का शत्रु नहीं, सभी सबके मित्र होते हैं। गांधीजी के स्वराज्य में चूँकि प्रत्येक नागरिक सिर्फ अपने कर्तव्यों की बात करेगा इसलिए यहाँ वैमनस्यता नहीं जन्मेगी। सबको सबका दाय (भाग) स्वतः मिल जाने से समाज में कहीं भी असंतोष नहीं पनपेगा। फलतः संघर्ष भी नहीं होगा। फिर ऐसी स्थिति में शासन-व्यवस्था न तो जुआखोरी को प्रश्रय देगी, न वहाँ शराबखोरी चलेगी, न ही गौ हत्या होगी। इसी तरह धनी वर्ग द्वारा अपनी सम्पत्ति का शान-शौकत या विलासिता में अपव्यय भी नहीं किया जाएगा।
4. शासन एवं राज्य पूर्ण अहिंसक होगा। गांधीजी के अनुसार लोकतंत्र तथा हिंसा के मेल ठीक नहीं है। वे कहते हैं, “सुसंगठित राज्य में किसी के न्याय अधिकार का किसी दूसरे के द्वारा अन्यायपूर्वक छीना जाना असम्भव होना चाहिए और कभी ऐसा हो जाये तो अपहर्ता को अपदस्थ करने के लिए हिंसा का आश्रय लेने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।
5. अहिंसा पर आधारित समाज प्रजातांत्रिक होगा। यह प्रजातंत्र पश्चिम का आधुनिक प्रजातंत्र नहीं बल्कि वास्तविक लोकशासन होगा। जहाँ निम्न से निम्न तथा ऊँचे से ऊँचे व्यक्ति को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलेगा। इसके अतिरिक्त इस राज्य में कमजोरों के हक की रक्षा होगी गरीबों के लिए किए जाने वाले कार्य मेहरबानी के तौर पर नहीं किए जायेंगे अपितु यह कर्तव्य के तौर पर किए जायेंगे।

सच्चा स्वराज्य सरकारी नियंत्रण से मुक्ति

गांधीजी के शब्दों में ‘जो राष्ट्र अपना काम राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही शांतिपूर्वक और प्रभावपूर्ण ढंग से कर दिखाता है। उसे ही सही अर्थ में लोकतंत्रात्मक कहा जाएगा।’ लेकिन, यह

बेंथम व जे०एस० मिल जैसे स्वच्छंदतावादी (लेसेज) फेयर) विचारकों का राज्य नहीं होगा, जहाँ राज्य का हस्तक्षेप तो नहीं होगा किन्तु उससे उत्पन्न परिस्थिति समाज को अराजक बना देगी। कारण, वहाँ व्यक्ति जो चाहे, करने को स्वतंत्र है। उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है—किसी भी स्तर पर। जबकि गाँधीजी के स्वराज्य में सरकारी नियंत्रण से मुक्ति का अर्थ—एक लोक-शाही केन्द्र में बैठे दस-बीस व्यक्तियों की जगह नीचे से हर एक गाँव के लोगों द्वारा चलायी जानी चाहिए। सरकार पर जनता की निर्भरता कम होनी चाहिए। गाँधीजी के शब्दों में—

“यदि स्वराज्य के मिल जाने पर भी लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना, शुरू कर दें तो वह स्वराज्य किसी काम का नहीं होगा।”

स्वराज्य और भारतीय गाँव

गाँधीजी के अनुसार भारत की गरीबी तब से ही शुरू हुई जब हमारे शहर विदेशी माल के बाजार बन गए। गाँधीजी इस विचार के समर्थक हैं कि भूमि किसानों-मजदूरों की ही हो, न कि शहर में रहने वाले जमींदारों की। गाँधी-दर्शन में इसके लिए मजदूर-किसान को हिंसा का रास्ता अपनाने की आवश्यकता नहीं है। इसकी जगह मजदूर-किसान को इस तरह काम करना चाहिए कि जमींदार द्वारा उनका शोषण असम्भव हो जाए। इसके लिए गाँधीजी किसानों-मजदूरों का संगठित होना आवश्यक मानते हैं (मार्क्स भी दुनिया के मजदूरों को पूंजीपतियों/उद्योगपतियों के विरुद्ध एक होने की बात करता है।) मगर यह संगठन किसी के विरोध में नहीं स्वयं के बचाव के लिए होगा। इसका आधार सहयोग एवं सहकारिता होगा। गाँधीजी के ग्राम मजबूत हों, वे समृद्ध एवं बलवान हों इसलिए वे कहते हैं—“लोकतांत्रिक स्वराज्य में किसानों के पास राजनीतिक सत्ता के साथ हर किस्म की सत्ता होनी चाहिए किसानों को उनकी योग्य स्थिति मिलनी चाहिए और देश में उनकी आवाज ही सबसे ऊपर होनी चाहिए। यह स्थिति तभी होगी जब गाँव को प्रधानता मिलेगी।”

ग्राम स्वराज्य

गाँधीजी का स्वराज्य बहुत हद तक ग्राम-स्वराज्य है। गाँधीजी की राय में शहरों का विकास शोषण का प्रतीक है ये शहर गाँवों की सारी दौलत खींच लेते हैं। (अनाज, सब्जी, दूध, कच्चा माल से लेकर ग्रामीण प्रतिभा तक) इससे गाँवों का हास एवं नाश हो रहा है। गाँव का शोषण गाँधीजी के शब्दों में खुद एक हिंसा है। मगर इस हिंसा से दुनिया का सर्वनाश हो जायेगा। शहर चूँकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आधारित परजीवी है। इसलिए गाँवों का पतन अंततः शहरी पतन का कारण बनेगा। इसलिए गाँधीजी कहते हैं, “...अगर गाँवों का नाश होता है तो भारत का भी नाश हो जाएगा।”

गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य की कल्पना गाँवों को पूर्णप्रजातांत्रिक स्वरूप देना है। इसके लिए वे सत्य-अहिंसा पर आधारित ग्रामीण शासन की रूपरेखा निर्धारित करते हैं। ग्राम-रक्षा दल गाँव की रक्षा करेगा। गाँव का शासन चलाने के लिए ग्रामवासी पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनेंगे। इस पंचायत के हाथ में गाँव की समस्त सत्ता होगी। मगर ग्राम-स्वराज्य के गाँव में सजा या दण्ड का कोई प्रावधान नहीं होगा। इसलिए पंचायत सभा ही धारा-सभा, न्याय-सभा एवं कार्यकारिणी-सभा सब कुछ होगी।

ग्राम-स्वराज्य की प्रशासनिक रूपरेखा गांधीजी के अनुसार निम्नवत् होगी—

- ग्राम-सभा द्वारा पाँच वयस्क स्त्री-पुरुष चुने जायेंगे, इनसे पंचायत बनेगी।
- निकटस्थ दो पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधि अपने में से एक नेता चुनेंगे, जिनके नेतृत्व में काम करने वालों का एक दल बनेगा।
- ऐसा 100 पंचायतों पर निर्वाचित पचास नेता (प्रतिनिधि) अपने में से एक प्रतिनिधि निर्वाचित करेंगे।

यह क्रम आगे भी तब तक जारी रहेगा, जब तक पूरे देश में यह व्यवस्था लागू न हो जाए।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि आज की पंचायती राजव्यवस्था जो त्रिस्तरीय है। (ग्राम-पंचायत, पंचायत-समिति तथा जिला-परिषद्) शरीर से वैसा ही दिखने के बावजूद आत्मा से बिल्कुल भिन्न है, इनमें मोटे तौर पर ये अन्तर परिलक्षित होते हैं —

- (क) गांधीजी के ग्राम-स्वराज्य की पंचायत का आधार सत्य एवं अहिंसा है जबकि आधुनिक (वर्तमान) पंचायती राज-व्यवस्था की नींव ही हिंसा पर खड़ी हुई है।
- (ख) गांधीजी की ग्राम पंचायत में सरकार की दखलंदाजी बिल्कुल नहीं होगी। (सरकार गाँव से सिर्फ मालगुजारी वसूलेगी) जबकि वर्तमान पंचायती राज में जगह-जगह सरकारी मशीनरी द्वारा दखलंदाजी किए जाने की सम्भावना बनी रहती है।
- (ग) गांधीजी के ग्राम-पंचायत के निर्माता पंच आदि समर्पित भाव से इस कार्य में लगेंगे।

ग्राम-स्वराज्य अर्थात् आत्म निर्भर गाँव

गांधीजी के ग्राम-स्वराज्य का गाँव पूरी तरह आत्म निर्भर रहेगा। वह अपनी जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा। गाँव के सारे कार्य आपसी सहयोग द्वारा संपादित होंगे।

गांधीजी के अनुसार इसके लिए प्रत्येक गाँव को खेती तथा उद्योग में परिवर्तन लाना पड़ेगा। उदाहरण के लिए वह अपनी आवश्यकता के अनुसार अनाज तथा कपड़े के लिए कपास स्वयं उगाएगा। ऐसे गाँवों में पशुओं के चराने के लिए जहाँ सुरक्षित जमीन होगी, वहीं ग्रामीणों के मनोरंजन एवं खेल के लिए मैदान आदि की व्यवस्था रहेगी। जब खेती तथा पशुपालन, खेल के मैदान, सड़क आदि की व्यवस्था के बाद भी जमीन बच जाएगी, तब उस जमीन पर गाँव नकदी फसलें उगा सकता है। लेकिन गाँव गाँजा, भाँग, तम्बाकू तथा अफीम आदि की खेती कभी नहीं करेगा। दैनिक आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुएँ ग्रामवासी ग्रामोद्योग द्वारा पैदा करेंगे। ये पूरी तरह स्वदेशी तकनीक पर संचालित होंगे। साथ ही सबको समान लाभ का सिद्धान्त यहाँ लागू रहेगा। गाँधीजी के शब्दों में, “ये उद्योग दूसरों को लूटने के लिए नहीं लगाएँ जाएंगे” उनके अनुसार ग्रामोद्योगों के विकास पर ही भारत का विकास निर्भर करता है। “ग्रामोद्योगों का यदि लोप हो गया, तो भारत के सात लाख गाँवों का सर्वनाश ही समझिए...”

ग्राम स्वराज्य के गाँवों में नाट्यशाला, पाठशाला, सभा-भवन, कुएँ-तालाब आदि सब कुछ होंगे। इन सब की व्यवस्था परस्पर सहयोग एवं समानता के आधार पर होगी। इस समाज में कहीं भी अस्पृश्यता एवं जाति-पाति का भेद नहीं होगा। गाँधीजी के शब्दों में, “ये गाँव प्रचलित गाँवों से बिल्कुल ही भिन्न होंगे।”

स्वराज्य बनाम रामराज्य

गांधीजी का स्वराज्य एक अति व्यापक अवधारणा है। इसका आदर्श रामराज्य तथा लक्ष्य सर्वोदय है। सत्य तथा अहिंसा इसकी प्राप्ति के साधन हैं एवं धर्म तथा नैतिकता इसकी बुनियाद हैं। स्वराज्य की यह अवधारणा भले ही राज्य की पराधीनता से मुक्ति पाने से शुरू होती है किन्तु वास्तव में इसका साध्य आत्मा की स्वतंत्रता को प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् चारों तरफ अमन-चैन रहेगा। सर्वत्र समानता, स्वतंत्रता एवं खुशहाली का माहौल होगा, जिसकी जड़ प्रतिस्पर्द्धा में नहीं सहयोग में है। यहाँ प्रतिस्पर्द्धा होगी भी तो कर्त्तव्य पालन के लिए न कि निज अधिकारों के भोग के लिए और यहाँ सबका सम्मान होगा।

संदर्भ सूची

1. गाँधी : ऐन ऑटोबायोग्राफी द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट
2. गाँधी, एम०के०, हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद
3. सूद ज्योति प्रसाद, प्रमुख राजनीति विचारक
4. सुमन, रामनाथ—गाँधीवाद की रूपरेखा
5. कृपलानी, जे०वी०—गाँधी : हिज लाइफ एंड थॉट
6. मोहनदास करमचन्द, गाँधी—यंग इंडिया

महाभारत में अंगीरसः शान्त रस का विमर्श

डॉ० प्रसून दत्त सिंह

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
जमशेदपुर वर्कर्स महाविद्यालय, जमशेदपुर

संस्कृत-साहित्य में प्राचीन आचार्यों ने जिसे काव्य की आत्मा बताया है, वह है 'रस'। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है- 'रसो वै सः'। वह चैतन्य रूप रस है। काव्य में रस परिपाक से सरसता तथा अद्भुत चमत्कार उत्पन्न होता है, जिससे सहृदयजन आनन्द की अनुभूति करते हैं। भरतमुनि ने रस को ही नाट्य का आधारभूत तत्व कहा है, उसी प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य के क्षेत्र में भी सारतत्त्व रस को ही माना है। उन्होंने काव्य की आत्मा ध्वनि को ही बताया है।¹ यद्यपि ध्वनि से रस, अलंकार तथा वस्तु इन त्रिविध प्रधानतया अभिव्यक्त व्यंग्यों का ग्रहण होता है। सत्वगुण के उद्रेक से सहृदयों द्वारा अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय लोकोत्तर प्रमाण यह रस अपने से अभिन्न रूप में आस्वादन किया जाता है। शान्त रस काव्य का अद्भुत रस की प्रतीति स्वरूप है। शान्त रस काव्य में स्थिरता की स्थापना करती है और काव्य में एक प्रकार की विलक्षणता का प्रतिपादन करती है।

रस की परिभाषा

रस का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में वैदिक काल से ही होता रहा है। इसका कोशगत अर्थ है- सार, जल, कटु, अम्ल, कषाय, तिक्त, मधुर आदि छः रस। काव्यशास्त्रीय अर्थ में रस का प्रयोग उस आनन्द की अनुभूति में होता है जो काव्य श्रवण या नाट्य दर्शन से आविर्भूत होती है। रस की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है² -

1. 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाय वह रस है।
2. 'सरते इति रसः' अर्थात् जो प्रवाहित हो वही रस है। वर्णविपर्यय के आधार पर सरः से रस बन गया है।

विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस कहलाता है। भरतमुनि ने रस की परिभाषा इस प्रकार दी है-

विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।³

स्थायीभाव- जो रत्यादि भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी तरह के भाव से विच्छिन्न नहीं हो पाता तथा दूसरे सभी प्रतिकूल या अनुकूल भावों को आत्मरूप बना लेता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं। यथा- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय। ये आठ स्थायीभाव हैं। इसके अतिरिक्त भरत ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को भी सामान्य रूप से अव्यक्तावस्था में मानते हैं किन्तु जब किसी भाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब ये स्थायीभाव में व्यक्त हो जाते हैं।

विभाव- विभाव शब्द की उत्पत्ति 'विभाव्यत इति' से हुआ है जिसका अर्थ है कि जिसका ज्ञान हो सके। जिसे विभावित करके सामाजिक रसाभाव करता है, वह विभाव है। यह विभाव दो प्रकार का होता है- आलम्बन और उद्दीपन।

अनुभाव- जो वाचिक या आंगिक अभिनय करके रत्यादि स्थायीभाव की आन्तर अभिव्यक्ति रूप में अर्थ का बाह्य रूप में अनुभव करता है, उसको अनुभाव कहते हैं।

व्यभिचारिभाव- जो भाव विशेष रूप से अर्थात् आभिमुख्य से स्थायीभाव के अन्तर्गत कभी उठते, गिरते नजर आते हैं, तो उसे व्यभिचारी भाव कहते हैं।

शान्त रस की अवधारणा

अथ शान्तो नाम शमस्थायीभावात्मको मोक्षः प्रवर्तकः।

शम जिसका स्थायी भाव है तथा जो मोक्ष का प्रवर्तक है, वह तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका यम-नियम, ध्यान-धारणा, अध्यात्म ज्ञान उपासना, सभी प्राणियों पर दया, यतिवेश ग्रहण आदि अनुभावों द्वारा अभिनय करना चाहिए। इसमें निर्वेद, स्मृति, धृति सभी आश्रमों में पवित्रता, स्तम्भ, रोमांच आदि संचारीभाव होते हैं।

भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र में शान्त रस का स्वरूप

जिस समय मन में सुखात्मक या दुखात्मक कुछ भी विकार नहीं होता, उस समय मन बिल्कुल निर्विकार, उदासीन और सन्तुलित हो जाता है। ऐसी स्थिति में चित्तवृत्ति शान्त हो जाने के कारण इस मनःस्थिति से उत्पन्न होने वाले रस को शान्त नाम दिया गया है। यह जिस भाव से उत्पन्न होता है उसे निर्वेद अर्थात् औदासीन्य नाम दिया गया है।⁴ शान्त रस से मन बिल्कुल औदासीन्य निष्क्रिय होता है। उसमें कोई भावनाएं उत्कट रूप में दिखाई नहीं देती हैं। अतः अभिनय ही जिसका मुख्य अंग है ऐसे नाटक में भरत ने इस रस का उल्लेख नहीं किया है।

अभिनव विरचित अभिनवभारती में शान्त रस का स्वरूप

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।

नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति।⁵

मोक्ष और अध्यात्मसाक्षात्कारजनक तत्त्वज्ञान हेतु से युक्त मोक्ष प्राप्ति के लिए उपदिष्ट शान्त नाम का नवम रस होता है। अभिनवभारतीकार का मत है कि इस संसार में जिस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, तीन पुरुषार्थ हैं, उसी प्रकार चौथा पुरुषार्थ मोक्ष माना गया है और जैसे काम आदि के योग्य रति आदि शब्दों से निर्दिष्ट चित्तवृत्तियाँ कवियों और नटों के व्यापार द्वारा उस प्रकार की हार्दिक भावनाओं वाले सहृदय सामाजिकों के प्रति शृंगार आदि के रूप में आस्वादन योग्य बनाई जाकर रसत्व को प्राप्त होती है। इस प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के द्वारा शम रूप चित्तवृत्ति आस्वादन योग्य रसत्व में क्यों न प्राप्त करवाई जाएगी।

साहित्यदर्पण में शान्त रस

शान्तः शमस्थायीभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।

कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।⁶

शान्त रस का स्थायी भाव शम, आश्रय, उत्तमपात्र, वर्ण, कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान लक्ष्मीनारायण है। अनित्यत्व आदि असारता का ज्ञान इस रस में आलम्बन है। ऋषि आदि के आश्रम, पवित्र तीर्थस्थान इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया इसके संचारीभाव होते हैं।

निरहंकाररुपत्वाद्ययावीरादिरेष नो।⁷

इसे दयावीर नहीं कह सकते, क्योंकि वीरता में देह आदि का अभिमान अवश्य रहता है और शान्त रस में अहंकार नहीं होता। अतः किसी भी वीर रस में शान्त रस का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। उदाहरण- नागानन्द नाटक में दयावीर जीमूतवाहन के हृदय में उस समय भी मलयवती का प्रेम विद्यमान रहता है और अन्त में विद्याधरों के साम्राज्य की प्राप्ति भी देखी जाती है। अतः उनका देहाभिमान शान्त नहीं कहा जा सकता है। शान्त वही होता है जिसका देहाभिमान एकदम निर्मल हो चुका हो। अतः शान्त रस का वीररस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।

रसतामेति तदस्मिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा।⁸

काव्यप्रकाश में शान्त रस

निर्वेद जिसका स्थायी भाव होता है, इस प्रकार शान्त रस भी नवम रस होता है-
निर्वेदस्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।⁹

दशरूपक में शान्त रस का स्वरूप

धनंजय ने शान्त रस का प्रबल विरोध किया है। 'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' में कहा गया है कि शान्त रस के अभिनेय न होने के कारण यद्यपि उसका नाट्य में अनुप्रवेश नहीं हो सकता तथा श्रव्यकाव्य में उसका अभिनिवेश इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सूक्ष्म और अतीत आदि वस्तुओं का प्रतिपादन शब्द द्वारा ही हो सकता है। उनका मत है कि शान्त रस अकथनीय है, क्योंकि वह सुख-दुःख, चिन्ता आदि से परे है। किन्तु उस शान्त रस को प्रकट करने वाली मुदिता आदि चित्तवृत्तियाँ हैं वे चित्त की विकासादि चार अवस्थाओं में ही अन्तर्भावित हो जाती है।

दशरूपककार ने शान्त रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है-

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।

रसस्तु शान्तः कथितः मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥¹⁰

अर्थात् जहाँ न सुख है, न दुःख है, न चिन्ता है, न रागद्वेष है, न कोई इच्छा है, सभी भावों में शम की प्रधानता हो, उस रस को शान्त रस कहा गया है।

महाभारत में शान्त रस

महाभारत में आदि से अन्त तक शान्त रस का ही प्राधान्य है। महाभारतीय पात्रों- कृष्ण, युधिष्ठिर, विदुर, भीष्म, नारद, व्यास आदि महर्षियों में शम की प्रधानता है। महाभारत के अनुक्रमणिका पर्व के प्रारंभ में सृष्टि का आरंभ अनादि, अचिन्त्य परब्रह्म का वर्णन है। महाभारत में सर्वत्र काल की महत्ता का गान है। आदिपर्व में ही व्यासजी ने स्वयं सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान को ग्रंथ का विषय बतलाते हुए कहा है कि महाभारत में उनका ही संकीर्तन किया गया है। महाभारत के ययाति उपाख्यान में शान्त रस का परिपाक है क्योंकि इसमें बताया गया है कि भोग तृष्णा का अन्त नहीं है। शान्त रस की स्वीकृति का यह अर्थ है कि उसके द्वारा सत्यान्वेषण एवं पूर्ण शान्ति की उत्कट वृत्ति का व्यक्तीकरण मात्र किया जाय। भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह की निवृत्ति के लिए इस संसार की वास्तविक स्थिति को बतलाते हैं। संसार क्या है? आत्मा-परमात्मा क्या है? उस परब्रह्म की क्या विभूतियाँ हैं? और उस तक किस मार्ग से पहुँचा जा सकता है? तब श्रीकृष्ण कहते हैं-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यं शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥¹¹

यहाँ अर्जुन के सांसारिक विषय वासनाओं, जिज्ञासाओं के लिए शान्त रस के उपादानों का प्रतिपादन है। स्त्री पर्व में शाखाओं से रहित वृक्ष के समान धृतराष्ट्र के शोक का शमन करने के लिए विदुर द्वारा इस संसार की अनित्यता का प्रतिपादन किया गया है-

सर्वे क्षयन्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रया।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥¹²

सारे ग्रहों का क्षय का अन्त उनके क्षय में ही है। भौतिक उन्नतियों का अन्त पतन में ही है, सारे संयोगों का अन्त वियोग में है। उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन का अन्त मृत्यु में ही होने वाला है।

शान्ति पर्व में शान्त रस का ही प्राधान्य है। शान्त पर्व में बन्धु-बान्धव, पुत्रों के विनाश से युधिष्ठिर को महाशोक होता है। उन्हें उस पापयुक्त राज्य से विरक्ति हो जाती है-

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम्।

धिगस्त्वमर्थं येनेमामापदं गमिता वयम्॥¹³

अनुशासन पर्व से लेकर स्वर्गारोहण पर्व तक विभिन्न प्रकार के धर्मतत्त्वों की व्याप्ति है। धृतराष्ट्र का सबकुछ त्यागकर वनगमन तथा अग्नि से दग्ध होकर मरणादि वर्णित है।

अन्त में महाभारत का सार भारत-सावित्री के रूप में दिया गया है-

मातृपितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।

संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥¹⁴

नित्यो धर्म सुख दुःख एव नित्ये।

जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥¹⁵

इस प्रकार महाभारत में आद्यन्त शान्त रस तथा उनके विभिन्न उपादान ईश्वर, भक्ति, ब्रह्म, धर्म तथा उसके प्रमुख तत्व, तीर्थस्थान, आश्रमों का वर्णन व्याप्त होता है। अन्त में भारत सावित्री के रूप में महाभारत का सार है जो शान्तरसपरक है। इस आधार पर इसे शान्तरसप्रधान मान सकते हैं।

उदाहरण - आदिपर्व में राजा ययाति ने 1000 वर्षों तक विषय का भोग किया। अन्त में अनुभव किया कि भोग तृष्णा का अन्त नहीं है।

न जातुः कामः कामानानुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूयं एवाधिवर्तते॥¹⁶

विषयों की कामना उन विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, अपितु घी की भाँति वह अधि क बढ़ जाती है। यहाँ शान्त रस के स्थल पर ययाति का सांसारिक विषयवासनाओं को भोग लेने पर उनसे तृप्ति न होने पर उनसे निर्वेद होना स्थायी भाव, आलम्बन परमब्रह्म परमात्मा तथा संसार का वास्तविक ज्ञान है। वनगमन, दीक्षा लेना आदि अनुभाव है। धृति, मति आदि संचारी भाव है। इनसे पूर्ण होकर शान्त रस का पूर्ण परिपाक है। महाभारत में आदिपर्व से स्वर्गारोहण पर्व तक शान्त रस का परिपाक किया गया है। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता के बुद्धियोग, ज्ञानयोग में व्यासजी ने शान्त रस का परिपाक किया है।

शान्त रस : एक अंगी के रूप में प्रमाण

महाभारत में प्राप्त अनेक प्रमाणों के आधार पर शान्त रस को महाभारत का अंगीरस स्वीकार किया जा सकता है-

1. महाभारत में महर्षि व्यास द्वारा वृष्णियों का परस्पर क्षय, पाण्डवों की महापथ क्लेश से अनुचित विपत्ति कृष्ण का भी व्याध से विध्वंस इन सबका निरवसान ही हुआ है। अतः जब कृष्ण और पाण्डव जैसे महान उत्कर्षशालियों का अन्त हो सकता है तो साधारण मनुष्य की बात ही क्या? इससे अवभासित होता है कि व्यास जी का तात्पर्य वैराग्यजनन ही है और इससे शान्त रस ही पुष्ट होता है।
2. जैसे-जैसे लोकतंत्र असार के समान विपरीत होता जाता है, वैसे-वैसे उसमें विराग होता जाता है। महाभारत में वैराग्य उत्पन्न करने वाले सहस्रों श्लोक उपलब्ध होते हैं।
3. महाभारतीय प्रमुख पात्रों में शम की प्रधानता है। युधिष्ठिर में दया, क्षमा आदि गुण हैं।
4. महाभारत की अनुक्रमणिका में दर्शाया गया है कि यहाँ सनातन भगवान् वासुदेव का कीर्तन किया जा रहा है। इससे यह व्यंग्य रूप में कहना अभीष्ट है कि महाभारत में पाण्डवादि चरित्र

कीर्तित किया जाता है। वह सब अवसान में विरस है और अविद्या प्रपंच रूप है। परमार्थसत्यस्वरूप तो यहाँ भगवान् वासुदेव ही कीर्तित किये जा रहे हैं।

5. अनुक्रमणिका में कृष्ण और धर्म को नमस्कार किया गया है। महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कृष्ण महाभारत के प्रमुख व्यक्तित्व हैं। सौति ने कहा है कि मैं उनके प्रसाद से नारायण कथा कहता हूँ। इसको व्यास जी ने केवल धर्म की कामना से रचा है।
6. महाभारत में उसी परब्रह्म का उपाय होने के कारण और विशेष देवताओं तथा दूसरों का उन्हीं विभूति रूप होने के कारण देवता, तप, तीर्थ इत्यादि के प्रभाव का अतिशय वर्णन किया गया है।
7. शान्तिपर्व को महाफल कहा गया है।
8. महाभारत में आदि से अन्त तक काल की महत्ता सर्वोपरि है और अनुक्रमणिका पर्व से स्वर्गारोहण पर्व तक सहस्रों बार काल की महत्ता का गान है और यह वैराग्य के लिए ही है।
9. महाभारत के पर्वसंग्रह पर्व के तथा महाप्रस्थानिक पर्व के अन्त में धर्म को सर्वोत्तम माना गया है, अर्थ और काम को नहीं। विभिन्न महर्षि तथा स्वयं युधिष्ठिर ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताकर उसका विवेचन किया है—

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।

यस्य प्रसादा वक्ष्यामि नारायणकथामिमाम्॥

वासुदेवस्य माहात्म्यम् उक्तवान् भगवानुषिः॥¹⁷

10. अभिनवगुप्त ने गीता की व्याख्या में अपने परिचयात्मक मंगलाचरण में मोक्ष को ही महाभारत का प्रधान फल माना है। धर्म वहाँ उसकी परिपुष्टि के लिए है।

महाभारत में जीवन के समग्र पक्षों का चित्रण होने पर इसमें नवो रसों की महासरिताएं प्रवाहित हुई हैं। जहाँ आदि से अन्त तक शान्त रस है, वहाँ करुण, वीर, शृंगार, हास्य, अद्भुत आदि रसों का अंग रूप में परिपाक हुआ है। जीवन के समस्त पक्षों का चित्रण होने से महाभारत जैसे ग्रन्थों में सभी रसों का पूर्ण परिपाक होना स्वाभाविक है फिर भी महाभारत का सर्वप्रमुख अंगीरस शान्तरस ही है।

महाभारत में संसार की निस्सारता और वैराग्य ही दिखलाई गई है। अतः इस कसौटी पर शान्त रस ही अंगी रस के रूप में सिद्ध होता है। यद्यपि महाभारत में निःसन्देह युद्ध हुआ है और वीर रस का चमत्कार भी प्रदर्शित किया गया है, लेकिन युद्ध से वैराग्युत्पादन एवं भौतिक जीवन की निस्सारता दिखाकर प्राणियों को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाया गया है। इसके एक नायक युधिष्ठिर में शम की प्रधानता है। निर्वेद की भावना है और इस भावना का परिपोष हमें महाप्रस्थान में दिखाई देता है। युधिष्ठिर युद्ध के बाद भी उसी राज्य को तृणवत् मानकर हिमालय की ओर प्रस्थान किया। यह तीव्र निर्वेद भावना का ही प्रतिफल है।

अतः महाभारत में जो वीरादि रस हैं, वे अंगरूप हैं, क्योंकि यदि वीर रस प्रधान होता तो महाभारत विजय की प्राप्ति होने पर ही समाप्त हो जाता। यह शान्तपरक रस ही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति....., ध्वन्यालोक 1.1	2. अलंकारशास्त्र का इतिहास, पृ. सं. 233
3. नाट्यशास्त्र, 6ठा अध्याय	4. नाट्यशास्त्र
5. अभिनवभारती	6. साहित्यदर्पण, 6.245
7. साहित्यदर्पण कारिका, 249	8. वही, 250
9. काव्यप्रकाश, सूत्र- 47	10. दशरूपक, सूत्र 306
11. भीष्म पर्व, 2-24 अध्याय	12. स्त्रीपर्व, पृ. सं. 4377
13. शान्ति पर्व, प्रथम अध्याय	14. स्वर्गारोहण पर्व, भारत सावित्री
15. वही, पृ. 6505	16. आदिपर्व
17. महाप्रस्थानिक पर्व	

षाड्गुण्य : एक शास्त्रीय विवेचना

चिन्मय चट्टोपाध्याय

व्याख्याता, जंगीपुर महाविद्यालय, जंगीपुर, प० बंगाल

प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने राजनीतिशास्त्र से सम्बद्ध विविध विषयों का सांगोपांग एवं अतिसूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया है। रामायण, महाभारत, विविध पुराणों में तो राजनीति के तत्त्व प्राप्त होते ही हैं, किन्तु राजनीति-तत्त्वों के आधार पर अनेक प्राचीन ऋषियों और चिन्तकों ने अलग से शास्त्रीय ग्रंथों की भी रचना की है। इसमें विस्तार से राजनीति शास्त्र के विविध तत्त्वों का विवेचन हमें प्राप्त होता है। राजनीति-तत्त्वों में षाड्गुण्य प्राचीन भारतीय चिन्तकों का एक अति महत्वपूर्ण विवेच्य विषय रहा है।

उनके अनुसार राजा को अपनेकर्म की सफलता के लिए सर्वदा षाड्गुण्य के विषय में चिन्ता करनी चाहिए। यद्यपि षाड्गुण्य के विषय में अनेकों शास्त्रकारों ने अपने शास्त्र में बहुत कुछ लिखा है तथापि उनके मतों में मतपार्थक्य नहीं दिखता है। सभी आचार्यों ने एक मत से सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संश्रय या समाश्रय षाड्गुण्य के इन छः भेदों को स्वीकारा है।

रामायण के अनुसार

अयोध्याकाण्ड के सौवे अध्याय में श्रीरामचन्द्रजी भरत से कहते हैं कि षाड्गुण्य की उपयुक्तता अनुपयुक्तता को ठीक तरह जानकर ठीक-ठीक उचित जगहों में उनका प्रयोग करो।

बाल्मीकि रामायण में हमें मूलतः सन्धि और विग्रह दो प्रकार का ही वर्णन देखने को मिलता है।

इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्।

कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम्॥

यात्रा दण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहो।

कञ्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे॥

—अयोध्याकाण्ड, 100वां सर्ग, 69.70 श्लोक

द्वैधीभाव और समाश्रय योनि-सन्धि हैं और यान और आसन योनि-विग्रह हैं। अर्थात् प्रथम दो सन्धि मूलक हैं और अंतिम दो विग्रह मूलक हैं।

महाभारत के अनुसार

शान्तिपर्व में पितामह भीष्म युधिष्ठिर को कहते हैं कि राजनीति के छः गुण होते हैं— सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय। राजा को इन सबके गुण-दोष पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

1. सन्धि— शत्रु यदि अपने से शक्तिशाली हो, तो उससे मेल कर लेना सन्धि कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है—

सन्धिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनमध्यस्तथोत्तमः।

भयसत्कारवित्ताख्यः कात्स्न्येन परिवर्णितः॥ —म.भा. 12.59.37

भय के कारण की गयी सन्धि हीन सन्धि, सत्कार के कारण की गयी सन्धि मध्यम सन्धि और वित्त-ग्रहण द्वारा की गयी सन्धि उत्तम सन्धि कहलाती है।

2. **विग्रह**- यदि दोनों पक्ष समान शक्तिशाली हों, तो युद्ध जारी रखना विग्रह कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है- स्वयं किसी शत्रु पर आक्रमण करना या अपने मित्र पक्ष पर आक्रमण होने पर उस मित्र की रक्षा के लिए आक्रमणकारी पर आक्रमण करना। इसके संबंध में कहा गया है-

एवं मे वर्तमानस्य स्वसु तेष्वितरेषु च।

भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः॥ -म.भा., 2.4.28

3. **यान**- शत्रु यदि दुर्बल हो तो उस अवस्था में उस पर आक्रमण करना यान कहलाता है।
4. **आसन**- शत्रु की ओर से आक्रमण होने पर अपने को दुर्ग आदि में छिपाये रखना आसन कहलाता है।
5. **द्वैधीभाव**- शत्रु यदि मध्य श्रेणी का हो, तो द्वैधीभाव का आश्रय लेना चाहिए अर्थात् ऊपर से कुछ और व्यवहार तथा भीतर से कुछ और व्यवहार। जैसे आधी सेना को आत्मरक्षार्थ अपने पास रखना और शेष के द्वारा अन्नादि भंडार पर आक्रमण कर देना आदि।
- 6- **समाश्रय**- यदि कोई प्रबल शत्रु अपने ऊपर चढ़ाई कर दे और उसका प्रतिकार करने में असमर्थ समझने पर आक्रमणकारी से भी प्रबल राजा का आश्रय लेकर आत्मरक्षा करना समाश्रय कहलाता है-

उच्छ्रितानाश्रयेत् स्फीतान्नेन्द्रानचलोपमान्।

श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं शरणमाश्रयेत्॥ -म.भा., 12.120.12

मनुस्मृति के अनुसार

इसके राजा राजा को सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संश्रय इन षड्गुणों का सर्वदा चिन्तन करना चाहिए। राजा को अपनी समृद्धि और शत्रु की हानि जिस गुण हो, उसी का आश्रय लेना चाहिए। आचार्य के अनुसार सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय में सभी दो प्रकार के होते हैं-

1. **सन्धि**- वर्तमान और भविष्य में होने वाले लाभ की आशा से दूसरे राजा के साथ मिलकर जो आक्रमण किया जाता है, वह समान यान सन्धि और दोनों आपस में मिलकर या अलग-अलग होकर जो आक्रमण करते हैं, उसे असमान यान सन्धि कहते हैं।

समानयाकर्मा च विपरीतस्तथैव च।

तदात्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥ मनु., 7.163

2. **विग्रह**- कार्य की सिद्धि के लिए यथोक्त समय पर या असमय में ही शत्रु को जीतने की इच्छा से जो युद्ध किया जाता है, वह एक प्रकार का विग्रह है। अपने मित्र या किसी के द्वारा अपकार होने पर जो युद्ध किया जाता है, वह दूसरे प्रकार का विग्रह है-

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।

मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ मनु. 7.164

3. **यान**- यह दो प्रकार का होता है। प्रथम अत्यंत आवश्यक कार्य में फंसे हुए शत्रु को देखकर उस पर अकेले आक्रमण करना तथा दूसरा स्वयं शक्तिहीन होने पर मित्र के साथ मिलकर आक्रमण करना-

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।

संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥ मनु. 7.165

4. **आसन-** दुर्भाग्य से अथवा पूर्वजन्म के पाप से जिस राजा की सम्पत्ति नष्ट हो गई हो, वह राजा शत्रु की उपेक्षा करे, यह एक प्रकार का आसन है और समृद्धशाली होते हुए भी मित्रों के अनुरोध से मित्रों के लाभार्थ शत्रु की उपेक्षा करना, यह दूसरा आसन है-

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा।

मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ मनु. 7.166

5. **द्वैधीभाव-** अपने प्रयोजन सिद्धि के निमित्त एक स्थान में हाथी अश्वादि सेनापति सहित सेना को रखना एवं अन्यत्र दुर्ग में कुछ सेना सहित राजा का रहना- यही द्वैधीभाव के दो रूप हैं-

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।

द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥ मनु. 7.167

6. **संश्रय-** शत्रुओं से सताए जाने पर कार्य और अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा का आश्रय लेना और किसी शत्रु के द्वारा सताए जाने की आशंका से किसी बलवान् राजा का आश्रय घोषित कर लेना यही दो प्रकार का संश्रय है-

अर्थसम्पादनार्थश्च पीड्यमानश्च शत्रुभिः।

साधुषु व्ययपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ मनु. 7.168

आचार्य मनु ने इन सब गुणों के प्रयोग का समय इस प्रकार बताया है-

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।

तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत्॥

यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।

परस्य विपरीतं च तदा यथाद्रिपुं प्रति॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।

तदासीत् प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।

तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।

तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ मनु. 7.169-174

राजा यदि समझे कि भविष्य में अपनी वृद्धि निश्चित है, तब तत्काल सामान्य हानि होने पर भी शत्रु राजा से सन्धि कर ले। जब समझे कि अपनी सारी प्रकृति पूर्णरूप से संतुष्ट है और शत्रु की अपेक्षा सब प्रकार से अपना बल अधिक है, तब विग्रह करे। जब अपनी सेना को बलवान् तथा शत्रु सेना को इसके विपरीत समझे तब शत्रु पर आक्रमण करे। जब राजा अपने वाहन और सैन्यबल से क्षीण हो जाय तब साम आदि साधनों द्वारा शत्रु को दो भागों में विभक्त करके (अर्थात् कुछ सेना अपने साथ रखे और कुछ शत्रु से लड़ने के लिए भेजकर) अपना कार्य साधन करे। जब राजा अपने को शत्रु सेना के हाथ में जाने वाला ही समझे, तब वह शीघ्र ही किसी धार्मिक एवं बलिष्ठ राजा के आश्रय में चला जाए।

कौटिल्य के अनुसार

षाड्गुण्य के संबंध में आचार्य का मत उच्चकोटि का है। उनके अनुसार-

सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः। -प्र. 98-99, अ.-1

आचार्य का कहना है कि दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना संधि, शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह, उपेक्षा करना आसन, चढ़ाई करना यान, आत्मसमर्पण करना संश्रय और संधि-विग्रह दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है। यही छः गुण हैं-

“तत्र पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्, अभ्युच्चयो यानं, परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः॥” -प्र. 98-99, अ.-1

शत्रु की तुलना में अपने को निर्बल समझने पर संधि कर लेनी चाहिए। यदि शत्रु की तुलना में स्वयं को बलवान् समझा जाय तो विग्रह कर लेना चाहिए। यदि शत्रुबल और आत्मबल में कोई अंतर न समझे तो आसन को अपना लेना चाहिए। यदि स्वयं को सर्वसम्पन्न और शक्तिशाली समझे तो चढ़ाई कर देनी चाहिए। अपने को निराशक्त समझने पर संश्रय से काम लेना चाहिए तथा सहायता की अपेक्षा समझे तो द्वैधीभाव का आश्रय लेना चाहिए-

“परस्माद्धीयमानः सन्दधीत्। अप्युच्चीयमानो विग्रहणीयात्। न मां परो नाहं परमूपहन्तु शक्त इत्यासीत्। गुणातिशययुक्तो यायात्। शक्तिहीनः संश्रयेत्। सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभाव गच्छेत्॥” -प्र. 98-99, अ.-1

शुक्रनीति के अनुसार

आचार्य के अनुसार सन्धि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय और द्वैधीभाव इन छः मंत्रों के गुणों का बोध राजा को हाना चाहिए-

सन्धिं च विग्रहं यानमासनं च समाश्रयम्।

द्वैधीभावं च सविद्यान्मंत्रस्यैतांस्तु षड्गुणान्॥ -शुक्रनीति, 4.7.234

1. सन्धि- अतिशक्तिशाली शत्रु भी जिस काम से मित्र बन जाय, उसे सन्धि कहते हैं-

याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रतां याति वै रिपुः।

सा क्रिया सन्धिरित्युक्ता विमृशेत् तां तु यत्नतः॥ -शुक्रनीति, 4.7.235

साथ ही, बलवान् शत्रु से आक्रमित होकर विपत्ति में घिरा प्रतिकार शून्य असहाय राजा को अपने अच्छे समय की प्रतीक्षा करते हुए उससे सन्धि कर लेनी चाहिए-

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः।

आपन्नः सन्धिन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम्॥ -शुक्रनीति, 4.7.239

2. विग्रह- जिस काम से शत्रु पीड़ित होकर अधीनता कबूल कर ले, उसे विग्रह कहते हैं-

विकर्षितः सन् वाघीनो भवेच्छत्रुस्तु येन वै।

कर्मणा विग्रहस्तं तु चिन्तयेन्मन्त्रिभिर्नृपः॥ -शुक्रनीति, 4.7.236

साथ ही, जो राजा विपत्ति में घिरकर दूसरों से पीड़ित होते हुए भी पुनः यदि अपना अभ्युदय चाहता है तो देश, काल और उपयुक्त बल मिलते ही युद्ध प्रारंभ कर देना चाहिए। कमजोर सैन्यबल वाले दुर्बल राजा को प्रबल शक्तिशाली वीर राजा के साथ युद्ध बिल्कुल नहीं करना चाहिए-

बलीयसात्यल्पबलः शूरेण न च विग्रहम्।

कुर्याद्धि विग्रहे पुंसां सर्वनाशः प्रजायते॥ -शुक्रनीति, 4.7.253

3. **यान-** अपनी मनोवांछित वस्तु की सिद्धि के लिए तथा शत्रुओं के विनाशार्थ चढ़ाई को यान कहते हैं-

शत्रुनाशार्थगमनं यानं स्वाभीष्टसिद्धये। -शुक्रनीति, 4.7.237

आंख की तरह राजा दोनों ओर काम करे।

यान पांच प्रकार का होता है- विगृह्ययान, संधाययान, संभूययान, प्रसङ्गयान तथा उपेक्षायान-
विगृह्य सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गत।

उपेक्षया च निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम्॥ -शुक्रनीति, 4.7.255

4. **आसन-**

स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत् स्थानात् तदासनम्। -शुक्रनीति, 4.7.237

जहां पड़े रहने से आत्मरक्षा एवं शत्रु-विनाश की संभावना हो, उसे आसन कहते हैं। जहां से शत्रु सेना पर तोप, गोली आदि चलाकर उसे छिन्न-भिन्न किया जा सके, वहां सेना के साथ राजा के टिकने को आसन कहते हैं। साथ ही, घास, अनाज, पानी, प्रकृति, आवश्यक सामग्री तथा शत्रुसेना के लिए अन्य उपयोगी वस्तुओं को घेरा डालकर बहुत दिनों तक चारों ओर से राजा के द्वारा रोककर शत्रु सेना तक न पहुंचने देना आदि कार्य आसन द्वारा संभव है-

यन्त्रास्त्रैः शत्रुसेनाया भेदो येभ्यः प्रजायते।

स्थलेभ्यस्तेषु सन्तिष्ठेत् ससैन्यो ह्यासनं हि तत्॥

तृणान्नजलसम्भारा ये चान्ये शत्रुपोषकाः।

सम्यङ्निरुध्य तान् यत्नात् परितश्चिरमासनात्॥ -शुक्रनीति, 4.7.285-286

5. **द्वैधीभाव-** अपनी सेना को टुकड़ियों में बांटकर रखने की स्थिति को द्वैधीभाव कहते हैं-

द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः। -शुक्रनीति, 4.7.238

समयानुसार कार्य करने वाला राजा शत्रुसंकट से बचने का जब तक कोई उपाय निश्चित न कर ले, तब तक कौवे की एक आंख की तरह अलक्षित होता हुआ व्यवहार करे-

अनिश्चितोपायकार्यः समयानुचरो नृपः।

द्वैधीभाव वर्त्तेत काकाक्षिवदलक्षितम्॥

प्रदर्शयेदन्यकार्यमन्यमालम्बयेच्च वा॥ -शुक्रनीति, 4.7.291

6. **आश्रय-** शक्तिहीन जिस शक्तिशाली की शरण में जाकर शक्तिसम्पन्न बन जाता है, उस प्रबल राजा को आश्रय कहते हैं-

यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद् दुर्बलोऽपि स आश्रयः। -शुक्रनीति, 4.7.238

जब किसी शक्तिशाली राजा द्वारा राज्य विनष्ट की स्थिति में आ जाए तो किसी कुलीन, दृढ़-प्रतिज्ञ, शक्तिशाली अन्य राजा की शरण लेनी चाहिए।

उच्छिद्यमानो बलिना निरूपाय प्रतिक्रियः।

कुलोद्भवं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम्॥ -शुक्रनीति, 4.7.289

कामन्दक नीतिसार के अनुसार

आचार्य ने षाड्गुण्य के अन्तर्गत सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं समाश्रय की गणना की है।

1. **सन्धि**- शत्रु के द्वारा आक्रमण करने पर तथा उस समय अपनी शक्ति क्षीण होने की स्थिति में स्वशक्तिपूरणार्थ कालयापन के उद्देश्य से सन्धि करनी चाहिए-

बलिना विगृहीतः सन् नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः।

आपन्नः सन्धिमन्विमच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम्॥ -का. नीतिसार, 9.14.1

सन्धि के षोडश भेद माने जाते हैं- कपाल, उपहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मामिष, उपग्रह, परिक्रयत, परदूषण, स्कन्ध, उपनेय आदि। इसके अवान्तर भेद भी हैं।

2. **विग्रह**- असहिष्णु तथा शरीरद्रव्य पीड़न आदि दुःखों से व्यथित संसार में एक-दूसरे के अपकार करने का लक्षण ही विग्रह है। आत्माभ्युदय की आकांक्षा करने वाले राजा को देश, काल, बल आदि के स्व-अनुकूल होने पर ही विग्रह करना चाहिए-

अमर्षोपगृहीतानां मन्युसन्तप्तचेतसाम्।

परस्परपकारेण पुंसां भवति विग्रहः॥

आत्मनोऽभ्युदयाकांक्षी पीड्यमानः परेण वा।

देशकालबलोपेतः प्रारभेतैव विग्रहम्॥ -का. नीतिसार, 10.15.1-2

वैर के पांच भेद हैं- सापत्न, वास्तुज, स्त्रीज, वाग्ज और स्वपराधजनित अपराध। इसके अतिरिक्त भूमि-विवाद, सीमा-विवाद, मंत्र प्रभु एवं उत्साह शक्ति के कारण उत्पन्न विवाद तथा द्वादश मण्डल के कारण उत्पन्न विवाद भी हैं। इस वैर को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है- पैतृक और अपराधजनित-

सापत्नं वास्तुजं स्त्रीजं वाग्वाजतमपराधजम्।

वैरप्रभेदनिपुणैर्वैरं पञ्चविधं स्मृतम्॥

जातं भूम्यपरोधेन तथा शक्तिविघातजम्।

भूम्यनन्तरजातं च मण्डलक्षोभजं तथा॥

चतुर्विधं वैरजातं बाहुदन्तिसुतोऽब्रवीत्॥ -का. नीतिसार, 10.15,16-18

3. **यान**- शत्रु से शक्तिशाली, देशकाल और बल के अपने अनुकूल होने पर तथा अमात्यादि के अपने में अनुरक्त रहने पर ही शत्रु पर आक्रमण करना यान कहलाता है-

उत्कृष्टबलवीर्यस्य विजिगीषोर्जयैषिणः।

गुणानुरक्तप्रकृत्यैत्रा यानमिति स्मृतम्॥ -का. नीतिसार, 11.16.1

यान पांच प्रकार का होता है- विगृह्ययान, सन्धाययान, सम्भूययान, प्रसङ्गयान और उपेक्षयान।

विगृह्य सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गतः।

उपेक्षा चेति निपुणैर्यानां पञ्चविधं स्मृतम्॥ -का. नीतिसार, 11.16.2

4. **आसन**- यदि शत्रु शक्तिशाली हो तो उससे विग्रह न कर उसकी उपेक्षा करना ही आसन है। यह पांच प्रकार का है- विगृह्य आसन, सन्धाय आसन, सम्भूयासन, प्रसङ्ग आसन और उपेक्षासन।

परस्परस्य सामर्थ्याविधातादासनं स्मृतम्।

अरेश्च विजिगीषोश्च तत् पञ्चविधमुच्यते॥ -का. नीतिसार, 10.16.12

5. **द्वैधीभाव-** एक समय दो तरह का आचरण या व्यवहार द्वैधीभाव कहलाता है। शक्तिशाली शत्रु द्वारा घिर जाने पर वचन से समर्पण करना, किन्तु कर्मणा विजय के लिए प्रयत्न करना ही द्वैधीभाव है। अर्थात् सेना के एक भाग को लेकर आत्मसमर्पण करना तथा दूसरे भाग द्वारा आक्रमण करना ही द्वैधीभाव कहलाता है। द्वैधीभाव का आश्रय लेने वाले राजा की दृष्टि काग की तरह होनी चाहिए। काग जिस तरह एक ही समय में अपने दक्षिण और वाम भाग को एक साथ देखता है, उसी प्रकार राजा को भी दृष्टि रखनी चाहिए-

बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयेत्।

द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः॥ -का. नीतिसार, 11.12.23

द्वैधीभाव दो प्रकार का होता है- स्वतंत्र और परतंत्र।

6. **संश्रय-** जब किसी शक्तिशाली राजा द्वारा राज्य विनष्ट की स्थिति में आ जाय तो किसी कुलीन, दृढ़-प्रतिज्ञ शक्तिशाली अन्य राजा की शरण में जाना संश्रय या आश्रय कहलाता है-
उच्छिद्यमानो बलिना निरूपाय प्रतिक्रियः।

कुलोद्गतं सत्यकार्यमाश्रयेत बलीत्कटम्॥ -का. नीतिसार, 11.16.27

षाड्गुण्य के अन्तिम गुण को किसी आचार्य ने समाश्रय, तो किसी ने संश्रय, तो किसी ने आश्रय माना है, किन्तु वस्तुतः समाश्रय, संश्रय या आश्रय का यहां एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहां केवल उपाधि भेद है। अतः इसको पृथक्-पृथक् न मानकर एक ही गुण मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त षाड्गुण्य के अन्य गुणों के उपाधि और अर्थ में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों में हमें मतपार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विभिन्न प्राचीन राजनीतिशास्त्र के ग्रंथों में षाड्गुण्य से सम्बद्ध जिन विषयों का विवेचन किया गया है, उनका समग्रतापूर्वक और सूक्ष्मतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है। प्रतिपादित तत्वों के आलोक में जो राजा अपने राज्य का संचालन करता है, निश्चित रूप से उसका राज्य सर्वदा सुरक्षित रहेगा।

स्मृति ग्रंथों में पराशर स्मृति का स्थान एवं महत्व

मनोज कुमार सिंह

शोध छात्र, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

धर्मप्राण भारतीय समाज की समस्त सामाजिक व्यवस्थाएँ धर्म के साथ सम्पृक्त होकर मानव के लिए मार्ग प्रदर्शन का कार्य करती हैं। वेद भारतीय साहित्य और संस्कृति के अमूल्य निधि हैं। ये मानव को समाज के अनुकूल आचरण करने की शिक्षा प्रदान करते हैं। किन्तु ये मानवों के आचार को सुव्यवस्थित ही नहीं करते बल्कि इनका प्रतिपाद्य क्षेत्र बहुआयामी है। स्मृति ने उन्हीं आचारगत नियमों से एकत्र कर उसको एक सुसम्बद्ध स्वरूप प्रदान किया। वेदों अथवा श्रुतियों के सिद्धान्तों की इसमें व्याख्या हुई। कदाचित् इसी कारण से कालिदास ने 'रघुवंशम्' में स्मृतिग्रन्थों को श्रुतियों का अनुसरण करने वाला कहा है- 'श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरनवगच्छत्।'

स्मृति शब्द स्मृ+क्तिन् से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य स्मरण और प्रत्यस्मरण आदि से है।² अतः स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा धार्मिक साहित्य है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी 'स्मृति' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्मृति शब्द को श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग किया गया है। पुरातन काल में लेखन परम्परा की अनुपलब्धता के कारण ऋषि अर्जित ज्ञान से अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देते थे। यह परम्परा कुछ काल तक अनवरत रूप से चलती रही। शिष्य को सुनाकर कण्ठस्थ करा दिए जाने के कारण से श्रुति परम्परा का ग्रन्थ माना गया। इस परम्परा के अन्तर्गत चारों वेद आते हैं। किन्तु स्मृति शब्द का प्रयोग ऋषि प्रकाशित अथवा ऋषि दृष्ट वाङ्मय (श्रुति) से भिन्न अर्थ के लिए हुआ है।³ इसका सीधा तात्पर्य स्मरण से है। स्मृति का श्रुति परम्परा से स्पष्ट भेद किया जा सकता है। स्मृति स्मरण शक्ति को प्रभावित करती है। इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती है।⁴

स्मृति शब्द से पारिभाषिक और सामान्य दोनों अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। गौतम और बोधायन ने स्मृति को 'वेद को जानने वालों का स्मरण' माना है।⁵ पूर्ववर्ती आचार्यों की व्याख्या को स्वीकार करते हुए मनु ने भी स्मृति शब्द का अर्थ 'वेदज्ञों का स्मरण' माना और उसका प्रयोग धर्मशास्त्र के अर्थ में किया है।⁶ धर्मशास्त्रकारों का ये विचार अत्यन्त संकुचित प्रतीत होता है।

पी.वी. काणे ने स्मृति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। उनके मतानुसार 'स्मृति का तात्पर्य वेद वाङ्मय से इतर ग्रंथों – तथा पाणिनीय + व्याकरण, श्रौतसूत, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों, महाभारत, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य ग्रंथों से है।'⁷ किन्तु सामान्यतः स्मृति का तात्पर्य संकुचित अर्थ में केवल स्मृति ग्रंथों से ही लिया जाता है तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि।

स्मृति ग्रंथों की प्राचीनता और परम्परा के सम्बन्ध में निर्णायक रूप से कुछ कह पाना बड़ा कठिन है। उपलब्ध स्मृति ग्रंथों में अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भी अन्य ग्रंथों तथा विदेशियों के यात्रा वृत्तान्तों में विविध स्मृति-ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। अलबेरूनी के अनुसार स्मृति वेद से उद्भूत है। ब्रह्मा के बीस पुत्रों ने बीस स्मृति ग्रंथों की रचना की। वे इस प्रकार हैं—

आपस्तम्ब, पराशर, शतपथ (शातातप), सामवर्त, दक्ष, वशिष्ठ, अंगिरस, यम, विष्णु, मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, हारीत, लिखित, शंख, गौतम, बृहस्पति, कात्यायन, व्यास और उशनस्।

मनु और याज्ञवल्क्य की तरह पराशर ऋषि का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वे शत्यातु और वशिष्ठ के साथ उल्लिखित हैं। पराशर नाम अति प्राचीन है। तैत्तिरीय आरण्यक एवं बृहदारण्यक (वंश में) में क्रमशः व्यास पराशर्य एवं पाराशर्य नाम की चर्चा है। निरुक्त उन्हें वशिष्ठ का पुत्र बतलाया है। पाणिनि के अनुसार भी भिक्षुसूत्र नामक ग्रंथ पराशर-कृत् है। पराशर स्मृति की भूमिका में यह स्पष्ट कहा गया है कि ऋषि लोग ने व्यास के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे कल्युग में मानवों के लिए आचार-सम्बन्धी धर्म की बातें बतायें। व्यास जी उन्हें बदरिकाश्रम में शक्तिपुत्र अपने पिता पराशर के पास ले गए और पराशर ने उन्हें वर्णधर्म के विषय में बतलाया। अतः पराशर स्मृति एक अति प्राचीन स्मृति है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने प्राचीन धर्मवेत्ताओं के रूप में पराशर की गणना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपलब्ध प्रति प्राचीन प्रति का संशोधित रूप है गरूडपुराण ने पराशर स्मृति के 39 श्लोकों सारांश लिया है। तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि पराशर के श्लोकों का अक्षरशः अथवा कुछ परिवर्तन के साथ आशय लिया गया है।⁸ कौटिल्य ने पराशर या पराशरों के विचारों का छः बार दिग्दर्शन कराया है। पराशर ने राजनीति पर भी लिखा था इससे यह स्पष्ट हो जाता है। महाभारत में पराशर व्यास के पिता के रूप में चित्रित है। एतदर्थ व्यास को पराशर्य अथवा पाराशरि कहा जाता है। अतः पराशर स्मृति पर्याप्त प्राचीन है।

पराशर का काल-निर्णय विवादास्पद है। डॉ. पी.वी. काणे ने लिखा है कि 'विश्वरूप मिताक्षरा अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि ने पराशर को अधिकतर उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि नवीं शताब्दी में यह स्मृति विद्यमान थी। इसे मनु की कृतिका ज्ञान था।

अतः यह प्रथम शताब्दी तथा पांचवीं शताब्दी के मध्य में कभी लिखी गई होगी।⁹ पिछले पृष्ठों में यह कहा गया है कि स्मृतियों का पौर्वाचर्य का निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। एतदर्थ उनका काल भी विवाद के जाल में फँस जाता है। इसका प्रमुख कारण एक ही नाम से भिन्न-भिन्न ग्रंथों में पाया जाता है। पराशर के काल-निर्णय में प्रायः सभी ने डॉ. काणे के मत का समर्थन किया है। अतः इनका मत अत्यधिक समीचीन प्रतीत होता है।

पराशर नाम पर कई स्मृति ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। एक बृहत्पराशर-संहिता भी है जिसमें बारह अध्याय और 3300 श्लोक हैं। लेकिन यह बाद की रचना प्रतीत होती है। यह पराशर स्मृति का संशोधन है। इसमें विनायकस्तुति की गई है। इस संहिता को मिताक्षरा, विश्वरूप या अपरार्क ने उद्धृत नहीं किया है। लेकिन चतुर्विंशति मत के भाष्य में भट्टोजिदीक्षित तथा दत्तकमीमांसा में नंद पण्डित ने इससे उद्धरण लिया है। अपरार्क के द्वारा एक पराशरनामी स्मृति का उल्लेख है जिसे वृद्धपराशर कहा जाता है। किन्तु यह पराशरस्मृति एवं बृहत्पराशर से भिन्न स्मृति है। हेमाद्रि और भट्टोजिदीक्षित द्वारा ज्योति पराशर का उल्लेख है जिससे वे उद्धरण लिए हैं। परन्तु पराशर स्मृति के नाम से जो मान्य स्मृति ग्रंथ है उसमें बारह अध्याय तथा 593 श्लोक हैं। इसमें चातुर्वर्ण्यचारादि कथन, सभी वर्णों का साधारण धर्म निरूपण आचार एवं विधि प्रकार के प्रायश्चित्त का विवेचन है। इस ग्रंथ का कई बार प्रकाशन हो चुका है। इस पर माधव की विस्तृत टीका अधिक प्रसिद्ध है। पराशर ने अन्य 19 स्मृतिकारों का नाम गिनाया है।

पराशर में कुछ विलक्षण बातें पायी जाती हैं— केवल चार प्रकार के पुत्र (औरस, क्षेत्रज, दत्त और कृत्रिम)। यद्यपि यह ग्रंथ से स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे अन्यों को नहीं मानते। सती-प्रथा की

उन्होंने खूब स्तुति की है। पराशर ने अन्य धर्मशास्त्रों के मतों की चर्चा की है। मनु का नाम कई बार आया है। बौधायन धर्मसूत्र की बहुत सी बातें पायी जाती है। पराशर ने उशाना, प्रजापति, वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र स्मृति आदि की स्थान-स्थान पर चर्चा की है।

पराशरस्मृति के रचयिता पराशर एक प्राचीन ऋषि हैं, लेकिन उनके नाम से उपलब्ध स्मृति बाद की रचना प्रतीत होती है। पराशर ने अपने स्मृतिग्रंथ में आचार और प्रायश्चित्त का विशद् विवेचन किया है, किन्तु दैनंदिन जीवन के लिए सर्वथा उपयोगी व्यवहार पक्ष को लगभग छोड़ दिया है। मानवों के लिए अकार्य श्रेणी के विषयों की विवेचना विस्तृत रूप से हुई है। वस्तुओं की उपादेयता और हेयता का भी विस्तृत वर्णन है। कौन-सा आचरण स्वीकार्य है और कौन-सा त्याज्य अथवा कौन-सा वस्तु ग्राह्य और अग्राह्य है इस विषय का प्रतिपादन सम्यक् ढंग से हुआ है। राजा के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'क्षत्रिय को चाहिए कि प्रजा की रक्षा करे। हाथ में शस्त्र धारण किए ही रहे। दण्ड भलीभाँति दे और दूसरे की सेनाओं को जीतकर धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करें।

क्षत्रियो हि प्रजारक्षन् शस्त्रप्राणिः प्रदण्डवान्।

निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

इसी क्रम में उन्होंने लक्ष्मी को कुक्रमानुगत न मानकर शस्त्रोपार्जित माना है और वीरभोग्या वसुन्धरा का सिद्धान्त स्थापित किया है—

न श्रीः कुलक्रमाज्जाता भूषणोल्लिखिताऽपि वा।

खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या वसुन्धरा।¹⁰

वैश्यों और शूद्रों की वृत्तियों का भी पराशर ने उल्लेख किया है। कृषि कार्य करने वाले लोगों के लिए यह विधान बतलाया गया है कि किस प्रकार के पशुओं को हल में जोते और किस प्रकार को नहीं जोते। मद्य और मांस बेचने अभक्ष्य के भक्षण करने और अगम्य स्त्री का गमन करने से शूद्रों का पतन हो जाना और वेद अक्षरों का विचार करने से नरकगामी होना (शूद्रस्य नरक ध्रुवम्) इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मनु की तरह ये भी उनके प्रति अधिक कठोर हैं। यह संकेत व्यवस्थाओं में तो परिलक्षित होते ही हैं, सांस्कृतिक सामग्री में भी झलकते हैं। ये शासन व्यवस्था और राजनीति, धार्मिक विश्वास और सम्प्रदाय, सामाजिक स्थिति, आर्थिक जीवन, शिक्षा पद्धति आदि अनेक क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं।

लेकिन इस आरोप का परिष्कार किया जा सकता है। विधि और विधान किसी काल की सांस्कृतिक परिस्थितियों को परिलक्षित करने में कितने समर्थ होते हैं यह विचारणीय है विधि में एक आदर्श विधान होता है जो भविष्य की गतिविधियों और परिस्थितियों को नियमित करने का प्रयास करता है। विधि, देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप होती है। वह कल्पना लोक में नहीं विचरती। अतीत के परिवर्तन और विकास के परिणामस्वरूप ही ये होते हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि — 'वे तत्कालीन यथार्थ से सीधे जुड़े होते हैं। वे समकालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही बनाये जाते हैं। विधि की व्यवस्था कदम-कदम पर अपने काल की दिशा की ओर संकेत करती है, उसी को व्यवस्थित और नियमित करना चाहती है। इस काल की दशा की पृष्ठभूमि में ही उसे हम समझ सकते हैं।'¹¹

अकार्य कृत्तियों के किए जाने पर उसका प्रायश्चित्त और दण्ड का विस्तार से उल्लेख पराशर ने किया है। संभव है उनके समय तक सामाजिक परिस्थितियों के कारण सती-प्रथा की अनिवार्यता हो गयी हो। मानवों के दैनंदिन जीवन के पक्षों का विस्तृत उल्लेख करने के कारण समाज ने पराशरस्मृति

को कलियुग के लिए प्रधानस्मृति मान लिया – कलौ पराशर स्मृतः। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मनु और याज्ञवल्क्य की महत्ता अधिक है फिर भी अन्य स्मृतिकारों में पराशर महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

संदर्भ सूची:

1. रघुवंशम् सर्ग-2 श्लोक 2
2. वी.एस.आम्टे – संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 1153
3. याज्ञवल्क्यस्मृति (अनु. – उमेशचन्द्र पाण्डेय), पृ. 27
4. अल्फ्रेक्ट, बेबर, भारतीय साहित्य (अनु. – उमेश चन्द्र पाण्डेय) इलाहाबाद, 1968, पृ. 11
5. गौतमधर्मसूत्र 1-2, बौधायनधर्मसूत्र-1-1-3
6. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रः तु वे स्मृतिः। मनु-2-10 मनु ने स्मृति शब्द को धर्मशास्त्र के पर्याय में रखकर उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया। तैत्तिरीय आरण्यक (1-2) एवं पूर्व मीमांसा 6-8-23, 12-4-24 में स्मृतिशब्द कुछ व्यापक अर्थ में आया है। वेदान्तसूत्र में भी 'स्मृति' का व्यापक अर्थ लेते हुए उसमें सांख्यदर्शन को भी ग्रहण किया गया है। वेदान्त सूत्र 3-1-14-21, 4-2-14
7. पी.वी. काणे – धर्मशास्त्र का इतिहास भाग - 1, पृ. 40
8. गरुडपुराण अध्याय-107
9. धर्मरत्नसूत्र का इतिहास भाग - 1, पृ. 55
10. पराशरस्मृति अध्याय-1, श्लोक-66-67
11. डॉ. राजदेव दूवे – स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति प्राक्कथन-पृ. 6

शिक्षामनोविज्ञाने स्थितप्रज्ञः

रूद्रनारायण नरसिंह मिश्र

व्याख्याता, देव शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, टोंक, राजस्थान

भारतीयदर्शने मनोविज्ञानाधारितानि आत्मविज्ञान-सिद्धान्तपोषकानि विविधानि प्रमाणानि समुपलभ्यन्ते। 'जीवः जगतः प्रतिनिधिभूतः' इति भारतीयदर्शनसिद्धान्तः फलति। योगदर्शनेऽपि मनोविज्ञानस्य सिद्धान्ताः निरूपिताः। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति प्रथमसूत्रेणैव स्पष्टं भवति यत् मनसः वृत्तीनां निरोधः योगः इति। एतदेव श्रीमद्भगवद्गीतायां वर्ण्यते। तद्यथा-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

दर्शनशास्त्रं यथा चित्तवृत्तीनाम् अध्ययनं करोति, तद्वत् मनोविज्ञानमपि चित्तवृत्तीनाम् अध्ययनं करोति। मनोविज्ञाने एव व्यक्तेः बालकस्य वा चिन्तनप्रत्यक्षीकरणकल्पनास्मृतिप्रवृत्त्यादयः व्यापाराः तस्य वैशिष्ट्यं द्योतयन्ति। लोके तु येषां कायिकः वाचिकः मानसिकश्च व्यापारः एकरूपः, तेषां व्यक्तित्वं, बुद्धिः च प्रौढं महिमान्वितं भवति।

व्यक्तेः भाषणचेष्टादयः परिवर्तनशीलाः, अतः तदीयं विकासक्रमं नावलोक्य वयं किमपि निर्णेतुं नैव शक्नुमः। यः व्यक्तिः स्वनिकटवर्तीतरपरिस्थितिपुरुषादिभिः सह विचारसंवेगप्रवृत्त्यादिप्रदर्शनेन स्थायिप्रतिक्रियां प्रदातुं समर्थो भवति, स्थायि प्रतिक्रियां वा समारभते, तदैव वयं तस्य व्यक्तित्वसमारम्भः जातः इति कथयामः।

मनुष्य मानसिकद्वन्द्वात्मकपरिस्थितौ विचारविमर्शानन्तरं चिन्तनान्तरं वा यस्याः प्रवृत्त्याः क्रियायाः वा चयनं करोति, सः तस्यानुसारमेव कार्यं करोति। द्वन्द्वात्मकपरिस्थितौ यदा एकाधिकाः इच्छाः प्रकाशनाय बलं प्राप्नुवन्ति, तदा व्यक्तेः सम्मुखे प्रश्नम् आयाति किं कर्तव्यमिति? तदा सः संकल्पशक्त्या समादधति। संकल्पशक्त्याः क्रियायां व्यक्तेः व्यक्तित्वं निहितं भवति। व्यक्तित्वं हि चरित्रस्य आधारः भवति। संकल्पशक्तिः निम्नप्रवृत्तीनामुपरि विजयं प्राप्य उच्चप्रवृत्तीनां मार्गं प्रशस्तं करोति। दृढसंकल्प-शक्त्याः विषये मुक्तिकोपनिषदि कथितम्-

संकल्प एव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत्।

बन्धो हि वासना बन्धो मोक्षः स्याद् वासनाक्षयः॥

श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णेन प्रतिपाद्यते यद् आत्मबलाश्रयणेन आत्मोन्नतिर्जायते। अतः समत्वसम्पन्नः बुद्धियुक्तपुरुषस्य प्रशंसां कृत्वा अर्जुनं कर्मयोगस्य अनुष्ठानाय उपदिष्टवान्। तद्यथा-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

स्थिरबुद्धियुक्तपुरुषस्य विषये ज्ञानप्राप्त्यर्थम् अर्जुनः श्रीकृष्णं प्रश्नं पृष्ठवान्। स्थिरप्रज्ञस्य का भाषा? स्थितधीः किं प्रभाषेत? तद्यथा-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

स्थिरबुद्धियुक्तः पुरुषः दुःखेषु शोककातुरः न भवेत्, सुखेषु तल्लीनः न भवेत्, शुभाशुभप्राप्तेषु सुखदुःखादिपरिस्थितिषु च स्थिरः भवति इति। सः 'मुनिः' इति कथ्यते। तद्यथा-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

एवञ्च-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

मनसः एवम् इन्द्रियस्य संयमः भवति भगवत्परायणेन। यस्य व्यक्तेः इन्द्रियस्य विजयः भवति, सः पुरुषः प्रशंसायोग्यः भवति। तदेव मनोविज्ञानस्य व्यक्तित्वपरीक्षणेन, बुद्धिपरीक्षणेन च प्रमाणितः। एतदपि श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रतिपादितम्-

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अतः रागद्वेषतः रहितः सन् कर्मसम्पादने प्रसादस्य प्राप्तिः भवति, येन सर्वाणि दुःखानि विनश्यन्ति। तदेव वर्णितम्-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

पुनश्च-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

पुनरपि मनसः संयोगेन इन्द्रियं बुद्धेः हरणं करोति, तत् श्रीकृष्णेन इत्थम् उक्तम्-
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिबाम्भसि॥

मनोविज्ञाने एव जनः स्थिरबुद्धिः स्थितप्रज्ञः नाम्ना परिचितो भवति।

लोके न काचिदपि शक्तिस्तादृशी बलवती फलवती सकल सामर्थ्यवती च, यादृशी आत्मशक्तिः। आत्मशक्तैर्गौरवं न वर्णयितुं न वा पर्यालोचयितुं शक्यते। आत्मबलेनैव इच्छाशक्तेरुद्गमः। इच्छाशक्तेः प्रतापेन न केवलं भौतिकम् अभीष्टं पूर्यते, अपितु ईश्वरवाप्तिरपि तीव्रमनः संकल्पसाध्या। न बाह्या शक्तिः तथा मनावस्योपकर्त्री, कार्यसाधिका च, यथा आत्मशक्तिः, आत्मविश्वासः आत्मबलं च। आत्मबलसंग्रहे कृते सति दुष्करमपि सुकरम्, दुर्लभमपि सुलभम्, दुर्जयमपि सुजयं सम्पद्यते॥

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता
2. मुक्तिकोपनिषद्
3. शिक्षा मनोविज्ञान, पी.डी. पाठक
4. शिक्षा मनोविज्ञान, डॉ. एस. एस. माथुर
5. मनोविज्ञान और शिक्षा, डॉ. विपिन अस्थाना
6. उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, एस.पी. गुप्ता
7. शिक्षा मनोविज्ञान, एस. के. मङ्गल

प्राक् गुप्तकाल से मौर्यकाल तक की ललितकला

डॉ० सुनील कुमार तिवारी

विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, ति०मा०भा०वि०,
भागलपुर

श्री दीपक कुमार राय (छात्र)

एम०ए० (संगीत), स्नात्कोत्तर संगीत विभाग, ति०मा०भा०वि०, भागलपुर

चारों वेदों में सामवेद संगीतमय है। सामवेद में 64 कलाएँ हैं। उनमें सबसे सर्वश्रेष्ठ है ललित कला। ललित कला के अन्तर्गत पाँच कलाएँ आती हैं:- संगीत, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला। संगीत इन कलाओं में सबसे सर्वश्रेष्ठ है। संगीत की परिभाषा ही है:- “संगीत वह ललित कला है जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को प्रकट करते हैं।” प्रत्येक कला जैसे संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला में मानव अपने भावनाओं को व्यक्त तो कारते ही हैं लेकिन अंतर इस बात का है कि प्रत्येक में उसका माध्यम बदला करता है। अगर रंग, पेंसिल, कागज आदि के द्वारा भावों को स्पष्ट करते हैं तो चित्रकला की रचना होती है। इसी प्रकार यदि स्वर-लय के द्वारा अपने भावों को प्रकट करते हैं तो संगीत की रचना होती है। अतः स्पष्ट है कि कला का माध्यम बदलते ही कला का नाम बदल जाता है। जबकि साधारण बोलचाल की भाषा में संगीत का अर्थ केवल गायन से समझा जाता है, लेकिन संगीत जगत में गायन, वादन और नृत्य तीनों के समूह को संगीत कहते हैं। गायन, वादन और नृत्य इन तीनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल इतना ही नहीं, तीनों एक दूसरे के पूरक हैं। गायन, वादन और नृत्य की, वादन, गायन और नृत्य की, और नृत्य गायन और वादन के सहायता किया करता है। प्रस्तुत लेख में संगीत, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला पर विशेष प्रकाश डाला गया है। मौर्यकाल में वास्तुकला विशेष समृद्ध था।

प्राक् गुप्तकालीन संगीत

इतिहास के ईसवीय आरम्भिक शताब्दियों में जो संगीत की धारा प्रवाहित हुई उसमें पहला स्थान प्राक् गुप्तकालीन संगीत का है। प्राक् गुप्तकाल से तात्पर्य उस कालखंड से है, जो पंतजलि के बाद गुप्त-युग तक प्रसृत है। ईसवीय प्रथम से तीन शताब्दियों में संगीत विषयक सामग्री का अनुशीलन अभीष्ट है। इस समय के लिए संस्कृत में निबद्ध छोटे-मोटे शिलालेखों के अतिरिक्त विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस युग की प्रमुख घटनाओं में ईसवी प्रथम शताब्दि में भारत में कुषाणों का आगमन है। इनका आदिम स्थान चीन का उत्तर-पश्चिमी भाग रहा। कुषाणवंश के सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क ने पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया था। कनिष्क विद्वानों का आदर करते थे और इनकी सभा में संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्यकार एवं संगीतज्ञ, अश्वघोष का गौरवपूर्ण स्थान था। अश्वघोष के संबंध में जनश्रुति है कि यह गायकों का समूह बनाकर जनजन में संगीत द्वारा बौद्धतत्वों का प्रसार करते थे। राजा कनिष्क ने धर्म-प्रचार के लिए तिब्बत, मंगोलिया एवं खोतान जैसे सुदूर प्रदेशों में बौद्ध भिक्षुओं को भेजा था। ईसा के आरम्भिक सदियों में तामिल जैसे भारत के दक्षिण प्रदेश

पर चेर, चोल तथा पांड्य राजाओं का अधिराज्य हुआ। इसी समय के प्रतापी राजा चेर, सेंगुट्टुवन (लगभग 140-192) की यशगाथा समकालीन तामिल काव्य सिलप्पदिकारम् में मिलती है जो न केवल ऐतिहासिक ही महत्व रखती है वरन् संगीत शास्त्र के विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसी युग में दक्षिण भारत में नागजाति, कलाओं में पारांगत मानी जाती थी। इसी समय के प्रचीन तामिल साहित्य में ऐसे उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा इस युग में वर्तमान दक्षिणी भारत के संगीत का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है।

इस युग में भारत का सांस्कृतिक अधिराज्य न केवल भारत की चतुः सीमाओं तक ही सीमित रहा, वरन् सुदूर देशों तक फैल गया। भारत और रोम के साथ गहरा व्यापारिक संबंध इस युग तक हो चुका था तथा एशिया से लेकर हिन्द-चीन जैसे सुदूर-प्रदेश तक भारत के सांस्कृतिक आधिपत्य की स्थापना हो चुकी थी। इस युग की गंधार कला के अन्तर्गत पाई जाने वाली मूर्तियों तथा वाद्यों पर यूनानी प्रभाव के होने की बात बुधजनसम्मत है। मथुरा की मूर्तिकला में नर्तिकाओं की जो मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, उनपर भी वाह्य प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित है।

भारतीय नाट्यकला का प्रभाव वृहत्तर भारत के नाट्य प्रयोग पर वस्तु तथा शैली दोनों दृष्टियों से स्पष्टतः दिखाई देता है। कम्बोज (आधुनिक हिन्द-चीन) की रंगशाला “राम राम” के नाम से संबोधित थी तथा इस पर रामायण के अंश स्त्री तथा पुरुष नटों से अभिनीत किये जाते थे। (द० संस्कृत साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण पृ० 479-480, बलदेव उपाध्याय)

इस युग की मूर्तिकला तथा चित्रकला में संगीतायोजन के स्पष्ट चित्र उपलब्ध होते हैं। गान्धार की मूर्तिकला में तत्कालीन वाद्य एवं नृत्याभिनय के सजीव चित्र उपलब्ध हैं।¹ अजन्ता, अमरावती, नागार्जुनकुंड आदि स्थानों में सरोदाकार वीणा के दर्शन होते हैं जिससे स्पष्ट है कि इस प्रकार की वीणा का प्रचलन समस्त भारत में विद्यमान था (द० प्रबंध के अन्त में आ० 55, 56, 57, 58.)। सातवाहन युग की अमरावती कला में भित्तियों पर संगीतायोजन के दृश्य अंकित हैं, जिनके माध्यम से तत्कालीन वाद्यों का स्वरूप साक्षात् हो जाता है। उदाहरणार्थ एक चित्र में नायक नायिका का अनुनय करते हुए अंकित है तथा इसी के साथ गीत और नृत्य का आयोजन किया जा रहा है (नृत्य के साथ वंशी की संगति अंकित है)।² एक अन्य चित्र में मृगपक्ख, जातक की कथा अंकित है, जिसमें राजपुत्र की सन्निधि में गीत तथा नृत्य के साथ वृन्दवाद्य का आयोजन दर्शाया गया है। वाद्यों के अन्तर्गत कोण से बजाई जाने वाली दो वीणाएँ तुरही तथा मृदंग आदि स्पष्ट लक्षित होते हैं।³ अमरावती के भित्ति-चित्रों में ढोलक, मृदंग तथा पुष्कर के नानाविध प्रकार स्पष्टतः अंकित हैं।⁴ अमरावती शिल्प में अंकित एक संगीतायोजन में नृत्य के साथ वंशी तथा सरोदाकार वीणा का अंकन हुआ है।⁵ प्रतीत होता है कि वीणा का वादन कोण नामक वादन-दंड के द्वारा किया जा रहा है। इसी स्थान पर अन्यत्र बुद्ध की आराधना के समय पर पर वंशी शंख तथा तुरई जैसे वाद्यों का वादन अंकित है।⁶ अमरावती के एक अन्य भित्ति-चित्र में ‘अवरोध संगीत’ का दृश्य अंकित है, जिसके अन्तर्गत तीन महिलाएँ सरोदाकार वीणा बजा रही हैं, तीन या चार स्त्रियाँ ढोलक बजा रही हैं तथा अन्य तीन स्त्रियाँ वंशी बजा रही हैं। एक अन्य स्तंभ पर सिद्धार्थ के नगर निर्गमन के अवसर पर गीत, वाद्य तथा नृत्य का सामूहिक आयोजन अंकित है।⁷

इस युग तक भारत के सांस्कृतिक संबंध सुदूर तक विस्तृत हो चुके थे। कुची, चीन, जापान, वर्मा तथा अन्य दक्षिण एशियाई प्रदेशों के साथ सम्बन्ध-स्थापना के प्रचुर ऐतिहासिक प्रमाण इस कालखंड

में उपस्थित होते हैं। इसवी 2री शताब्दि से लेकर भारत की नाट्यकला का अनुकरण चीन में किया जाने लगा था। भारतीय नृत्यों के संबंध में प्रशंसापूर्ण उल्लेख प्राचीन चीनी साहित्य में उपलब्ध हैं। भारत तथा चीन के परस्पर आदान-प्रदान में भारतीय वाद्ययंत्रों को चीन में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।⁸ एले डेन्युला के अनुसार (तुम्बरू वीणा अथवा तानपूरा का चीनी रूपान्तर तानपुला है)

- (1) द० संगीत ओ संस्कृति, भाग-1, प्रजानानन्द, चित्रावलि, पृ० 13 तथा 34।
- (2) द० स्कल्प्चर इन्स्पायर्ड बाय् कालिदास, सी० शिवराम मूर्ति, प्लेट 44।
- (3) द० स्लेटा क्रेमरिश कृत 'आर्ट आफ इंडिया पृ दि एजेस आ०-33
- (4) द० संगीत ओ संस्कृति, भाग-1, प्रजानानन्द, चित्रावलि, पृ० 78
- (5) द० स्कल्प्चर इन्स्पायर्ड बाय् कालिदास, सी० शिवराम मूर्ति, पृ० 24, 28 तथा 31
- (6) द० प्रबंध के अंत में आ० 59, 60, तथा 61
- (7) द० 'क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर' कार कृत, आकृति 78 तथा 79
- (8) प्रा० इन्ट्रोडक्शन् टु म्यूजिकल स्केल्स। भा० सं० का इतिहास page 478 - 479, परांजपे।

उपर्युक्त क्रम संख्या 6 की सभी आकृतियाँ, भारतीय संगीत का इतिहास, डॉ० एस०सी० परांजपे की पुस्तक में उपलब्ध है।

गुप्त युग वैदिक धर्म एवं सनातन संस्कृति के पुनरुज्जीवन का युग था इसके पूर्व विदेशियों के एकाधिकार आक्रमणों के कारण तथा बौद्धों के सार्वत्रिक प्रचार के कारण वैदिक व्यवस्था पूर्ण रूपेण छीन-भिन्न हो चुकी थी। इसकी पुनः प्रतिष्ठापना का श्रेय गुप्तवंशीय नरेशों को है। समुद्रगुप्त के काल में वैदिक यज्ञपरम्परा का पुनः प्रवर्तन हुआ, इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है। इनके द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ में वैदिक गान-परम्परा का अनुसरण किया गया हो, यह कहने में आपत्ति नहीं। इस स्थिति में परम्परागत साम गान का पुनरुद्धार हुआ। भगवान विष्णु की उपासना में सप्तविध साम का उल्लेख कालीदास ने रघुवंश में किया है।

गुप्त राजाओं की संगीत-प्रियता में उनके जन्मजात संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। गुप्त राजाओं में प्रथम उल्लेख योग्य पुरुष चन्द्रगुप्त प्रथम (ई० 320-335) हैं, जिन्होंने गुप्त साम्राज्य की प्राण प्रतिष्ठा की। जिनका विवाह लिच्छवी वंश की राजकुमारी से हुआ था, जो कि कलात्मक संस्कार की दृष्टि से उल्लेखयोग्य है। लिच्छवी वंश की अभिजात कला प्रियता बौद्ध साहित्य से सुतराम् स्पष्ट है। इस वंश की राजधानी वैशाली अपने लोकोत्सव तथा संगीत कला कुशल वारांगनाओं के लिए प्रसिद्ध रही है। मगध देश भी वैदिक काल से सुकंठ चारणों का आश्रय स्थान रहा है।

1. महाभारत में मगध देश को वैश्याओं का प्रदेश कहा गया है (कर्ण पर्व 38/18)। अंगप्रदेश का सूत राजा कर्ण अपनी सेवाओं के बदले में मगध की संगीतनिपूण वेश्याओं को पुरस्कार के रूप में देता था (द० प्राङ्मौर्य बिहार, त्रिवेदी)। तथा द० तैत्ति० ब्रा० (3/4/1/1) मानव धर्म शास्त्र 10/47 वायु पुराण (62/147) तथा ब्रह्मपुराण (4/67) भा० सं० का इतिहास पृ० 481, परांजपे।

गीतियों के मागधी तथा अर्धमागधी नामक प्रकार सम्भवतः इसी भूमि के लोकगीतों से सम्बद्ध रहे हैं। इन्हीं संस्कारों की परिणति आनुवांशिक रूप से समुद्रगुप्त की अत्यधिक संगीत प्रियता में दृढ़मूल महुई हो, तो आश्चर्य नहीं। हरिषेण कृत "समुद्रगुप्त प्रशस्ति" (ई० 4) में महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की संगीत कुशलता का उल्लेख प्राप्त है। महाराज समुद्रगुप्त जैसे 'कविराज' थे, वैसे ही गान्धर्वकुशल थे। अपनी संगीत कुशलता से संगीत के प्रतिष्ठित आचार्य तुम्बरू तथा नारद को भी

लज्जावन्त करने के सम्बन्ध में उनकी ख्याति थी। महाराज समुद्रगुप्त संगीत कला के विशेषज्ञ थे तथा उनके राज्य में संगीत कला को पर्याप्त प्रोत्साहन एवं संगीतज्ञों को पुरस्कार दिया जाता था।

समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन (ई० 385-413) भारतीय इतिहास की महनीय घटनाओं में से है। उनके शासन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष एक सुदृढ़ शासन सूत्र में आबद्ध हुआ तथा शान्ति एवं समृद्धि का साम्राज्य सर्वत्र स्थापित हुआ। शान्ति तथा समृद्धि में ही कलाओं का यथार्थ पल्लवन होता है। इस दृष्टि से काव्य, नाटक, संगीत, चित्र, आदि सभी ललित कलाओं की प्रचुर श्रीवृद्धि इस काल खण्ड में सम्पन्न हुई। इन्हीं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में कालीदास, अमरसिंह इत्यादि विद्वानों की गणना है। इस युग के साहित्य तथा कलाविषयक सामाग्री से प्रमाणित है कि तत्कालीन राजभवनों में संगीतशाला का प्रबन्ध रहता था। जिसमें अधिकारी आचार्यों को संगीत तथा नाट्य की शिक्षा देने के लिए उच्च वेतन पर नियुक्त किया जाता था। बाण के हर्षचरित में राजभवन के अन्तर्गत 'संगीत गृह' का उल्लेख है, जो राजप्रसादों का आवश्यक अंग रहा है। राजप्रसादों की जिस रचना का उल्लेख बाण में है, उसकी परम्परा ईसवी 7 से पूर्वकालीन साहित्य से लेकर उत्तरवर्ती साहित्य में बराबर पाई जाती है। जिसमें संगीतशाला का अनिवार्य स्थान रहा है। देवालियों में नर्तक तथा नर्तकियों की नियुक्ति संगीतोपासना के लिए सदैव की जाती रही है। देवाराधना के प्रसंग पर गीतों का सुमधुर गान किया जाता था। बाणभट्ट ने शिवलिंग की अष्टपुष्पिका पूजा के प्रसंग में ध्रुवगीतियों के गान का उल्लेख किया है। (हर्षचरित, पृ० 20, 30 1) कुछ राजाजन सुरा सुन्दरी तथा संगीत में बराबर आमग्न रहते थे। जिसे प्रजाहित में व्याघात पहुँचता था। गीत तथा नृत्य के लिए राजभवन में निपूण वारांगनाओं को नियुक्त किया जाता था। अन्तःपुर में संगीत मनोरंजन का प्रधान साधन था। जलाशय में विलास-क्रीड़ा करते समय राज्यपत्नियाँ जल पर ऐसा प्रहार करती थीं, जिससे अंबूमृदंग जैसे उदरवाद्य का आभास होता था (द० अमरकोश, नाट्यवर्ग)।

मौर्यकालीन कला

ईसा पूर्व 326 में सिकंदर की सेनाएँ पंजाब के विभिन्न राज्यों में विध्वंसक युद्धों में व्यस्त थी। मध्यप्रदेश और बिहार में नंद वंश का राजा धननंद शासन कर रहा था। सिकंदर के आक्रमण से देश के लिए संकट पैदा हो गया था। धननंद का सौभाग्य था कि वह इस आक्रमण से बच गया। यह कहना कठिन है कि देश की रक्षा का मौका पड़ने पर नंद सम्राट यूनानियों को पीछे हटाने में समर्थ होता या नहीं। मगध के शासक के पास विशाल सेना अवश्य थी किंतु जनता का सहयोग उसे प्राप्त नहीं था। प्रजा उसके अत्याचारों से पीड़ित थी, देश को इस समय एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो मगध साम्राज्य की रक्षा तथा वृद्धि करें, विदेशी आक्रमण से उत्पन्न संकट को दूर करें और देश के विभिन्न भागों को एक शासन सूत्र में बाँधकर चक्रवर्ती सम्राट के आदर्श को चरितार्थ करें। शीघ्र ही राजनीतिक मंच पर ऐसा व्यक्ति प्रकट भी हुआ। इस व्यक्ति का नाम था चन्द्रगुप्त।

नन्द वंश द्वारा अपमानित किये जाने पर चाणक्य ने उसे समूल नष्ट करने का प्रण किया। संयोगवश उसकी भेंट चन्द्रगुप्त से हो गई और वह उसे तक्षशिला ले गया। कहा जाता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में ही चाणक्य की सिकंदर से भेंट हुई थी। शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् चाणक्य की कूटनीति और चन्द्रगुप्त के शौर्य एवं रणकौशल के संगम द्वारा नंद वंश के अंतिम राजा धननंद का उन्मूलन किया गया। इससे पहले ही चन्द्रगुप्त ने पंजाब और सिंध में भी सिकंदर के विदेशी शासन से अप्रसन्न जनता के मनोभावों का लाभ उठाकर उन क्षेत्रों में अपना अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को नंद वंश के उन्मूलन तथा पंजाब-सिंध में विदेशी

शासन का अंत करने का ही श्रेय नहीं है वरन् उसने भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। चन्द्रगुप्त एक कुशल योद्धा, सेनानायक तथा महान् विजेता ही नहीं था वरन् एक योग्य शासक भी था। उसने अपने मुख्य मंत्री कौटिल्य की सहायता से एक ऐसी शासन-व्यवस्था का निर्माण किया जो उस समय के अनुकूल थी।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार सम्राट बना उसके मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अशोक राजा हुआ। अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष तक अशोक ने मौर्य साम्राज्य की परंपरागत नीति का ही अनुसरण किया। अशोक ने देश के अन्दर साम्राज्य का विस्तार किया किंतु दूसरे देशों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार की नीति अपनाई।

कला की दृष्टि से हड़प्पा की सभ्यता और मौर्य काल के बीच लगभग 1500 वर्ष का अंतराल है। इस बीच की कला के भौतिक अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। महाकाव्यों और बौद्ध ग्रंथों में हाथी दाँत, मिट्टी और धातुओं के काम का उल्लेख है। किंतु मौर्य काल से पूर्व वास्तुकला और मूर्तिकला के मूर्त उदाहरण कम मिलते हैं। मौर्यकाल में ही पहले-पहल कलात्मक गतिविधियों का इतिहास निश्चित रूप से प्रारंभ होता है। राज्य की समृद्धि और मौर्य शासकों की प्रेरणा से कलाकृतियों को प्रोत्साहन मिला।

इस युग में कला के दो रूप मिलते हैं। एक तो राजतक्षकों द्वारा निर्मित कला, जो कि मौर्य प्रासाद और अशोक स्तंभों में पाई जाती है। दूसरा वह रूप जो परखम के यक्ष दीदारगंज की चामर ग्राहिणी और वेसनगर कि यक्षिणी में देखने को मिलता है और इसे 'लोककला' कहा जा सकता है। राजसभा से संबंधित कला की प्रेरणा का स्रोत स्वयं सम्राट था। यक्ष - यक्षिणियों में हमें लोककला का रूप मिलता है। लोककला के रूपों की परम्परा पूर्व युगों से काष्ठ और मिट्टी में चली आयी थी। अब उसे पाषाण के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया।

राजकीय कला:- राजकीय कला का सबसे पहला उदाहरण चन्द्रगुप्त का प्रासाद है, जिसका विशद वर्णन एरियन ने किया है उसके अनुसार राजप्रसाद कि शानशौकत का मुकाबला न तो सूसा (Susa) और न एकबेतना (Ecabata) ही कर सकते हैं। यह प्रसाद संभवतः वर्तमान पटना के निकट कुम्रहार गाँव के समीप था। कुम्रहार की खुदाई में प्रासाद के सभा- भवन के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उससे प्रासाद की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। यह सभा भवन खंभों वाला हॉल था। सन् 1914 - 15 की खुदाई तथा 1951 की खुदाई में कुल मिलाकर 40 पाषाण-स्तंभ मिले हैं। जो इस समय भग्न दशा में हैं। इस सभा भवन का फर्श और छत लकड़ी के थे। भवन की लंबाई 140 फुट और चौड़ाई 120 फुट है। भवन के स्तंभ बलुआ पत्थर के बने हुए थे और उनमें चमकदार पॉलीश की गई थी। फाह्यान ने अत्यन्त भाव-प्रवण शब्दों में इस प्रासाद की प्रशंसा की है। उसके अनुसार - "यह प्रासाद मानव कृति नहीं है वरन् देवों द्वारा निर्मित है। प्रासाद के स्तंभ पत्थरों से बने हुए हैं और उनपर सुंदर उकेरन और उभरे चित्र बने हैं।" फाह्यान के वृत्तांत से पता चलता है कि अशोक के समय इस भवन का विस्तार हुआ।

मेगास्थनीज के अनुसार पाटलीपुत्र, सोन और गंगा के संगम पर बसा हुआ था। नगर की लंबाई 9-1/2 मील और चौड़ाई 1-1/2 मील थी। नगर के चारों ओर लकड़ी की दीवार बनी हुई थी जिसके बीच-बीच में तीर चलाने के लिए छेद बने हुए थे। दीवार के चारों ओर एक खाई थी जो 60 फुट गहरी और 600 फुट चौड़ी थी। नगर में आने जाने के 64 द्वार थे। दीवार पर बहुत से बुर्ज थे जिनकी संख्या 570 थी। पटना में खुदाई के दौरान पता चला था कि उस समय काष्ठ निर्मित दीवार थी। 1920

की खुदाई में बुलंदीबाग में प्राचीर का एक अंश प्राप्त हुआ है जो लंबाई में 150 फुट है। लकड़ी के खंभों की दो पंक्तियाँ पाई गई हैं जिनके बीच 14-1/2 फुट का अंतर है। यह अंतर लकड़ी के स्लीपों से ढका गया है। खंभों के ऊपर शहतीर जुड़े हुए हैं। खंभों के ऊँचाई जमीन की सतह से 12-1/2 फुट है और ये जमीन के अंदर 5 फुट गहरे गाढ़े गए थे। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि नदी- तट पर स्थित नगरों में प्रायः काष्ठशिल्प का उपयोग होता था। पाटलीपुत्र की भी यही स्थिति थी। सभा-मंडप में शिल्प-स्तंभों का प्रयोग एक नई प्रथा थी।

मौर्यकाल के सर्वोत्कृष्ट नमूने अशोक के एकाशमक (monolithic) स्तंभ हैं जोकि उसने धर्म प्रचार के लिए देश के विभिन्न भागों में स्थापित किए थे। इनकी संख्या लगभग 20 है और ये चुनार (बनारस के निकट) के बलुआ पत्थर के बने हुए हैं। लाट की ऊँचाई 40 से 50 फुट है। चुनार की खानों से पत्थरों को काटकर निकालना शिल्पकला में इन एकाशमक खंभों को काट-तराशकर वर्तमान रूप देना, इन स्तंभों को देश के विभिन्न भागों में पहुँचाना, शिल्पकला तथा इंजीनियरी कौशल का अनोखा उदाहरण है। इन स्तंभों के दो मुख्य भाग उल्लेखनीय हैं—(1) स्तंभ याष्टि या गाबदुम लाट (tapering shaft) और शीर्ष भाग। शीर्ष भाग के मुख्य अंश है घंटा, जोकि अखमीनी स्तंभों के आधार के घंटों से मिलते-जुलते है। भारतीय विद्वान इसे अवांगमुखी कमल (inverted Lotus) कहते हैं। इसके ऊपर गोल अंड या चौकी है। कुछ चौकियों पर चार पशु और चार छोटे चक्र अंकित है। (जैसे सारनाथ स्तंभ शीर्ष की चौकी पर) तथा कुछ पर हंसपक्षि अंकित हैं। चौकी पर सिंह, अश्व, हाथी तथा बैल आसीन हैं। रामपुर में नटुवा बैल ललित मुद्रा में खड़ा है। सारनाथ के शीर्ष स्तंभ पर चार सिंह, पीठ सटाएँ बैठे हैं। ये चारों सिंह एक चक्र धारण किये हुए हैं। यह चक्र बुद्ध द्वारा धर्म-चक्र- प्रवर्तन का प्रतीक है। अशोक के एकाशमक स्तंभों का सर्वोत्कृष्ट नमूना सारनाथ के सिंहस्तंभ का शीर्षक है। मौर्य शिल्पियों के रूपविधान का इससे अच्छा दूसरा नमूना नहीं है। ऊपरी सिंहों में जैसी शक्ति का प्रदर्शन है, उनकी फूली नसों में जैसी स्वाभाविकता है और उनके नीचे उकेरी आकृतियों में जो प्राणवान वास्तविकता है उसमें कहीं भी आरम्भिक कला की छाया नहीं है। शिल्पी ने सिंहों के रूप को प्राकृतिक सच्चाई के रूप में प्रकट किया है।

स्तंभों की-विशेषतः सारनाथ स्तंभ की-चमकीली पॉलिश, घंटाकृति तथा शीर्ष भाग में पशु आकृति के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि कला की प्रेरणा अखमीनी ईरान से मिली है। चौकी पर हंसों की उकेरी हुई आकृतियों और अन्य सज्जाओं में यूनानी प्रभाव भी दिखाई देता है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार अशोक स्तंभ की कला का स्रोत भारतीय है। मौर्य स्तंभ-शीर्षों की पशु-मूर्तियाँ सारनाथ का सिंहस्तंभ, रामपुरवा का बैल प्रचीन सिंधुधाटी से प्रवाहमान परम्परा के अनुकूल हैं। रामपुरवा का बैल मोहनजोदड़ो की मुहरों पर उकेरे हुए बैलों-सा लगता है। किंतु वासुदेव शरण अग्रवाल ने महाभारत और आपस्तम्भ सूत्र से प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चमकीली पॉलिश उत्पन्न करने की कला ईरान से कहीं पहले भारत में ज्ञात थी। मौर्यकाल से पूर्व और एक हद तक मौर्यकालीन स्थानों पर जो काली पॉलिश वाले मृदभांड पाए गए हैं उनसे प्रतीत होता है कि देश के इतिहास में एक युग था। जब ओपदार चमक में रूचि ली जाती थी। यह भी सिद्ध होता है कि इस पॉलिश का रहस्य केवल राज शिल्पियों तक सीमित नहीं था। पिपरहवा स्तूप से मिली स्फटिक मंजुषा पाटलिपुत्र के दो यक्ष और दीदारगंज की यक्षी में भी यह पॉलिश पाई जाती है। सारनाथ के धर्मचक्र की कल्पना नितांत भारतीय है।

ईरानी स्तंभों और मौर्यस्तंभों में स्पष्ट भेद हैं। स्वतंत्र स्तंभों की कल्पना भारतीय है। ईरानी स्तंभ नालीदार है जबकि भारतीय स्तंभ सपाट है। ईरानी स्तंभ अलग-अलग पाषाण खंडों से बने हुए हैं किंतु अशोक स्तंभ एक ही पत्थर के हैं। स्तंभ के शीर्ष भाग को घंटा कहा गया है किंतु भारतीय विद्वानों के अनुसार वह आवांगमुख कमल अथवा पूर्ण घट है जो बाहर की ओर लहराती हुई कमल की पंखुडियों से ढका हुआ है। यदि कुछ समय के लिए इसे घंटा मान लिया जाए तो वह ईरानी घंटे से भिन्न है। तथाकथित मौर्य घंटा घटपल्लव या पूर्णघट के अभिप्राय के सुदृश बनाया गया है इसके अलावा ईरानी और मौर्य स्तंभ शीर्षकों के अलंकरणों में भी अंतर है। मौर्यकालीन शिल्पियों ने चिरपरिचित परंपरा को अपनाया और अपनी प्रतिभा से उसे नवीन आकार दिया।

यदि ईरानी प्रभाव को मान भी लिया जाय, तो भी अशोक-स्तंभों की संगत राशी मूर्तिकला तथा अलंकरण को अखमीनी ईरान या यूनान की मूलाकृतियों की नकल मात्र नहीं माना जा सकता। विदेशी-कला लक्षणों का सम्यक् अध्ययन करके भारतीय कलाकारों ने अपनी प्रतिभा से रूपांतरण किया है और उन्हें अपने ढंग से कलाकृतियों में अभिव्यक्त किया है।

अशोक ने वास्तुकला के इतिहास में एक नई शैली का प्रारंभ किया अर्थात् चट्टानों को काटकर कंदराओं का निर्माण किया। गया के निकट बराबर की पहाड़ियों में अशोक ने अपने राज्याभिषेक के 12 वें वर्ष में सुदामा गुहा आजीवक भिक्षुओं को दान में दी। इस गुफा में दो कोष्ठ हैं। एक गोल व्यास का है जिसकी छत-अर्धवृत्त या खरबूजिया आकार की है। उसके बाहर का मुखमंडप आयताकार है किन्तु छत गोलाकार है। दोनों कोष्ठों की भित्तियों और छतों पर शीशे जैसी चमकती हुई पॉलिश है। इससे ज्ञात होता है कि चैत्य घर का मौलिक विकास अशोक के समय में ही प्रारंभ हो गया था और इस शैली का पूर्ण विकास भाजा, कन्हरी और काले चैत्यगृहों में परिलक्षित होता है। अशोक के पुत्र दशरथ ने नागर्जुनी पहाड़ियों में आजीविकों को 3 गुफाएँ प्रदान की। इनमें से एक प्रसिद्ध गुफा गोपी गुफा है। इनका विन्यास सुरंग जैसा है।

लोक कला

मौर्यकाल की लोक कला का ज्ञान उन महाकाव्य यक्ष-यक्षी मूर्तियों द्वारा होता है जो मथुरा से पाटलिपुत्र, विदिशा, कलिंग और पश्चिम सूर्यारक तक पाई जाती हैं। इन यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों की अपनी निजी शैली है, जिसका ठेठ रूप देखते ही अलग पहचाना जा सकता है। अतिमानवीय महाकाय मूर्तियाँ खुले आकाश के नीचे स्थापित की जाती थीं। इस संबंध में परखम ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति, पटना से प्राप्त यक्ष मूर्ति-जिसपर ओपदार चमक है और एक लेख भी है-पटना शहर में दीदारगंज से प्राप्त चामारग्राहिणी यक्षी-जिस पर भी मौर्यशैली की चमक है- और बेसनगर से प्राप्त यक्षी विशेष उल्लेखनीय है। ये मूर्तियाँ महाकाय हैं और मांसपेशियों की बलिष्ठता और दृढ़ता उनमें जीवंत रूप से व्यक्त हुई है। वे पृथक् रूप से खड़ी हैं पर उनके दर्शन का प्रभाव सम्मुखीन है, मानो शिल्पी ने उन्हें सम्मुख दर्शन के लिए ही बनाया हो। उनका वेश है सिर पर पगड़ी, कंधों और भुजाओं पर उत्तरीय, नीचे धोती जो कटि में मेखना से कायबंधन से बँधी है। कानों में भारी कुंडल, गले में कंठा, छाती पर तिकोना हार और बाहुओं पर अंगद हैं। मूर्तियों को थोड़ा घटोदर दिखाया गया है जैसे परखम की मूर्ति में देखने को मिलता है।

यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य ने संगीत के विकास के लिए प्रयत्न किए, परन्तु इस युग में संगीत अपनी नैतिक मर्यादा से अलग हो रहा था। उसमें मनोरंजन का रूप इतना उभर आया था कि उसका आन्तरिक सौन्दर्य दब सा गया था। लोगों का विचार होने लगा कि यदि संगीत हमारी वासना को तृप्त

नहीं करता तो वह संगीत की श्रेणी में नहीं आ सकता। इस प्रकार मौर्यकाल में संगीत नागरिक जीवन का अभिन्न अंग था। इन दिनों नागरिक कहलाने तथा सहृदय गोष्ठियों में प्रवेश पाने के लिए व्यक्तियों को कला मर्मज्ञ होना आवश्यक था। विवाह योग्य वर वधू के लिए कला प्रावीण्य एक अभीष्ट गुण माना जाता था। महिलाओं की संगीत शिक्षा विवाह के पश्चात् भी प्रचलित थी।

संध्याकालीन कार्यों से निवृत्त होकर समस्त नागरिक किसी रसिक श्रीमान के घर पर एकत्रित होकर संगीत के रास-रंग का आस्वादन करते थे। यदा-कदा ऐसी गोष्ठियाँ गणिकाओं के निवास स्थानों पर भी आयोजित होती थी, जिनमें नगर के सभ्य एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति निःसंकोच रूप से सम्मिलित होते थे। समय-समय पर आये हुए अतिथि-कलाकारों के कला-प्रदर्शन पर उनकी योग्यता के अनुसार पुरस्कार प्रदान किए जाते थे।

संगीत-शिक्षा का प्रबन्ध संगीतशालाओं द्वारा किया जाता था। ललित कलाओं की संस्थाओं में आचार्यों को उनकी योग्यता के अनुसार राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। संगीत कला का अध्यायन सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में किया जाता था, और आवश्यकता के समय जीविका निर्वाह के लिए भी उसका उपयोग कर लिया जाता था।

संगीत कला का राजनैतिक दृष्टि से उपयोग मौर्यकाल की एक प्रधान विशेषता मानी जाती है। सैल्यूकस की पुत्री जो एक उत्तम संगीतकार थी उनका विवाह चन्द्रगुप्त मौर्य से हो जाने के कारण, यूनान संगीत का आगमन भारत में प्रथम बार हुआ। फलस्वरूप भारत का संगीत भी प्रथम बार यूनानी पहुँचा।

बिन्दुसार के समय में संगीत क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु अशोक ने इसे पुनः उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने शृंगार गीतों का बहिष्कार किया। उनकी पत्नी तिष्यरक्षिता की परिचारिका चारुमित्रा एक उत्तम वीणा वादक थी। कोई भी संगीत असंयमी नहीं होता था। संगीतज्ञ बनाने से पूर्व व्यक्ति को जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप का अध्ययन करना पड़ता था। धर्म के साथ-साथ भारतीय संगीत का उत्कृष्ट रूप भी विदेशों ने अपनाया। फलस्वरूप आज भी तिब्बत, चीन, मिस्र, यूनान, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, बर्मा और लंका का संगीत भारतीय संगीत के मौलिक तत्वों से समानता रखता है। अशोक के समय में भारतीय संगीत का रूप विश्वव्यापी बन गया था।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. द्विजेन्द्र नारायण झा, कृष्ण मोहन श्री माली (1981 और 1984) प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय ग्रं० ए०/6 मॉडल टाउन, दिल्ली, 110009.
2. डा० संकटा प्रसाद (1989 - 90) प्राचीन इतिहास दिग्दर्शन, गाइड, प्रकाशक, आनन्द पुस्तक मंदिर, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, जे० 25/24 ए० उस्मानपुरा, वाराणसी 221001, उ० प्र०।
3. परांजपे, एस० श्रीधर: भारतीय संगीत का इतिहास, हाथरस: संगीत कार्यालय।
4. शर्मा, महारानी डा०: संगीत मणि, इलाहाबाद, श्री भुवनेश्वरी प्रकाशन ।
5. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण।
6. श्री प्रजानानन्द, संगीत व संस्कृति, कलकत्ता।
7. प्रो० श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र: राग परिचय भाग-1, संगीत सदन प्रकाशन, 88 साउथ मलाका, इलाहाबाद।

लोक-साहित्य एवं लोकगीतों की परम्परा

सुरभि

शोध छात्रा, संगीत विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

साहित्यांगों में कविता की विशिष्ट महत्ता है। शुरू से ही कविता अपनी रागात्मक एवं भावनात्मक शक्ति की प्रबलता के कारण अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में अधिक लोकप्रिय रही है। किसी भी देश के काव्य-साहित्य का मूल स्रोत उस देश के लोक-जीवन की शीतल गंगा धारा में खोजा जा सकता है। बने संवरे और काटे-तरासे कला गीत तो बहुत बाद में रचे गए हैं। लोकगीत हृदय की अनुभूतियों के शब्द-चित्र हैं जो सीधे हृदय से निकले हैं। इनकी रचना में मस्तिष्क का योगदान बहुत कम है या उतना ही है जितना कमरे को सजाने में किसी कोमल मति बालक का हो सकता है।

हृदय से जो भाव सरल रूप से उत्पन्न हुए वे अपने-आप शब्द बनकर उतर गए और तब हमें मिला लोक साहित्य। लोक साहित्य का कमल अनादिकाल से लोकमन के पोखर में खिलता रहा है जिसमें अनगिनत परम्पराओं की सुरभि स्वतः आ-आ कर मिलती रही है। इसी सुरभि का नाम लोकगीत के कमल पर कभी उदासी छा गई है, कभी थकावट की पर्त जम गई, कभी आशा उल्लास ने उसे भोर की अंगरा दी है। कभी वियोगिनी की पीड़ा ने उसे बादलों जैसा गीला कर दिया है। कभी मिलन के त्यौहार ने उसका शृंगार कर डाला है, कभी गंभीर प्रेम ने उसे सागर की गंभीरता प्रदान कर दी है तो कभी वह विद्रोह की चिंगारी बन गया है। आम आदमी ने, लोक-मन ने, समय के दबाव को जिस रूप में महसूस किया है, उसी का नाम है लोक साहित्य। इस साहित्य का विस्तार क्रमशः लोकगीत, लोक-संस्कृति, लोकभाषा, लोक-नाटक, लोक कला तथा लोक वार्ता आदि के रूप में होता गया है। आधुनिक विद्वानों ने इसके महत्व को समझा है और माना है कि “जब-जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव चेतना-प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।”

इस प्रकार सभ्य समाज के जटिल जीवन-विधान की रक्षा करने में एवं उसके मूलरूप के अभिरक्षण में तथा उसके पोषण में लोकगीतों ने अपने को सदियों से नियोजित कर रखा है। लोक साहित्य की समस्त विधाएँ लोक-संस्कृति के अंतर्गत गिनी जाती हैं। लोकगीत, अलोकनाटक, लोक कथा, सुभाषित, कहावत, मुहावरे, पहेलियाँ- सब मिलकर लोक संस्कृति का पूर्ण अध्ययन करती है। यही नहीं, बच्चों की लोरी, खेले के गीत, ऋतु संबंधी उक्तियाँ- सब लोक संस्कृति के अंग हैं। यदि लोक संस्कृति एक विशाल वट-वृक्ष है तो लोक साहित्य उसकी एक शाखा मात्र है।

भारतवर्ष में लोक-साहित्य मूलतः गाँवों से जुड़ा रहा है, कृषक-संस्कृति से जुड़ा रहा है। निरक्षर किसान-समाज से प्रायः हर आदमी गाता है और कभी-कभी तो काफी अच्छा गाता है। औद्योगिक-ताकतों के चतुर्दिक प्रहारों के बावजूद लोक-संस्कृति का यह गीत-तत्त्व आज भी संदेह उपस्थित है। पुरुषों के गीत, स्त्रियों के गीत, बालकों के गीत सब अलग-अलग हैं। तथापि उनमें कुछ अंश उच्च साहित्यिक गुणों से लबालब हैं। गाँव के हर आदमी के पास कहानी है, पहेलियाँ हैं, गीत हैं, सटीक कहावत हैं और कुछ नहीं तो रामायण-गीता-महाभारत की मार्मिक घटनाओं ने ही रसिक कथा-काव्य का रूप ले लिया है। गाँव के निरक्षर आदमी को मालूम होता है कि कौन गीत गाने से कौन देवता-पितर प्रसन्न होते हैं और कौन सा गीत किस मौसम में गाया जाता है। सावन में चैता सुनने

के लिये निवेदन करने पर भी एक लोकनायक चैता नहीं गाएगा। उधर होली के एक माह पहले वसंत पंचमी से ही होली और ढोलक की थाप सुनाई पड़ने लगती है। कार्तिक शुरू होते ही छठी मईया का गीत महिलाएँ गुनगुनाने लगती हैं और विवाह तय होते ही तिलक और कन्या की विदाई के गीत घर में गूँजने लगते हैं और घर की स्त्रियाँ कई महीना पहले ही कन्या की विदाई की कल्पना करते हुए गीत गाते रोने-सुबकने लगती हैं। वास्तव में हमेशा से जन जीवन में लोकगीतों का प्रचार रहा है। ये गीत भावुक और संवेदनशील जनता के हृदय के स्वाभाविक उद्गार होते हैं। इसलिए विभिन्न भाषाओं के लोकगीतों में भावों की समानता पाई जाती है।

इन लोकगीतों में छंद का नहीं, वरन् लय का माधुर्य होता है। जो आनंद इन गीतों को सुनने में आता है वह उनको पढ़ने में नहीं आता। इनमें बात कहने की, समझने और समझाने की अपनी खास भंगिमा होती है और विचारों में भी विलक्षणता होती है। अपने क्षेत्र की संपूर्ण सभ्यता, संस्कृति और परम्परा लोकगीतों में व्यक्त होती है। ये गीत जिन परिस्थितियों में गाए जाते हैं, उनके साथ मिल जाने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इतने मधुर एवं प्रतिभाशाली गीत अन्यत्र नहीं मिल सकते। कलात्मक गीतों में तो कदापि नहीं। इनमें भारतीय लोक का हृदय स्पंदित होता है और लोक मन को ये पता नहीं कब से रस-सिक्त करते रहे हैं।

जैसे सामाधिस्थ चित्त पंचतत्त्वों और पच्चीस प्रकृतियों से ऊपर उठ जाता है, भव सागर के मोह माया, सुख-दुःख तथा विभिन्न तनावों-चिन्ताओं से सहज मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार लोकगीतों के प्रभाव से भी, अस्थायी रूप से ही सही, चित्त समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है। ये गीत पवित्र भाव-भूमि एवं वातावरण का निर्माण करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म के भजन, विनय, कीर्तन, श्रौत एवं पराती आदि को प्रमुख स्थान मिलता रहा है।

लोकगीत लोक को समेकिन-सामूहिक रूप से ग्रहण करते हैं तथा जीवन की विविध सरणियों एवं भाव दशाओं को मूर्त करते हैं। लोक जीवन में छठी मईया की बहंगी लेकर शिवजी घाट पर जाते हैं और दुर्गा जी प्यासी होकर गाँव की गरीब मालिन से पानी मांगती हैं। कहीं उर्मिला चक्की चलाती है तो कहीं बाँझ स्त्री की व्यथा-कथा पूछने गंगाजी सदेह उपस्थित हो जाती हैं। कहीं जंगल में राम-लक्ष्मण किसी पेड़ के नीचे वर्षा में भींगते हैं तो कहीं निर्वासित सीता अपनी वेदना वनस्पतियों को सुनाती है, मगर अवध नरेश राम के पास स्वाभिमानपूर्वक नहीं जाती। लोक गीतों में नदी गाती है, पेड़ बोलते हैं, हवा सवाक् हो उठती है, पहाड़ों के कंठ फूट पड़ते हैं, वन देवियाँ दुःख-सुख पूछने आ जाती हैं, पशु-पक्षी मानव की पीड़ा के सहभोगी हो जाते हैं और जीवन के उच्च मूल्यों का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। ऐसा देखा जाता है कि लोक-गीतों के गायक या प्रेमी-श्रोता व्यक्तिगत जीवन में क्रूरकर्मा एवं व्यवहार में कठोर नहीं होते। वे मानवता के आग्रही और सदय होते हैं। इस प्रकार अनादिकाल से लोकगीतों ने व्यक्ति-मन को समाज-मन से जोड़ने का काम किया है। इनमें गतिशील एवं जीवंत प्रकृति उपस्थित हैं, ऐतिहासिक परम्पराएँ उपस्थित हैं और सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के विविध धरातल उपस्थित हैं। एक कदम आगे बढ़कर कह सकते हैं कि लोकगीत ग्राम्य-जीवन का सामाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

भारतवासियों का जीवन सदा से संगीतमय रहा है। शायद ही विश्व में कोई दूसरी जाति होगी जिसके जीवन पर संगीत का इतना प्रचुर प्रभाव रहा हो। हमारे देश में “वैदिक काल से ही सात स्वरों का विभाजन किया गया था यद्यपि उनके नाम ठीक वही नहीं थे जो परवर्ती काल में प्रचलित हो गए।”¹²

वैदिक युग में पर्वों एवं उत्सवों के अवसर पर गाथाओं के गाने का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण में राम-जन्म के अवसर पर गीत-गाने का उल्लेख मिलता है। श्री मद्भागवत (दशम स्कंध) में भी कृष्ण जन्म के अवसर पर स्त्रियों के एकत्र गाने का उल्लेख है। “रघुवंशम्” में रघु के जन्म के अवसर पर वेश्याओं द्वारा गीत गाने तथा मांगलिक वाद्य बजाने का उल्लेख हुआ है। (रघुवंशम् 3/16) मतंग नामक आचार्य का वृहद्देशी ग्रंथ प्रथम बार ‘राग’ का उल्लेख करता है। इस ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि मतंग के समक्ष देशी राग अनेक थे। उन्होंने देशी संगीत की परिभाषा इस प्रकार की है— स्त्रियाँ, बालक, गोपाल और क्षितिपाल अपनी इच्छा से जिन गानों का गायन करते हैं अर्थात् किसी प्रकार की शास्त्रीय शिक्षा के बिना ही आनंदोल्लासपूर्वक गाते हैं, वे देशी कहलाते हैं।”³ मतंग चौथी-पाँचवीं सदी में हुए थे। वैदिक गाथाओं की परंपरा महाभारतकाल, बौद्ध-काल, राजा हाल या शालिवाहन कृत “गाथा-सप्त” से होती सम्पूर्ण अपभ्रंश काल तक चलती रही है और क्षेत्रीय भाषाओं के जन्म से आज तक बिना रुके चलती रही है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’ में लिखा है— “लोकगीतों की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खंडिताएँ और धाराएँ निछावर की जा सकती है क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होने पर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं है और अपने आप में परिपूर्ण हैं।”⁴

लोकगीतों की रचना कब हुई, कैसे हुई, किसने की, कहना कठिन है। विद्वानों का अनुमान है कि लोकगीतों की रचना स्त्रियों ने ही की होगी। यही बात स्वीकार करते हुए लोकगीतों के पुरोधा श्रीरामनरेश त्रिपाठी ने कहा है— “लोकगीतों में हमें स्त्रियों के मस्तिष्क की महिमा देखन को मिलेगी, जिनको हमने मूर्ख समझा है उनके मुख से ऐसे-ऐसे कवित्वपूर्ण गीत निकले हैं कि उन पर हिन्दी के कितने ही कवियों की रचनाएँ न्यौछावर की जा सकती है।”⁵

लोकगीतों की लंबी परम्परा में चूँकि सब कुछ सामूहिक है, उसका कोई इतिहास न बना है, न बन सकता। जिस प्रकार ताजमहल का इतिहास शाहजहाँ के संरक्षण एवं शिल्प-प्रेम का इतिहास है, न कि किसी खास शिल्पी का। कहना कठिन है कि किस शिल्पी ने कौन-सा तोरणद्वार रचना, किस शिल्पी ने गुंबद रचा, किस शिल्पी ने अंगूठे गँवा कर पच्चीकारी-कलाकारी की, किस शिल्पी ने पत्थरों को ऊपर पहुँचाया— ये सब व्यक्तिहीन इतिहास है। यही बात लोकगीतों पर भी लागू होती है।

द्वितीय उत्थान का विषय प्रवर्तन करते समय आचार्य शुक्ल ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही है— “भारतीय हृदय का सामान्य रूप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्राम गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है, केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परम्परा का अनुशीलन ही अहम नहीं है। पंडितों की बँधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अनपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रही है, ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य धारा के साथ-साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रही है।”⁶

“लोकगीतों का जन्म नेरी गाथाओं के प्रभाव से, गाथा सप्तशती से, अमीर खुशरो के लोकगीतों से (सन् 1243) होते सम्पूर्ण मध्य युग में हुआ होगा, क्योंकि मध्य युग में ही स्त्रियों पर ज्यादा अत्याचार हुए और अधिकांश लोकगीतों में नारी की ही पीड़ा व्यक्त हुई है।” लोकगीतों में वर्णित ये वे नारियाँ हैं जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में पड़कर भी अपने ‘सत’ और ‘पत’ पर आँच नहीं आने दी।” विभिन्न जातियों के गीतों (अहिरों के गीत, चमारों के गीत, कहारों के गीत, धोबियों के

गीत, गरेड़ियों के गीत, तेली के गीत, कुरमी-कोईरी के गीत, डोम के गीत, नट-नटिन के गीत) सब का प्रारंभ इसी युग से अनुमानित होता है।

लोकगीतों की संपूर्ण परम्परा पर विचार करते हुए मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इसे निम्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किया है—

1. संस्कार संबंधी गीत
2. ऋतु संबंधी गीत
3. व्रत संबंधी गीत
4. जातियों के गीत
5. श्रम संबंधी गीत
6. विविध गीत

लोकगीतों के व्याकरण की खोज शास्त्रीय औजारों से नहीं की जा सकती। शास्त्रीयता का अर्थ है संस्कार और कौशल। इनके विपरित लोकगीतों के उन्मुक्त स्वरों में लोकचेतना अपने समूचे उल्लास एवं अवसाद के साथ उमड़ती है। वह किसी बनावट को स्वीकार नहीं करती। अतः लोकगीतों के शास्त्र की खोज कुछ दूसरे साधनों से करनी होगी और वे साधन स्वयं इन गीतों में उपस्थित हैं। लोकशिल्पकार जैसे पहले ताने-बाने को फैलाता है और फिर उनमें विविध पैटर्नों की बुनावट करता है, यही शिल्प लोक गीतों का भी है। लंबे कथा गीतों में भी एकाधिक मोटिफ भराव का काम करते हैं। स्वर के ताने-बाने पर गीत की कड़ियाँ जुड़ती चली जाती है। लय का सीधा संबंध स्वरों के आरोह-अवरोह से होता है। शब्दों की मात्रिक या वर्णिक गणना का कोई अर्थ नहीं होता।

सच तो यह है कि मात्रा और तर्क का गणित लोकगीतों में चलता नहीं। बस, कभी-कभी धुन बैठाने के लिए शब्दों को थोड़ा तराश दिया जाता है। यही कारण है कि लोकगीतों के रचयिताओं के नाम नहीं हैं, उनके क्रमिक विकास का कोई इतिहास नहीं है। वे तो बस किसी वन-प्रांत में अकस्मात् फूट पड़ने वाले निर्झर की तरह अनवरत झड़ते रहे हैं और लोकमन उनमें सदियों से भींगता और शीतलता महसूस करता रहा है।

सारांश

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य के सभी अंगों-उपांगों में भी कविता को अनादिकाल से अधिक महत्व दिया जाता रहा है। 'कविता' या 'काव्य' से विद्वानों द्वारा रचित कलागीतों का बोध होता है। जबकि 'लोकगीत' कहने से लोककंठ में दीर्घ परम्परा से चले आ रहे उन गीतों का बोध होता है जिनके रचयिता का कुछ भी पता नहीं है और जिसमें संपूर्ण समाज के उल्लास एवं शोक के क्षणों को अभिव्यक्ति मिलती रही है। किसी भी देश के काव्य एवं साहित्य का मूल स्रोत वहाँ के लोकगीतों की काव्यधारा में सहज ही देखा जा सकता है। लोकगीत आदिम मानव के उल्लासमय संगीत हैं। लोकगीत भी अपनी परम्परा से पूरी तरह जुड़े रहने के बावजूद नये-नये परिवर्तनों के अनुरूप बदलता रहता है।

'लोक' शब्द अत्यंत प्राचीन है जिसकी व्युत्पत्ति और व्याख्या विभिन्न ढंग से की गई है। लोक गीत में 'लोक' शब्द 'आमजन' को व्यंजित करता है जिसे फॉक्सोंग कहा जाता है। लोकगीत बुद्धि का कौतूहल नहीं है, सरल हृदय की वाणी है, जिससे शिष्ट एवं पांडित्यपूर्ण साहित्य भी जीवन-रस

लेता है। जब हम लोक संस्कृति, लोक साहित्य और लोकगीतों की बात करते हैं तो प्रकारान्तर से ग्राम्य संस्कृति या ग्राम-गीत उपस्थित हो जाते हैं। इनमें एक समूह विशेष के ज्ञान, विश्वास, कला, कानून, जीवन-शैली, चरित्र संबंधी नियम, विश्वास, अंधविश्वास, सुख-दुख एवं अन्य सब कुछ समाहित हो जाते हैं। लोकगीत जातीय स्मृतियों के प्रामाणिक साक्ष्य हैं।

भारत की सभी भाषाओं में लोकगीत मिलते हैं। बिहार की धरती भी लोकगीतों की अकूत सम्पदा से भरी है। यहाँ के लोकगीतों में पूरा भारतीय ग्राम-जीवन मुखर हुआ है। संस्कारगीत, श्रमगीत, ऋतुगीत, व्रत त्यौहार गीत, प्रेम-शृंगार के गीत आदि इसके कई वर्ग किये गये हैं।

महेन्द्र मिश्र, भिखारी ठाकुर, फागु पाण्डेय, बसुनायक, मास्टर अजीज जैसे चेतना सम्पन्न लोगों ने लोकगीत-सर्जन एवं गायन की परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनके गीत लोकगीतों की दीर्घ परम्परा की ओर संकेत करते हैं।

संदर्भ-सूची

1. रामचंद्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास: सत्रहवाँ पुनर्मुद्रण, सं. 2011 पृ. 407 प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा
2. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय: भोजपुरी लोकगीत, “जनपद” वर्ष-1 अंक 1 पृ. 34, सं.- बनारसी दास चतुर्वेदी
3. ह. प्र. द्विवेदी: “प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद-ग्रंथावली-7, सं. डॉ. मुकुन्द द्विवेदी पृ. 476-राजकमल प्रकाशन
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिका-पृ. 137
5. रामनरेश त्रिपाठी: ग्रामगीत: भूमिका पृ. 5
6. रामचंद्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास: पृ. 418

युवा असंतोष पर चिन्ता का प्रभाव: एक अध्ययन

रीना कुमारी

शोध छात्र, गृह विज्ञान विभाग,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

युवा असंतोष वर्तमान समय की एक ज्वलन्त समस्या है जिसमें न केवल भारतवर्ष वरन् विश्व का प्रत्येक देश न्यूनाधिक रूप से प्रभावित हो रहा है। जातीय, धार्मिक और भाषाई रूढ़िवादी धारणाओं के साथ-साथ हमारे देश में हुई और रूढ़िबद्ध छवियाँ भी विद्यमान हैं। एक ऐसी छवि हमारे युवा वर्ग की भी है। उनकी रूढ़िबद्ध छवि यह है कि वे उग्रवादी, विद्रोही, क्रान्तिकारी विवेकहीन और अपरिपक्व होते हैं। यह सही है कि युवा बाहरी प्रभावों के प्रति अति संवेदनशील होते हैं और दूसरों की नकल करते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि युवा के बल विध्वंसक हत्या और आतंकवाद में ही विश्वास करते हैं। जब समाज में सामाजिक संरचनाओं और संस्थाओं से सामाजिक व्यवस्था में विरोधाभास से; राजनीति और राजनीतिज्ञों से निर्णयों और निर्णय करने वालों से पूर्ण रूप से मोहभंग हो चुका है और प्रत्येक व्यक्ति जीवन की सभी स्थितियों के पतन से, सामाजिक भेदभाव से, व्याप्त भ्रष्टाचार और अवैध साधनों द्वारा आर्थिक लाभों की खोज के प्रति सचेत है, तो युवाओं से ही क्यों आशा की जाय कि वे पारंपरिक नैतिक मूल्यों और उनके आदर्शों का अनुसरण करें। वे प्रेरणा के स्रोत के रूप में तथाकथित आत्मघोषित नेताओं की ओर देख सकते हैं।

युवा वर्ग जब यह देखता है कि उनके नेताओं के कथनी और करनी में बहुत बड़ा खाई है, जब वे बलिदान करने की बात करते हैं और स्वयं ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं, जब नैतिकता की बात करते हैं और स्वयं तस्करों, अपराधियों और समाज विरोधी तत्वों से सम्बन्ध रखते हैं, वे शान्ति की अपील करते हैं और स्वयं दलीय झगड़ों में आनन्द लेते हैं; निर्धनों के लिए झूठा आंसू बहाते हैं और अमीरों के साथ रहते हैं। इन सारे दृश्यों को देखकर युवाओं में नाराजगी उत्पन्न होता है, जो निराशा और कुण्ठा के भाव के साथ सामाजिक विरोध और आन्दोलन चलाने के लिए उत्प्रेरित करता है। इन आन्दोलनों में कुछ राजनीतिज्ञ रुचि ही नहीं लेते बल्कि असामाजिक तत्वों की सहायता से रूप परिवर्तित कर सारा दोष युवाओं पर लगा दिए जाते हैं। कुण्ठित युवा इस प्रकार और अधिक कुण्ठित हो जाते हैं और उनमें असंतोष और भी अधिक बढ़ जाता है।

युवा आन्दोलन के ये लक्षण पाये जाते हैं - (i) अन्याय की भावना पर आधारित कार्य (ii) युवाओं में सामान्यीकृत विश्वास का विकास और प्रेरणा जो आन्दोलन, कुण्ठा और वचन के श्रोत की पहचान करता है। (iii) नेतृत्व का उभरना और कार्य के लिए संगठन और (iv) उत्तेजना के प्रति सामूहिक प्रतिक्रिया।

इस आधार पर विद्यार्थी अनुशासनहीनता की अवधारणा की व्याख्या करना असंगत नहीं होगा। अनुशासनहीनता सत्ता की अवज्ञा है या श्रेष्ठ व्यक्तियों का बिरादर या मानदण्डों से विचलन

या नियंत्रण को मानने से इंकार, या उद्देश्यों, साधनों को अस्वीकारना। विद्यार्थी अनुशासनहीनता विद्यार्थियों द्वारा अवांछनीय तरीकों का उपयोग है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 1960 में नियुक्त समिति ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता में तीन प्रकार के व्यवहार को महत्वपूर्ण माना है। (i) प्राध्यापकों के प्रति निरादर (ii) लड़कियों के साथ दुर्व्यवहार (iii) सम्पत्ति को नष्ट करना, इसके अतिरिक्त इसने इस परिभाषा में एक या कुछ विद्यार्थियों की नहीं बल्कि एक बड़े समूह की अनुशासनहीनता को सम्मिलित किया। कुछ विद्वानों ने इसे दोषपूर्ण माना है। उनका कहना है कि तीन स्थितियाँ अनुशासनहीनता उत्पन्न करती हैं- (अ) विद्यार्थियों का संस्था के लक्ष्यों में रूचि का समाप्त हो जाना, जिससे मापदण्डों का अनुसरण नहीं करता है। (ब) विद्यार्थी लक्ष्यों को मानते हैं परन्तु संशय में रहते हैं कि संस्था उन लक्ष्यों को प्राप्त कर पायेगी। (स) संस्था के मानदण्ड लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

युवा असंतोष तीन परिपेक्षों में देखा जा सकता है- (1) युवा में असंतोष (2) युवाओं के कारण अशान्ति (3) देश में सामाजिक अशान्ति और उसका युवाओं पर प्रभाव।

विभिन्न वर्गों के सभी विचारकों का ध्यान इस समस्या की ओर हमेशा से ही जाता रहा है तथा इसके दोनों ही पहलुओं (आशाजनक निराशाजनक) की ओर विभिन्न विचारकों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। ऑस्टीन 1968, चन्द्रशेखर 1960, डी. बोना 1969, दुबे 1961, हसन 1972, काले 1972, लिपसेट 1974, सच्चिदानन्द 1969, स्टेनर 1962। इस समस्यागत बहुमुखी आयामों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि विचारकों के एक दल को युवा असंतोष तथा उनके उग्र विचारों एवं व्यवहारों के पीछे एक ज्वलन्त भविष्य की पृष्ठभूमि नजर आती है। युवा उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन के कई रूप हैं, प्रदर्शन, नारेबाजी, हड़ताल, भूख-हड़ताल, रास्ता रोकों, घेराव और परीक्षाओं का बहिष्कार।

उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन हिंसक और अहिंसक दोनों हो सकते हैं। 1988 में भारत में 5838 विद्यार्थी उत्तेजक आन्दोलन में से 18 प्रतिशत हिंसक थे। इसकी तुलना में 1987 में 15 प्रतिशत 1986 में 43 प्रतिशत और 1985 में 19.0 प्रतिशत थे।

हर व्यक्ति चिन्तित रहता है। लेकिन सभी व्यक्तियों में इसकी मात्रा समान नहीं होती है। यह चिन्ता सामान्य अवस्था को छोड़कर अतिरंगित रूप ले लेती है तो यह व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है तथा सामान्य व्यवहार को प्रभावित करने लगती है। फ्रायड (1894) ने चिन्ता को शैशव काल की दमित लैंगिक तनाव का परिणाम माना है। उनके अनुसार जो इच्छाएँ व्यक्ति के अहम् के अनुरूप नहीं होती है उसका दमन हो जाता है और उसकी दमित शक्ति चिन्ता का रूप ले लेती है। फ्रायड ने बाद में (1936) अपने विचार में संशोधन लाते हुए चिन्ता को खतरे का सामान्य सूचक माना जो हर व्यक्ति में कम या अधिक पायी जाती है। यही जब अतिरंजित रूप ले लेती है तो वह न्यूरोटिक चिन्ता बन जाती है। मे (1950) के अनुसार चिन्ता एक भय की स्थिति जो व्यक्ति पर अचानक किसी ऐसे संकट के आने से उत्पन्न होती है जो उसकी मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। सूलीयान (1953) के अनुसार चिन्ता एक मानसिक तनाव की स्थिति है जो सामाजिक परिवेश में अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धों के असन्तुलन के कारण व्यक्ति को प्रभावित करती है। इन विद्वानों के मान्यताओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि चिन्ता किसी व्यक्ति एक असंतुलित संवेगात्मक अवस्था है जिससे व्यक्ति बचना चाहता है और इस प्रयास में व्यक्ति कभी उस

संवेगात्मक अवस्था का दमन करना चाहता है और कभी मनोरचनाओं का सहारा लेता है। इस पृष्ठभूमि में “यह प्राक् कल्पना की जाती है कि उस चिन्तनशील व्यक्तित्व के युवा में निम्न चिन्तनशील युवाओं की अपेक्षा असंतोष के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।”

क्षेत्र :- मुजफ्फरपुर जिला के मुजफ्फरपुर शहर के युवाओं को सम्मिलित किया जायेगी।

प्रतिदर्श :- अध्ययन के अन्तर्गत तीन सौ युवाओं को सम्मिलित किया जायेगा। ये सभी युवा स्नातक स्तर के छात्र होंगे।

मापनी :- व्यक्तित्व के चिन्ता आयाम को मापने के लिए टेलर (1953) ने एक मापनी का निर्माण किया जो व्यक्ति के प्रत्यक्ष चिन्ता का मापन करता है। यह मापनी शोध-कार्य एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए उपयुक्त मापनी है। मारटीन (1959) ने चिन्ता को व्यक्तित्व का एक आयाम माना है, जो प्रत्येक परिस्थिति में बुद्धि, अभिप्रेरणा से स्वतंत्र होती है। लेकिन चिन्ता व्यक्ति के व्यक्तित्व को सदैव प्रभावित करती रहती है।

टेलर के द्वारा यह प्रत्यक्षचिन्ता मापनी में कुल 28 वक्तव्य दिये गये हैं। इन वक्तव्यों का उत्तर ‘सही’ या ‘गलत’ में देना है। प्रयोज्य को यह निर्देश दिया जाता है कि इन वक्तव्यों को ध्यान से पढ़े या यह निर्णय करें कि यह वक्तव्य उनके लिए किस सीमा तक सही या गलत है। प्रत्येक वक्तव्य के सही उत्तर के लिए एक अंक तथा गलत उत्तर के लिए शून्य अंक निर्धारित है। इस प्रकार इस मापनी के आधार पर उच्चतम प्राप्तांक अठाईस तथा निम्नतम प्राप्तांक शून्य की संभावना है। इस मापनी के आधार पर उच्च प्राप्तांक प्राप्त प्रयोज्यों को चिन्ता मुक्त व्यक्ति माना जाता है तथा निम्न प्राप्तांक प्राप्त करने वाले चिन्ता की श्रेणी में आते हैं।

व्यक्तित्व के चिन्ता चर को मापने के लिए टेलर (1953) द्वारा निर्मित चिन्ता मापनी के हिन्दी अनुवाद का प्रयोग कर प्रदत्त संग्रह किया गया। इस प्रतिदर्श से प्राप्त केन्द्रीय प्रवृत्ति के तीनों ही मापों के आँकड़े इस प्रकार हैं-

सारिणी संख्या-1

मध्यमान	मध्यांक	बहुलांक	प्रमाणिक विचलन	मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि
10.76	10.00	9.48	4.68	.46

प्रस्तुत अध्ययन तीन सौ प्रतिदर्श से प्राप्त प्राप्तांकों पर आधारित है जिसमें मध्यमान, मध्यांक, बहुलांक, प्रमाणिक विचलन और मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि का क्रमबद्ध रूप में उल्लेख किया गया है। केन्द्रीय प्रवृत्ति के तीनों की मापों की निकटता प्रतिदर्श के प्रसार की जनसंख्या में प्रसामान्य वितरण की प्रवृत्ति को सत्यापित करता है।

प्रसार के मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि .46 पाया गया है अतः $.46 \times 2.38 = 1.18$ यह सिद्ध करता है कि निम्नान्वे (99%) प्रतिशत विश्वास की सीमा के अन्तर्गत है-गिलफोर्ड (1956)

चिन्तनशीलता एवं युवा-असंतोष मनोवृत्ति

चिन्तनशीलता को मापने के लिए तीन सौ स्नातक स्तर के छात्रों के प्रतिदर्श पर हेलरू द्वारा निर्मित चिन्ता मापनी के हिन्दी अनुवाद का चालन किया गया। इस मापनी के आधार पर अधिकतम अठाईस एवं न्यूनतम शून्य प्राप्तांक की संभावना है। तीन सौ छात्रों के आधार पर प्रथम चतुर्थांश से

नीचे एवं तृतीय चतुर्थांश से ऊपर प्राप्त अंकों के आधार पर उच्च एवं निम्न दो समूहों का निर्धारण किया गया। इन दोनों ही समूहों को उच्च चिन्तनशीलता समूह एवं निम्न चिन्तनशीलता समूह के आधार पर निर्धारित किया गया। प्रतिदर्श को प्रथम चतुर्थांश 7.15 तथा तृतीय चतुर्थांश 14.18 पाया गया। इन दोनों ही समूहों के पृथक्-पृथक् युवा-असंतोष मनोवृत्ति प्राप्तांकों का वितरण उनके मध्यमान प्रमाणिक विचलन तथा टी. अनुपात का तुलनात्मक विवेचन किया गया। इन दोनों ही समूहों के आधार पर प्राप्त परिणाम का तुलनात्मक विवेचन सारिणी संख्या-2 में उल्लेख किया गया है।

सारिणी संख्या-2

उच्च एवं निम्न चिन्तनशील समूहों के युवा-असंतोष मनोवृत्ति प्राप्तांकों का तुलनात्मक विवेचन

समूह	संख्या	मध्यमान	प्रा.वि.	मध्यमान की प्रमाणिक त्रुटि	मध्यमानों का अन्तर	मध्यमानों के अन्तर की प्र. त्रुटि	डी. अनुपात	टी. अनुपात	सार्थकता स्तर
उच्च	90	87.45	16.65	1.75	10.40	2.20	184	4.75	.01
निम्न	96	77.10	12.95	1.32					

उपर वर्णित प्राक् कल्पना के आधार पर उच्च चिन्तनशील समूह में अनुकूल मनोवृत्ति तथा निम्न चिन्ता समूह में प्रतिकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी। इस संदर्भ में सारिणी संख्या-2 में वर्णित दोनों ही समूहों के सांख्यिकीय परिमाणों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि उच्च चिन्ताशील समूह के युवा-असंतोष मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 87.45 तथा निम्न समूह का 77.10 पाया गया है। इन दोनों ही समूहों के मध्यमानों का अन्तर 10.40 पाया गया है। सांख्यिकीय दृष्टिकोण से यह एक बड़ा अन्तर माना जाता है। इन दोनों ही समूहों के आधार पर प्राप्त टी. अनुपात 4.75 पाया गया है जो 184 डी. सफल पर .01 स्तर पर सत्यापित हो रहा है। अतः निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि ऊपर वर्णित प्राक् कल्पना सत्यापित हो रहा है।

चिन्तनशीलता तथा युवा-असंतोष के बीच प्रोडक्ट मोमेन्ट विधि का चालन किया गया। इस जाँच के आधार पर दोनों ही चरों के बीच .75 सह-सम्बन्ध गुणांक पाया गया है जो .01 स्तर पर सत्यापित हो रहा है। यह सह-सम्बन्ध-गुणांक दोनों ही चरों के बीच घनिष्ठ सह-सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है।

इन विवेचनों के आधार पर वर्णित अध्ययन से सम्बन्धित निष्कर्ष इस प्रकार है-

- उच्च चिन्तनशील समूह में युवा-असंतोष के प्रति अनुकूल तथा निम्न चिन्तनशील समूह में युवा-असंतोष के प्रति प्रतिकूल मनोवृत्ति पायी जाती है।
- व्यक्तित्व के चिन्तनशीलता चर तथा युवा असंतोष मनोवृत्ति के बीच उच्च एवं सार्थक सह सम्बन्ध गुणांक प्रमाणित होता है।
- व्यक्तित्व के चिन्ताशीलता चर का युवाओं की जनसंख्या में सामान्य वितरण प्रमाणित होता है।

संदर्भ-सूची

- 1) Freud 1894 – The Basic writings of Sigmend Trend, the Modern library Newyork.
- 2) Freud.S. 1936 - The problem of Anxiety (Irans, by H.A., Bunker New York, Norton.)
- 3) Sullivan, H.S. (1953) – Interpersonal theory of Psychiatry Newyork : Norton and Co. : Inc.
- 4) May, (1950) - An Introduction to Industrial Psychology, Gessell and Company Ltd. Londong.
- 5) Taylor J.A. (1953) – A personality scale of manifest Anxiety, Journal, Abn and Social Psychology, 48, 285-290
- 6) Guilford, J.P. (1956) – Fundamental Statistics on Psychology and Education, Third Edition, Mc. Graw Hill Boll Company Inc New York.
- 7) Steiner, F. (1962) – The Age old problem of Rebellions Youth. The Hindustan time, May, 6.
- 8) Report of U.G.C. (1960) – Committee on the problem of student Indiscipline in India U.G.C. Delhi, 1960.
- 9) Opinion (2013) : Students need to be more self reliant Florance Gallez, 2013.

स्वतंत्रतत्तर भारत में महिला शिक्षा की समस्या

अंजू गोयत

चरखी दादरी, हरियाणा

लैंगिक असमानता का अर्थ है, नारियों के साथ पुरुषों के समान विभिन्न क्षेत्रों में एक जैसा बर्ताव न करना। उन्हें विभिन्न पदों पर नियुक्ति के लिए योग्य न समझना। उनको समान अवसर न देना। उन्हें समान कार्य के लिए वेतन आदि न देना। उन्हें एक प्रकार से 'भार' समझना। पुत्र की उत्पत्ति में प्रसन्नता दिखाना आदि।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसार में हर क्षेत्र में महिलाएं तथा लड़कियां संसाधनों, अवसरों, प्रशासनिक तथा राजनैतिक सत्ता पाने के समान अवसरों से वंचित हैं। महिलाओं और लड़कियों में भेदभाव के प्रमुख तरीके इस प्रकार हैं:

- (i) लड़कियों के स्थान पर लड़कों को प्राथमिकता देना।
- (ii) महिलाओं और लड़कियों के लिए सीमित व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक विकल्प।
- (iii) आधारभूत मानव अधिकारों से वंचित रखना।
- (iv) महिलाओं तथा लड़कियों से मार पीट।
- (v) दहेज संबंधी मांगें।
- (vi) भ्रूण गर्भपात आदि।

यहां पर संक्षेप में लिंग असमानता के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:

1. संसार में विकसित, प्रगतिशील तथा जनतांत्रिक देश अमरीका में राष्ट्रपति पद कभी किसी नारी को प्राप्त नहीं हुआ। समानता का दावा करने वाले रूस में भी यही स्थिति रही है। यूरोप के लगभग सभी देशों में भी इसी प्रकार की स्थिति है।
2. अमरीका में महिलाओं को मताधिकार 1920 में, फ्रांस में 1945, इटली में 1948 तथा स्विट्जरलैंड में 1973 में दिया गया।

संसार में प्रशासन, संसद तथा अन्य क्षेत्रों में महिलाएं

(i) संसद में महिलाएं	17%
(ii) महिला मंत्री	14%
(iii) महिला शासनाध्यक्ष	6%

तालिका: विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय संसदों में महिलाओं की भागीदारी

	जनवरी 1997	मई 2000
(1) नॉर्डिक देश	36	40
(2) उत्तर व दक्षिण अमरीका	13	21

तालिका क्रमशः

जनवरी 1997	मई 2000	
(3) यूरोप (नॉर्डिक देशों को छोड़कर)	14	19
(4) उपसहारीय अफ्रीका	10	17
(5) एशिया	13	16
(6) प्रशान्त	10	12
(7) अरब देश	3	8

देशों की संख्या	खेती के अलावा पुरुषों के वेतन से महिलाओं के वेतन
1. मध्य पूर्व और उत्तर अफ्रीका में 4 देश	81
2. पूर्व एशिया व प्रशांत में 6 देश	80
3. 22 औद्योगिक देश	80
4. संक्रमणकालीन 10 देश	76
5. लैटिन अमरीका व कैरेबियन में 8 देश	73
6. उपसहारीय अफ्रीका में 4 देश	70

महिला साक्षरता दर	
1. अल्पतम विकसित देश	68
2. विकासशील देश	83
3. सीईई/सीआईएस	96
4. लैटिन अमरीका व कैरेबियन	99
5. पूर्व एशिया व प्रशांत	92
6. दक्षिण एशिया	66
7. मध्य पूर्व व उत्तर अफ्रीका	77
8. पश्चिम व मध्य अफ्रीका	69
9. पूर्वी व दक्षिणी अफ्रीका	74

स्रोत: दुनिया में बच्चों की स्थिति 2008, यूनिसेफ

संसार में नोबेल पुरस्कार विजेता: नारियों का प्रतिशत: 4.5, पुरुषों का प्रतिशत: 95.5

क्र.सं.	पद	पुरुष	महिला
1.	राष्ट्रपति	14 (कार्यवाहक सहित)	1 (2007 में) श्रीमती प्रतिभा पाटिल

मातादर्शी

शिक्षा

(112)/जुलाई-सितम्बर, 2018

तालिका क्रमशः

क्र.सं.	पद	पुरुष	महिला
2.	उपराष्ट्रपति	12	–
3.	प्रधानमंत्री	18	1
4.	भारत के मुख्य न्यायाधीश	36	–
5.	भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त	13	1
6.	संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष	24	–
7.	थल सेना अध्यक्ष	22	–
8.	नौसेना अध्यक्ष	21	–
9.	वायुसेना अध्यक्ष	20	–
10.	लोक सभा अध्यक्ष	19	–
11.	संसद में सदस्य	92.7%	8.3%
12.	भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS)	90%	10%
13.	जनसंख्या (2001) का औसत	1000 के पीछे	933

धार्मिक क्षेत्र में लैंगिक भेदभाव

1. हिन्दुओं के सभी शंकराचार्य पुरुष हैं।
2. ईसाईयों में पोप का स्थान पुरुषों के पास रहा है।
3. मुसलमानों में प्रायः सभी धार्मिक नेता पुरुष हैं।
4. अन्य धर्मों की लगभग यही स्थिति है।
5. सभी धर्मों के प्रवर्तक पुरुष रहे हैं।

वेदों में नारी का गौरवपूर्ण स्थान

वेदों में नारी की शिक्षा, शील, गुण, कर्तव्य और अधिकारों का विशद वर्णन है। इस प्रकार का वर्णन संभवतः संसार के किसी भी धर्मग्रंथ में नहीं है। चारों वेदों में सैकड़ों नारी विषयक मंत्र दिए गए हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में नारी का समाज में विशेष स्थान था तथा पुरुषों की भांति उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में बराबर का स्थान प्राप्त था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के समाज में नारियोंको बहुत गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। स्त्रियां राजनीतिक, सामाजिक तथा प्रशासनात्मक कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

ऋग्वेद में 24 और अथर्ववेद में 5 वैदिक विदुषियों का उल्लेख है। ऋग्वेद में इनके 422 मंत्र हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—सूर्यासावित्री (47 मंत्र), घोषाकाक्षीवती (28 मंत्र), सिकता निवावरी (20 मंत्र), इंद्राणी (17 मंत्र), यमी वैवस्वती (11 मंत्र), दक्षिणा प्रजापात्या (11 मंत्र), अदिति (10 मंत्र), वाक आमृणी (8 मंत्र), अपाला आत्रेयी (7 मंत्र), अगस्त्यस्वसा (6 मंत्र), विश्ववारा आत्रेयी (6 मंत्र), उर्वरी (6 मंत्र), सरमा देवशुनी (6 मंत्र), देवजामयः इंद्रमातरः (5 मंत्र), श्रद्धा कामायनी

(5 मंत्र), नदी (4 मंत्र), सर्पराज्ञी (3 मंत्र), गोधा (22 मंत्र), शश्वती आंगिरसी (23 मंत्र), वसुक्रपत्नी (24 मंत्र), रोमशा ब्रह्मवादिनी (5 मंत्र)।

अथर्ववेद में इनके नाम इस प्रकार हैं—सूर्यासावित्री (139 मंत्र), मातृनामा (40 मंत्र), इंद्राणी (11 मंत्र), देवजामयः (5 मंत्र) तथा सर्पराज्ञी (3 मंत्र)।

अथर्ववेद में इनके नाम इस प्रकार हैं—सूर्यासावित्री (139 मंत्र), मातृनामा (40 मंत्र), इंद्राणी (11 मंत्र), देवजामयः (5 मंत्र), रोमशा ब्रह्मवादिनी (5 मंत्र)।

वेदों में नारी के गौरव का अनेक वर्णन है। नारी को ज्ञान-विज्ञान में निपुण होने के कारण ब्रह्मा बताया गया है। वेदों में कहा गया है—

गृहिणी ही गृह है।	(ऋग्वेद, 3-53-46)
सुशील पत्नी गृहलक्ष्मी है।	(ऋग्वेद, 10-3-5)
नारी कुलपालक है।	(अथर्ववेद, 1-14-3)
नारी कुटुंब की पालक है।	(यजुर्वेद, 14-2)
नारी परिवार की स्वामिनी है।	(ऋग्वेद, 10-85-46; अथर्ववेद, 14-1-11)
नारी समाज में अग्रणी है।	(ऋग्वेद, 10-159-2)
नारी अबला नहीं, सबला है।	(अथर्ववेद 20-16-9)
नारी सरस्वती के तुल्य प्रतिष्ठित हो।	(अथर्ववेद, 14-2-15)
नारी शील, राष्ट्रीय रक्षा तथा कर्त्तव्य की खान है।	(अथर्ववेद, 5-17-3)

ब्राह्मण ग्रंथों में नारी का गौरव

नारी को ब्राह्मण ग्रंथों में सावित्री कहा गया है।	(जैमिनीय उप. ब्राह्मण, 27-10-17)
पत्नी के बिना जीवन अधूरा है।	(शतपथब्राह्मण 5-2-1-11)
स्त्रियों का अपमान निंदनीय है।	(शपथब्राह्मण, 11-4-3-2)
पत्नी गृहलक्ष्मी है साक्षात् श्री है।	(तैत्तिरीयब्राह्मण, 3-9-4-7)

यत्र नार्यस्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तजाफलाः क्रियाः॥

“जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवताओं का निवास होता है। जहां इनका आदर नहीं होता या इनका अपमान होता है, वहां सारे धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं।”

(मनुस्मृति, 3-56)

जो अपने परिवार का कल्याण चाहते हैं, वे स्त्रियों का सदा सम्मान करें।

(मनुस्मृति, 3-56)

यजुर्वेद (36-2) में कहा गया है कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का पूरा अधिकार है। अथर्ववेद (11-16-3-18) में उल्लेख है कि लड़कियां लड़कों के समान ब्रह्मचर्य को धारण करके शिक्षा ग्रहण करें।

ऋग्वेद (2-19-17) में वर्णित है कि स्त्रियों पर ही जीवन आधारित है और वे शिक्षा प्रदान करती हैं।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने भी स्त्री शिक्षा का समर्थन किया है।

प्राचीन काल नारी शिक्षा की दृष्टि से समृद्ध युग था।

भारतीय संविधान में नारी समानता संबंधी प्रावधान

(1) अनुच्छेद 14 के द्वारा महिलाओं को पुरुषों के समान ही कानून के समक्ष समानता तथा कानून के अनुसार संरक्षण का अधिकार दिया गया है।

(2) अनुच्छेद 15(1) के अनुसार लिंग के आधार पर राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं करेगा। अर्थात् महिलाओं के साथ भेद-भाव नहीं करेगा। इसके साथ ही अनुच्छेद 16 के अधीन रोजगार और नियुक्तियों में महिलाओं को भी बिना भेदभाव के समान अवसर प्रदान किये गये हैं।

(3) अनुच्छेद 15(3) महिलाओं के विकास के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रावधान है। इसके अनुसार राज्य को यह शक्ति दी गई है कि वह स्त्रियों व बालकों के लिए विशेष कानून बना सके। महिलाओं के लिए विभेदकारी कानून बनाने की शक्ति राज्य को इसलिए दी गई है जिससे वे मातृत्व रूपी प्राकृतिक दायित्व को निभा सकें तथा सदियों से पुरुष प्रधान समाज के कारण उन पर हो रहे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक व सामाजिक शोषण का सामना कर सकें।

(4) धारा 39(ख) के अनुसार पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन।

पंचायती राज में महिला-आरक्षण

इस संबंध में निम्न अनुच्छेदों का उल्लेख करना आवश्यक है:

- (a) पंचायती संस्थाओं में आरक्षित पद: अनुच्छेद 243घ(4) के अनुसार पंचायती संस्थाओं के प्रत्येक स्तर पर अध्यक्षों के कम से कम एक तिहाई (1/3) पद महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे।
- (b) अनुच्छेद 243न(4) के द्वारा व्यवस्था की गई है कि नगरपालिका संस्थाओं में अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या के कम से कम (1/3) पद महिलाओं के लिए आरक्षित रहें।

सभी राज्यों ने 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के अनुसार अपने-अपने राज्यों में कानून बनाकर महिलाओं को आरक्षण की व्यवस्था की है।

लड़कियों/नारी शिक्षा का महत्व

- (1) वेदों में नारी शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया है तथा इस पर बहुत जोर दिया गया है।
- (2) स्वामी दयानन्दजी ने जोरदार शब्दों में कहा था कि राष्ट्र, समाज, प्रशासन तथा परिवार के क्रिया-कलाप तब तक उचित ढंग से नहीं किए जा सकते, जब तक स्त्रियों को शिक्षा न मिले।
- (3) स्वामी विवेकानन्द का कहना था कि वही देश उन्नति कर सकते हैं, जहां स्त्रियों को उचित स्थान दिया जाता है तथा उनकी शिक्षा का भी उचित प्रबंध किया जाता है।
- (4) गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि स्त्रियों को वही शैक्षिक सुविधाएं दी जाएं जो पुरुषों के लिए हों। यदि हो सके तो उन्हें विशेष सुविधाएं मिलनी चाहिए।
- (5) पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि लड़के की शिक्षा केवल एक व्यक्ति की शिक्षा है। किन्तु एक लड़की की शिक्षा सारे परिवार की शिक्षा है।

- (6) विश्वविद्यालय आयोग (1948-49) ने स्त्री शिक्षा का महत्व इस प्रकार बताया है: 'स्त्री शिक्षा के बिना लोग शिक्षित नहीं हो सकते। यदि शिक्षा को पुरुषों अथवा स्त्रियों के लिए सीमित करने का प्रश्न हो तो यह अवसर स्त्रियों को दिया जाए; क्योंकि उनके द्वारा ही भावी संतान को शिक्षा दी जा सकती है।'
- (7) श्रीमती हंसा मेहता समिति (1962) का कथन है कि यदि नए समाज का निर्माण ठोस आधार पर करना है तो स्त्रियों को वास्तविक और प्रभावपूर्ण ढंग से पुरुषों के समान अवसर देने होंगे।
- (8) शिक्षा आयोग (1964-66) ने लिखा है—'स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों की शिक्षा से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। लड़कियों की शिक्षा पर जितना भी जोर दिया जाए, उतना थोड़ा है।'
- इस शिक्षा आयोग ने स्त्रियों की शिक्षा पर निम्नलिखित कारणों से बल दिया है:
1. स्त्री शिक्षा का हमारे मानवीय संसाधनों के पूर्ण विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान है।
 2. स्त्री शिक्षा से घरों का सुधार होता है।
 3. स्त्रियों की शिक्षा का शैशव के सर्वाधिक संस्कारमय वर्षों में चरित्र के निर्माण में अपना विशेष स्थान है।
 4. स्त्रियों की शिक्षा प्रसव-दर को घटाने में काफी सहायता कर सकती है।
 5. घर की चारदीवारी के बाहर स्त्रियों का कार्य आज देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है और आगामी वर्षों में वह और भी बड़ा आकार ग्रहण कर लेगा, जिसका प्रभाव अधिकतर स्त्रियों पर पड़ने लगेगा।
- (9) 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि महिलाओं को शैक्षिक तथा सामाजिक दृष्टि से समान स्तर पर लाने के लिए विशेष कार्य-कलापों की आवश्यकता है। राष्ट्र-निर्माण के कार्य में सुशिक्षित महिलाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। लड़कियों तथा महिलाओं की शिक्षा योजना विशेष रूप से तैयार करने की आवश्यकता है और इस कार्य के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था करनी होगी।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) की लड़कियों की शिक्षा के बारे में संतुतियां

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र एवं उनकी शिक्षा

संसार प्रबलजशील है, अतः स्त्रियों के कार्यक्षेत्र में भी प्रगतिशीलता है। अब वह समय नहीं रहा, जबकि स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद रखा जाए। इस संबंध में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

‘घर की देखभाल करना स्त्रियों का मुख्य कार्य है और आगे भी रहेगा। फिर भी उनका संबंध सीमित नहीं रहना चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों के कारण उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की ऐसी रूपरेखा बनाएं जो उनका जीवन सफल बनाने में सहायक हो। एक शिक्षक ने लिखा कि स्त्री शिक्षा तो एक घटना मात्र थी। इसके लिए किसी ने योजना नहीं बनाई थी।

आयोग ने निम्नलिखित संस्तुतियां कीं:

1. कॉलेज में जीवन की जो सुविधाएं प्रारंभ में लड़कों को दी गई थीं, वे लड़कियों को भी उपलब्ध कराई जाएं, भले ही वे कॉलेज पहले लड़कों के लिए खोले गए हों।

2. स्त्री शिक्षा में कमी न की जाए, बल्कि इसे बढ़ावा दिया जाए।
3. स्त्रियों को उनकी शिक्षा की वास्तविक अभिरुचियों से अवगत कराने के लिए उचित शिक्षा निर्देशन का कार्य योग्य व्यक्ति करें, जिससे वे पुरुषों का अनुकरण न करें; बल्कि पुरुषों की भांति अच्छी शिक्षा प्राप्त करें और अपना ध्येय बनाएं। स्त्रियों और पुरुषों में कुछ समानता होनी चाहिए, परंतु वह एक-सी न हो, जैसी कि आज है।
4. छात्राओं की इस प्रकार साधारणतया सहायता करनी चाहिए कि वे सामान्य समाज में अपना स्थान सभ्य नागरिक के रूप में पहचान लें और अपने को इसके अनुरूप बना सकें। कॉलेज की शिक्षा इस प्रकार की हो कि यह लक्ष्य प्राप्त हो सके।
5. शिक्षा निर्देशन कार्य इस प्रकार किया जाए कि लड़कियां गृहविज्ञान के अध्ययन के प्रति उदासीन न रहें।
6. सहशिक्षा वाले कॉलेजों में पुरुषों पर इस बात का दबाव डाला जाए कि वे शालीनता रखें और सामाजिक जिम्मेदारी का अनुभव करें।
7. जहां लड़के-लड़कियों के लिए नए कॉलेज बनाए जाएं।
8. समान कार्य के लिए स्त्री और पुरुष अध्यापकों को समान वेतन दिए जाएं।

तेरह से अठारह वर्ष की आयु तक के लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का विचार था कि आम राय ऐसी मालूम होती है कि तेरह या चौदह वर्ष की आयु से लगभग अठारह वर्ष की आयु तक लड़के-लड़कियों के विद्यालय अलग-अलग हों। आयोग ने अनुभव किया कि यह स्पष्ट नहीं होता कि इस विचारधारा का आधार रीति-रिवाज हैं अथवा अनुभव।

कॉलेज में सहशिक्षा

आयोग की सिफारिशों के अनुसार कॉलेज में प्रवेश की आयु लगभग अठारह वर्ष होगी। अतः कॉलेज में सहशिक्षा हो सकती है, जैसा कि आज तक मैडिकल कॉलेजों में है। इस स्तर पर अलग-अलग कॉलेजों के बनाने में आवश्यक रूप से व्यय की वृद्धि होगी। लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग कॉलेज बनाने से दोहरे उपकरणों की आवश्यकता होगी, जो अभी पर्याप्त नहीं हैं और इनका भार हमारे सीमित साधनों पर पड़ेगा। लड़कियों के अलग कॉलेजों में साधारणतया निम्न कोटि के उपकरण, अपेक्षाकृत कम योग्यता वाले अध्यापक और अनुपयुक्त विद्यालय भवन होते हैं। यथासंभव कॉलेज स्तर पर सहशिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाए।

References

- Aluede, O. O., Adomeh, I. O. C., & Afen-Akpaida, J. E.: *Education*, Winter, 2004.
- Betz, N.: *Handbook of Counseling Psychology*, Wiley, NY, 2008.
- Brigman, G., & Early, B.: *Group Counseling for School Counselors: A Practical Guide*, Walch, Portland, ME, 2001.
- Carr, W. & Kemmis, S.: *Becoming Critical: Education, Knowledge and Action Research*, London, Falmer, 1986.

- Donaldson, Gordon A. : *Cultivating Leadership in Schools*, New York, College Press, 2001.
- Elliott, J. : *Action Research for Educational Change*, Milton Keynes, Open University, 1991.
- Giroux, H. : *Critical Theory and Educational Practice*, Geelong, Australia, Deakin University, 1983.
- Henderson, D. A. & Thompson, C. L.: *Counseling Children*, Brooks/Cole/Cengage, New York, 2010.
- Lovett, T. : *Adult Education, Community Development and the Working Class*, London, Ward Lock, 1975.
- McConnell, C. : *Community Education: The Making of an Empowering Profession*, Edinburgh, Scottish Community Education Council, 1996.
- Stone, C. B., & Dahir, C. A.: *School Counselor Accountability: A MEASURE of Student Success*, Pearson, Boston, MA, 2011.
- Thomas, A. : *Educating Children at Home*, London, Cassell, 1998.
- Williams G. : *Paying for Education beyond Eighteen: An Examination of Issues and Options*, Council for Industry in Higher Education, London, 1996.

Development of Scientific Method in India

Dr. Manju Kumari

B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur

Contrary to the popular perception that Indian civilization has been largely concerned with the affairs of the spirit and “after-life”, India’s historical record suggests that some of the greatest Indian minds were much more concerned with developing philosophical paradigms that were grounded in reality. The premise that Indian philosophy is founded solely on mysticism and renunciation emanates from a colonial and orientalist world view that seeks to obfuscate a rich tradition of scientific thought and analysis in India.

Much of the evidence for how India’s ancient logicians and scientists developed their theories lies buried in polemical texts that are not normally thought of as scientific texts. While some of the treatises on mathematics, logic, grammar, and medicine have survived as such-many philosophical texts enunciating a rational and scientific world view can only be constructed from extended references found in philosophical texts and commentaries by Buddhist and Jain monks or Hindu scholars (usually Brahmins). Although these documents are usually considered to lie within the domain of religious studies, it should be pointed out that many of these are in the form of extended polemics that are quite unlike the holy books of Christianity or Islam. These texts attempt to debate the value of the real-world versus the spiritual-world. They attempt to counter the theories of the atheists and other skeptics. But in their attempts to prove the primacy of a mystical soul or “Atman”-they often go to great lengths in describing competing rationalist and worldly philosophies rooted in a more realistic and more scientific perception of the world. Their extensive commentaries illustrate the popular methods of debate, of developing a hypothesis, of extending and elaborating theory, of furnishing proofs and counter-proofs. It is also important to note that originally, the Buddhist world view was an essentially atheistic world view. The ancient Jains were agnostics, and within the broad stream of Hinduism-there were several heterodox currents that asserted a predominantly atheistic view. In that sense, these were not religions as we think of today since the modern understanding of religion presumes faith or belief in a super-natural entity.

That so many scholars from each of these philosophical schools felt the imperative to prove their extra-worldly theories using rationalist tools of deductive and inductive logic suggests that faith in a super-natural being could not have been taken for granted. This is borne out by the memoirs of Hieun Tsang (the Chinese chronicler who traveled extensively in India during the 7th C. AD) who describes the merchants of Benaras as being mostly “unbelievers”! He also wrote of intense polemics and debates amongst followers of different Buddhist sects. Similarly, there is other evidence that suggests that amongst

the intellectuals of ancient India, atheism and skepticism must have been very powerful currents that required repeated and vigorous attempts at persuasion and change. Nevertheless, over centuries, the intellectual discords between the believers and non-believers became more and more muted. The advocates of mystic idealism prevailed over the skeptics, so that eventually, (at the popular level) each of these philosophies functioned as traditional religions with their pantheon of gods and goddesses enticing and lulling most into an intellectual stupor. But at no point were the advocates of “pure faith” ever powerful enough to completely extinguish the rationalist current that had so imbued Indian philosophy.

One of the most ancient of India’s rationalist traditions is the “Lokayata”. Maligned and discredited by the evangelicals of mystical Buddhism and Vedantic Hinduism, their world view was sharply atheistic and scientific for their time. Unlike those who believed in reincarnation or an after-life, and in the indestructibility of the human soul-they refused to make artificial distinctions between body and mind. They saw the human mind as part and parcel of the human body-not as some separate entity that could have an independent existence from the human body. They acknowledged nothing but the material human body and the material universe around it. They rejected sacrificial gifts and offerings for the after-life as was common amongst followers of Brahmanical Hinduism during the time of Medhatithi in A.D 900 (a commentator on the writings of Manu who acknowledges that the Lokayatas were atheists or non-believers.) For instance, they ridiculed the Brahmanical rituals of animal sacrifice:

“If a beast slain in the Jyotistoma rite itself goes to heaven, Why then does not the sacrificer also offer his father?”

“If beings in heaven are gratified by our offerings made here, Then why not give the food down below to those who stand on the housetop?”

“If offerings produce gratification to beings who are dead, why make provisions for travellers when they start on a journey?”

“If he who departs from the body goes to another world, How is it that he comes not back again, restless for love of his kindred?”

The Lokayatas dismissed the Vedic priests and their Vedic mantras as nothing but a means of livelihood for those lacking in genuine physical or mental abilities. Instead, they gave primacy to human sense-perception, and through the application of the inferential process-they developed their theories of how the world worked. One of the most notable aspects of the Lokayata belief system was their intuitive understanding of dialectics in nature. Many argued the mind-body separation as follows: Since the body is made up of things lacking consciousness-but the mind is a conscious entity-mind and body must necessarily be different-and consciousness must imply the existence of something else akin to the “soul”. The Lokayatas countered this by citing the example of fermentation-how an intoxicating drink could be produced from something that was not itself an intoxicant. In essence they had discovered the principle that the whole was greater than the sum of it’s parts. That physical

and chemical processes could lead to dramatic changes in the properties of the substances combined. They were able to understand how special transformations could produce new qualities that were not evident in the constituent elements of the newly-created entity. As keen observers of nature, they were probably amongst the first to understand the nature of different plants and herbs and their utility to human well-being. As such, it is likely that Indian medicine gradually evolved from the early scientific knowledge and understanding of the Lokayatas. Since the Lokayatas believed that consciousness emerged from the living human body, and ended with its death-it is more than likely that the widely prevalent Indian custom of cremating the dead also originated amongst them. This is not to say that the Lokayatas' understanding of the world was as elaborate and precise as that provided by today's science. By the standards of the 20th century, some of their formulations could be considered primitive and inadequate. That is only to be expected. Knowledge of science has expanded considerably since their times. But what is more important is that their world view was driven by a rational and scientific approach.

References

- Aaboe, Asger: *Episodes from the Early History of Mathematics*, New York, 1964.
- B.M. Johri: *History and Progress of Botany in India: Ancient Period*, Oxford University Press, 1994-95
- Bronkhorst, Johannes : *The Two Traditions of Meditation in Ancient India*, Delhi: Motilal Banarsidass Publ, 1993.
- D.P. Agrawal: *Ancient Metal Technology and Archaeology of South Asia*, Aryan Book International, Delhi, 2000
- Haldane, John Burdon Sanderson: *Science and Indian Culture*, Calcutta, New Age Publishers, 1965.

Advancement and Glory of Ancient India Medicine

Dr. Narayan Das

Principal, Vaishali Mahila College, Hajipur

Ancient India saw great advancements in medical science. Some of these fields were dental surgery, cataract extraction and plastic surgery. It is amazing that even in the absence of anesthesia some of the complex operations are performed. Around 800 B.C the first instances of surgery were recorded. It was considered as one of the eight branches of Ayurveda. Shushruta-Samhita is the oldest treatise dealing with surgery.

The main medical practitioners were Atraya, Charaka and Shushruta. Shushruta studied human anatomy with an aid of a dead body. He had described in great detail surgery in eight parts which included chedya, lekhyas, vedhya, esya, ahrya, vsraya and sivya. He excelled in plastic surgery and ophthalmology (removing cataracts). The restoration of mutilated nose or rhinoplasty was one of the greatest contributions of Shushruta. The success rate was very high attracting people from all the country and outside. He meticulously carried out the operation almost similar to the steps followed by modern day plastic surgeons.

Medical tradition goes back to Vedic period when Dhanvantari was worshipped as God of medicine and Ashwin Kumars were given divine status. Ayurveda was an indigenous system of medicine meaning the science of longevity. It constitutes information about diseases, their diagnosis and expected cures. Charaka was a noted Ayurveda practitioner who wrote that physician who fails to enter the body of a patient with the lamp of knowledge and understanding can never treat diseases. He put more emphasis on prevention rather than cure. He made these remarks in his famous treatise Charaka Samahita which are held in great reverence even today.

The other notable fields were physiology, etiology and embryology. He also wrote extensively on digestion, metabolism and immune system. He wrote that body functions as it contains three deshabille, phlegm and wind. These are produced when dhatus-blood, flesh and marrow act on food consumed. The body becomes sick when there is imbalance between three doshas. He prescribed drugs to restore this balance. Charaka also wrote about genetics like the factors responsible for sex of a child.

Agnivesa another famous physician wrote an encyclopedic treatise in the eighth-century B.C. Ayurveda as an art of healing was treated with respect in ancient period. The knowledge was systemized being considered at par with Vedas. This body of knowledge was spread among sages, hermits and other religious men who moved from one place to another. Those who solely practiced this were known as Vaidyas belonging to Brahmin caste. The treatises of Ayurveda were passed from generations to generations.

Ayurveda

Ayurveda is a system of traditional medicine native to the Indian Subcontinent and practiced in other parts of the world as a form of alternative medicine. In Sanskrit, the word Ayurveda consists of the words, meaning 'life', and *veda*, meaning 'related to knowledge' or 'science'. Evolving throughout its history, Ayurveda remains an influential system of medicine in South Asia. The earliest literature of Ayurveda appeared during the Vedic period in India. The *Sushruta Samhita* and the *Charaka Samhita* were influential works on traditional medicine during this era. Ayurvedic practitioners also identified a number of medicinal preparations and surgical procedures for curing various ailments and diseases.

As per Indian heritage and science, "Ayurveda" is an Upaveda or annexure to the four main vedas (knowledge systems). The famous treatises of Ayurveda are *Charaka Samhita* by Sage Charaka, which details the prevention and treatment of disease, and *Sushruta Samhita* of Sage Sushruta, which deals with Ayurvedic surgical procedures. In the Ayurvedic system, the prevention of all types of disease has a prominent place in treatment, including restructuring a patient's lifestyle to align with the course of nature and the four seasons to guarantee complete wellness.

Ayurveda is considered to be a form of complementary and alternative medicine (CAM) within the western world, where several of its methods, such as the use of herbs, massage, and Yoga as exercise or alternative medicine, are applied on their own as a form of CAM treatment. However, such alternative therapy approaches are not unique to Ayurveda because they are also available under the systems of Unani medicine, Greek medicine and Islamic medicine.

Overview

Ayurveda is grounded in a metaphysics of the 'five great Elements' — all of which compose the Universe, including the human body. Chyle (called Rasa dhatu), blood (called Rakta dhatu), flesh (called Mamsa dhatu), fat (called Medha dhatu), bone (called Asthi dhatu), marrow (called Majja dhatu), and semen or female reproductive tissue (called Shukra dhatu) are held to be the seven primary constituent elements of the body. Ayurveda stresses a balance of three Humors or Energies: *vata* (wind/air), *pitta* (bile) and *kapha* (phlegm). According to Ayurveda, these three regulatory principles — *Doshas* — are important for health, because when they are in balanced state, the body is healthy, and when imbalanced, the body has diseases. Ayurveda holds that humans possess a unique combination of *Doshas*. In Ayurveda, the human body perceives attributes of experiences as 20 *Guna*. Surgery and surgical instruments are employed. It is believed that building a healthy metabolic system, attaining good digestion, and proper excretion leads to vitality. Ayurveda also focuses on exercise, yoga, meditation, and massage. Thus, body, mind, and spirit/consciousness need to be addressed both individually and in unison for health to ensue.

Ayurveda stresses the use of vegetable drugs. Fats are used both for consumption and for external use. Hundreds of vegetable drugs are employed, including cardamom and cinnamon. Some animal products may also be used,

for example milk, bones, and gallstones etc. Minerals—including sulfur, arsenic, lead, copper sulfate, gold—are also consumed as prescribed.. This practice of adding minerals to herbal medicine is known as Rasa Shastra. In some cases alcohol is used as a narcotic for the patient undergoing an operation. The advent of Islam introduced opium as a narcotic. Both oil and tar are used to stop bleeding. Oils may be used in a number of ways including regular consumption as a part of food, anointing, smearing, *head massage*, and prescribed application to infected areas. The proper function of channels—tubes that exist within the body and transport fluids from one point to another—is seen as vital, and the lack of healthy channels may lead to disease and insanity. Sushruta identifies that blockages of these channels may lead to rheumatism, epilepsy, paralysis, and convulsions as fluids and channels are diverted from their ideal locations.

References

- A. A. Azmi: *Basic Concepts of Unani Medicine : A Critical Study*, New Delhi : Dept. of History of Medicine.
- A. F. R. Hoernle: *Studies in the Medicine of Ancient India*, Oxford, Clarendon Press, 1912.
- B. Dash, *Concept of Agni in Ayurveda with Special reference to Agnibala Paraka*, Varanasi : Chowkhamba Sanskrit Series Office.
- B. Dash: *Fundamentals of Ayurvedic Medicine*, Delhi : Bansal, 1978
- D. J. A. Chowry Muthu: *The antiquity of Hindu medicine and civilisation*, New York : Paul B. Hoeber, 1998.
- K. N. Udupa: *Advances in research in Indian medicine*, Varanasi : Banaras Hindu University, 1971.

An Analysis of Central Sati Act

Dr. Manish Kumar Sharma

B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur

Maja Daruwala traces the history of sati legislation in India and analyses the Central Sati Prevention Act in this context. Four months after the Roop Kanwar incident at Deorala, the focus of attention shifted to the need for central legislation to stamp out the oppressive practice of Sati. Two rallies in Delhi, Rajasthan women activists, MP's in the State and at the Centre all called for stringent legislation against Sati. By 1 October, the Rajasthan Legislature had already promulgated an ordinance against Sati which is now a State Act passed by assembly and upheld by the Rajasthan High Court. By the new year, the Commission of Sati (Prevention), Act had passed through both houses with a minimum of debate or amendment.

The particular barbarism of consigning a vibrant life to the flames of a funeral pyre has always provoked the rulers of India to prevent this horror, despite the spurious sanctity that has come to be attached to the practice.

Historically, efforts to prevent Sati by formal means were extant even before the Mughal rulers came to power. Under the Delhi Sultanates (circa 1325) permission had to be sought prior to any Sati. In time this check against compulsion became a mere formality. In any case Hindu women from royal families continued to burn unchecked. Humayun tried, but withdrew a royal fiat against Sati. Akbar insisted that no woman could commit Sati without the specific permission of his Kotwals. They were instructed to delay the woman's decision for as long as possible. Pensions, gifts and rehabilitative help was offered to the potential Sati to wean her away from committing the Act. Children were strictly forbidden from the practice. The later Moghuls continued to put obstacles in the way but the practice carried on in the areas outside Agra. In their own sphere of influence the Portuguese, Dutch and French banned Sati but efforts to stamp out Sati were formalised only under Lord William Bentinck after 1829.

British Regulation

The British were by no means certain of their approach to the custom no matter how abhorrent they found it. Following Mughal example, for a while they tried to regulate it by requiring that it be carried out in the presence of their officials and strictly according to custom.

Perhaps Bentinck was spurred on to Legislation by the unacceptable rise in Satis in his province, Bengal. In the 10 years between 1815 and 1825, the figure had doubled to 639 deaths by burning. He was certainly egged on by the constant entreaties of the missionaries and encouraged to action by the sea change being wrought amongst an influential section of Hindus led by Raja Ram Mohan Roy's Brahmo Samaj.

Despite this, Bentinck approached the question with caution. He sent circulars to 58 of his administrators to discover whether the army would revolt, whether legislation was advisable and whether Hindu resistance could be contained. The consensus of opinion was that the army would pose no problem.

Finally, within 18 months of having assumed the governorship of Bengal, Lord William Bentinck passed the Sati Regulation, XVII of 1827 on 4 December. The regulation was clear, concise and unequivocal in its condemnation of Sati, declaring it illegal and punishable by the criminal courts. It made zamindars, petty land owners, local agents and officers in charge of revenue collection especially accountable for immediate communication to the officers of their nearest police station of any intended sacrifice of the nature described. In case of wilful neglect the responsible officer was liable to a fine of Rs.200 or 6 months in jail for default.

Immediately on receiving intelligence that a sacrifice was to take place, the police daroga accompanied by others was to go to the spot and declare the gathering illegal, prevail upon the crowd to disperse, explain that any persistence was likely to make them all liable to a crime and if necessary prevent the Sati from taking place or go and inform the nearest magistrate of the names and addresses of all those present. If the sacrifice was over, a full and immediate inquiry had to be undertaken in the same way as for any unnatural death.

Most significantly the regulation eschewed any debate about voluntariness which has so much in the forefront of the Sati debate in 1987. Aiding and abetting a sacrifice whether voluntary or not was to be deemed culpable homicide. Punishment was at the discretion of the court according to the nature and circumstances of the case. No justification was to be made that the victim desired to be sacrificed. The death penalty was specially spelled out for any violence or compulsion or helping or assisting in burning of a widow while she laboured under a state of intoxication or stupefaction or because any other cause impeded her free will. In such cases the court was instructed to show no mercy.

Fundamental Opposition

Even before the regulation was out, some three hundred orthodox Hindus petitioned Lord Bentinck to stop the abolition. They pleaded that the practise of “self immolation”, was not merely a sacred duty but a “privilege” of believers. Bentinck however would not relent.

The sequence of events that followed are and eerie precursor to the events after Roop Kanwar's Sati in 1987. Orthodox Bengali Brahmins formed themselves into the Dharma Sabha, just as today we have the Dharam Raksha Samiti in Rajasthan. In all they collected more than Rs.30,000/-a huge sum in those days, to fight the Regulation all the way upto the highest court. By contrast Raja Ram Mohan Roy was given Rs.5000/-to assist the Government in their representations before the Privy Council in England. Both sides gathered petitions and pamphleteered extensively.

In 1832 the appeal was heard by the Privy Council. The petitioners argued that it went against the basic assurance given in George III Statute 37 whereby the Hindus were assured complete noninterference with their religion. The

abolitionists argued that there was really no freedom of religion that could go beyond what was “compatible with the paramount claims of humanity and justice.” Of 7 privy councillors, three finally voted against Bentinck’s regulation but finally it was it was upheld.

With the last hurdle cleared, Madras and then Bombay followed suit with their own legislation banning Sati. Slowly local rulers who came under the yoke of the British also conceded legislation against Sati in conformity with the British regulations. The rulers of Jaipur banned it in 1846.

Indian Penal Code

The 1833 Charter to the East India Company empowered the government to make laws for British India with due respect for native custom and usage. T.B. Macaulay, brilliant academician and lawyer was given the brief of formulating a comprehensive criminal code of universal application through the entire subcontinent. He had no doubt in his mind that Sati was a barbarous practice which could brook no justification. But the administration of 1860 and the Law Commissioners who revised the first draft, were unnecessarily alive to the sensitivities of high caste brahmanical feeling and watered down the murder provisions in their relation to Sati by enacting exception 5 of section 300. Under this, a mitigation was provided for murder when “the person whose death is caused, being above the age of 18 years, suffers death or takes the risk of death with his own consent.” Despite this concession under the IPC, taking of life is absolutely prohibited to everyone in every circumstance. But Punishment varies depending on the nature and circumstances of the offence.

If on the facts, the ritualistic public burning or burying alive of a woman is shown to be involuntary, it is murder plain and simple (Section 300 IPC 1860). In the unlikely even that the woman was a willing participant, her death still amounts to culpable homicide (Section 299 or via exception 5 of Section 300) or at the very least to abetment to suicide (Section 306). Even where a Sati is deemed to be a suicide i.e. voluntary self-killing, the presence of any intoxicant or anything which in fact inhibits free will makes the abettor as culpable as if he had helped murder the victim (section 305 IPC). The punishment for this is exactly the same as for murder.

Where the Sati is incomplete, a person helping to achieve it is caught by the attempt sections of the IPC. Depending again on the circumstances, the crime may be attempt to murder (section 307); attempt to culpable homicide not amounting to murder (Section 308); or abetment to suicide punishable with one year’s imprisonment and attempt to commit suicide which is an offence for the woman as well.

Under the present IPC no one who abets a Sati should escape the consequences of his acts. Abetment can take the form of instigation, conspiracy to do an act or make an illegal omission, intentional aiding, or wilful misrepresentation or wilful concealment (Section 107). Again depending on the facts, the aider could be abetting murder, culpable homicide. From all the above it is clear that there are enough and more laws on the statute books to punish those guilty of making any human sacrifice including widow burning.

References

- Abbe J.A.: *Hindu Manners, Customs and Cerimonies*, Oxford, 1985
- Adeney: *Coalition Politics and Hindu Nationalism*, Cambridge Univ Press, Delhi, 2002.
- Ainapur, L. S.: *Dynamics of Caste Relations in Rural India*, Jaipur, Rawat Publications, 1986.
- Ambedkar, B. R.: *Annihilation of Caste: An Undelivered Speech*, Arnold Publishers, New Delhi, 1990.
- Apte, V. M.: *Social and Religious Life in the Grihya Sutras*, Bombay, 1954.
- Ashton, S.R. : *British Policy Towards the Indian States, 1905-1939*, London, Curzon, 1982.
- Augustine, P.A.: *Social Equality in Indian Society*, New Delhi, Concept, 1991
- Aurobindo, Sri: *Bande Mataram: Early Political Writings*. Pondicherry, 1972.
- Bamfield, J.A.M.: *Thoughts on Dr. Ambedkar*, Bheem Patrika Publications, Jaladhar, 1972.
- Barill, C.: *Social and Political Ideas of B.R. Ambedkar*, Aalekh Publishers, Jaipur, 1977.

Origin and Development of Tibetan Buddhism

Dr. Shweta

Principal, Sanjay Gandhi Mahila College, Gaya

Tibetan Buddhism (sometimes called Lamaism) is the form of Mahayana Buddhism that developed in Tibet and the surrounding Himalayan region beginning in the 7th century CE. Tibetan Buddhism incorporates Madhyamika and Yogacara philosophy, Tantric symbolic rituals, Theravadin monastic discipline and the shamanistic features of the indigenous religion, Bön.¹ Among its most unique characteristics are its system of reincarnating lamas and the vast number of deities in its pantheon.

Tibetan Buddhism is most well-known to the world through the office of the Dalai Lama, the exiled spiritual and political leader of Tibet and the winner of the Nobel Peace Prize in 1989. It was adopted as an official state religion by the Mongol Yuan dynasty and the Manchu Qing dynasty of China. Tibetan Buddhism spread to the West in the second half of the 20th century as many Tibetan leaders were exiled from their homeland. Today, Tibetan religious communities in the West consist both of refugees from Tibet and westerners drawn to the Tibetan religious tradition. Between the 11th and 14th centuries, the Tibetans translated every available Buddhist text into Tibetan. Today, many Buddhist works that have been lost in their original Sanskrit survive only in Tibetan translation.²

History of Tibetan Buddhism

Historically, "Tibet" refers to a mountainous region in central Asia covering 2.5 million sq km. Today, "Tibet" officially refers to the Tibetan Autonomous Region within China, which is about half the size of historical Tibet. Tibet remained independent until the early 1900s, when it was occupied first by Britain and then China. The Tibetans reasserted their independence from China in 1912 and retained it until 1951, when it was "liberated" by China. Today, Tibet is still occupied by China.

The Dalai Lama, the spiritual and political leader of the Tibetan people, lives in exile in India, and Chinese officials outnumber Tibetans in their own homeland. Certain Buddhist scriptures arrived in southern Tibet from India as early as 173 AD during the reign of Thothori Nyantsen, the 28th king of Tibet. During the third century the scriptures were disseminated to northern Tibet. The influence of Buddhism was not great in Tibet, however, and was not yet in its characteristic Tantric form, for the earliest Tantras had just begun to be written in India.³

The first significant event in the history of Tibetan Buddhism occurred in 641, when King Songtsen Gampo (c.609-650) unified Tibet and took two Buddhist wives (Princess Wencheng from China and Princess Bhrikuti Devi

from Nepal). Before long, King Gampo made Buddhism the state religion and established a network of 108 Buddhist temples across the region, including the Jokhang and Ramoché temples to house the Bon religion, as also Buddha statues his wives had brought as their dowries. Conflict with the former national religion, Bön, however, would continue for centuries.⁵

The most important event in Tibetan Buddhist history was the arrival of the great tantric mystic Padmasambhava in Tibet in 774 at the invitation of King Trisong Detsen. It was Padmasambhava (more commonly known in the region as Guru Rinpoche) who merged tantric Buddhism with the local to form what we now recognize as Tibetan Buddhism.

In addition to writing a number of important scriptures (some of which Tibetan Buddhists believe he hid for future monks to find at the right time), Padmasambhava established the Nyingma school from which all schools of Tibetan Buddhism are derived.⁶

Tibetan Buddhism exerted a strong influence from the 11th century AD among the peoples of Central Asia, especially in Mongolia and Manchuria. It was adopted as an official state religion by the Mongol Yuan dynasty and the Manchu Qing dynasty of China. Tibetan Buddhism spread to the West in the second half of the 20th century as many Tibetan leaders were exiled from their homeland.⁷ Today, Tibetan religious communities in the West consist both of refugees from Tibet and westerners drawn to the Tibetan religious tradition.

Tibetan Buddhist Sacred Texts

Between the 11th and 14th centuries, the Tibetans translated every available Buddhist text into Tibetan. Today, many Buddhist works that have been lost in their original Sanskrit survive only in Tibetan translation. In addition to earlier foundational Buddhist texts from early Buddhist schools, mostly the Sarvastivada, and mahayana texts, the Tibetan canon includes Tantric texts.⁸ The Tibetan Canon underwent a final compilation in 14th Century by Bu-ston (1290-1364). It is divided into two parts:

The *Bka'-gyur* or Kanjyur ("Translated Word"), consists of canonical texts. The Kanjyur is made up of 98 volumes containing some 600 texts. The first printing of the Kanjur occurred not in Tibet, but in China (Beijing), and was completed in 1411. The first Tibetan edition of the Kanjur was at sNar-tang in 1731.

The *thestan'-gyur* or Tenjyur ("Transmitted Word"), consists of semi-canonical commentaries and treatises by Buddhist masters. The Tenjyur contains 3626 texts in 224 volumes, divided as follows:

Sutras: 1 volume; 64 texts.

Commentaries on the Tantras: 86 volumes; 3055 texts.

Commentaries on Sutras; 137 volumes; 567 texts.

The most famous Tibetan Buddhist text is the Bardo Thodol ("liberation through hearing in the intermediate state"), popularly known as the Tibetan Book of the Dead. The Bardo Thodol is a funerary text that describes the experiences of the soul during the interval between death and rebirth called

bardo. It is recited by lamas over a dying or recently deceased person, or sometimes over an effigy of the deceased. It has been suggested that it is a sign of the influence of shamanism on Tibetan Buddhism.⁹

The Bardo Thodol actually differentiates the intermediate states between lives into three bardos (themselves further subdivided). The chikhai bardo (“bardo of the moment of death”) features the experience of the “clear light of reality,” or at least the nearest approximation to it of which one is spiritually capable. The chonyid bardo (“bardo of the experiencing of reality”) features the experience of visions of various Buddha forms (or, again, the nearest approximations of which one is capable). The sidpa bardo (“bardo of rebirth”) features karmically impelled hallucinations which eventually result in rebirth.

Distinctive Beliefs of Tibetan Buddhism

In common with Mahayana schools, Tibetan Buddhism includes a pantheon of Buddhas, bodhisattvas, and Dharma protectors. Arya-bodhisattvas are able to escape the cycle of death and rebirth but compassionately choose to remain in this world to assist others in reaching nirvana or buddhahood.¹⁰ Dharma protectors are mythic figures incorporated into Tibetan Buddhism from various sources (including the native Bön religion, and Hinduism) who are pledged to protecting and upholding the Dharma. Many of the specific figures are unique to Tibet.¹¹

Distinctive Practices of Tibetan Buddhism

Non-initiates in Tibetan Buddhism may gain merit by performing rituals such as food and flower offerings, water offerings (performed with a set of bowls), religious pilgrimages, or chanting prayers). They may also light butter lamps at the local temple or fund monks to do so on their behalf. In Bhutan, villagers may be blessed by attending an annual religious festival, known as a tsechu, held in their district. In watching the festival dances performed by monks, the villagers are reminded of Buddhist principles such as non-harm to other living beings.¹²

At certain festivals a large painting known as a thongdrol is also briefly unfurled — the mere glimpsing of the thongdrol is believed to carry such merit as to free the observer from all present sin. Tantric practitioners make use of rituals and objects. Meditation is an important function which may be aided by the use of special hand gestures such as the famous mantra of Avalokiteshwara: “om mani padme hum”.¹³

A number of esoteric meditation techniques are employed by different traditions, including mahamudra, dzogchen, and the Six yogas of Naropa.¹⁴ Qualified practitioners may study or construct special cosmic diagrams known as mandalas which assist in inner spiritual development. A lama may make use of a variety of ritual objects, each of which has rich symbolism and a ritual function. Another important ritual is the Cham, a dance featuring sacred masked dances, sacred music, healing chants, and spectacular richly ornamented multi-colored costumes. Mudras are used by the monks to revitalize spiritual energies which generate wisdom, compassion and the healing powers of Enlightened Beings.

With accompanying narration and a monastic debate demonstration, the program provides a fascinating glimpse into ancient and current Tibetan culture. However, due to China's occupation of Tibet, this ritual is now forbidden.

Schools of Tibetan Buddhism

There are four principal schools within modern Tibetan Buddhism:

Nyingmapa ("School of the Ancients") is the oldest of the Tibetan Buddhist schools and the second largest after Geluk. The Nyingma school is based primarily on the teachings of Padmasambhava, who is revered by the Nyingma school as the "second Buddha." Padmasambhava's system of Vajrayana or Tantric Buddhism was synthesized by Longchenpa in the 14th century. The distinctive doctrine of the Nyingma school is Dzogchen ("great perfection"), also known as ati-yoga (extraordinary yoga). It also makes wide use of shamanistic practices and local divinities borrowed from the indigenous, pre-Buddhist Bon religion.

Kagyüpa ("Oral Transmission School"; also spelled Bka'-brgyud-pa) is the third largest school of Tibetan Buddhism. Its teachings were brought to Tibet by Marpa the Translator, an 11th century Tibetan householder who traveled to India to study under the master yogin Naropa and gather Buddhist scriptures. Marpa's most important student was Milarepa, to whom Marpa passed on his teachings only after subjecting him to trials of the utmost difficulty. In the 12th century, the physician Gampopa synthesized the teachings of Marpa and Milarepa into an independent school. The central teaching is the "great seal" (*mahamudra*), which is a realization of emptiness, freedom from samsara and the inseparability of these two. The basic practice of mahamudra is "dwelling in peace," and it has thus been called the "Tibetan Zen."¹⁵

Sakyapa is today the smallest of the four schools of Tibetan Buddhism. It is named for the Sakya ("Gray Earth") monastery in southern Tibet. The Sakya monastery was founded in 1073 by abbots from the Khön family. The Sakyapa school had great political influence in the 13th and 14th centuries.

Gelugpa (or Dge-lugs-pa or Gelukpa, "School of the Virtuous"), also called the Yellow Hats, is the youngest of the Tibetan schools, but is today the largest and the most important. It was founded in the late 14th century by Tsongkhapa, who "enforced strict monastic discipline, restored celibacy and the prohibition of alcohol and meat, established a higher standard of learning for monks, and, while continuing to respect the Vajrayana tradition of esotericism that was prevalent in Tibet, allowed Tantric and magical rites only in moderation." practices are centred on achieving concentration through meditation and arousing the bodhisattva within.

The Dalai Lama

The Dalai Lama is the head of the dominant school of Tibetan Buddhism, the Gelugpa (or Yellow Hats).¹⁶ From 1642 to 1959, the Dalai Lama was the spiritual and temporal leader of Tibet. Until the Chinese takeover in 1959, the Dalai Lamas resided in Potala Palace in Lhasa in the winter and in the Norbulingka residence during summer. The current Dalai Lama, Tenzin Gyatso,

is the 14th in a line of succession that began with Gendün Drub (1391–1475), founder and abbot of Tashilhunpo monastery (central Tibet). The second head of the Gelugpa order, Gendün Gyatso (1475–1542), was the head abbot of the Drepung monastery on the outskirts of Lhasa, which became the principal seat of the Dalai Lama.

The 13th Dalai Lama, Tubten Gyatso (1875–1933), ruled with great personal authority. The successful revolt within China against its ruling Manchu dynasty in 1912 gave the Tibetans the opportunity to dispel the disunited Chinese troops, and the Dalai Lama reigned as head of a sovereign state.

The 14th in the line of Dalai Lamas, Tenzin Gyatso, was born Lhamo Thondup in 1935 in China of Tibetan parentage. He was recognized as the incarnation of the 13th Dalai Lama in 1937, enthroned in 1940, and vested with full powers as head of state in 1950. He fled to exile in India in 1959, the year of the Tibetan people's unsuccessful revolt against communist Chinese forces that had occupied the country since 1950. The Dalai Lama set up a government-in-exile in Dharmasala, India (known as "Little Lhasa"), in the Himalayan Mountains.¹⁷ In 1989 he was awarded the Nobel Prize for Peace in recognition of his nonviolent campaign to end Chinese domination of Tibet.

Panchen Lama

The Panchen Lama is the second highest ranking figure in the Gelugpa school of Tibetan Buddhism after the Dalai Lama. The Panchen Lama bears part of the responsibility for finding the incarnation of the Dalai Lama and vice versa. The current Dalai Lama identified Gedhun Choekyi Nyima as the 11th reincarnation of the Panchen Lama on May 14, 1995. The People's Republic of China did not recognize this choice.

Tibetan Buddhism in the Contemporary World

Today Tibetan Buddhism is adhered to widely in the Tibet Plateau, Nepal, Bhutan, Mongolia, Kalmkia (on the northwest shore of the Caspian), Siberia (central Russia, specifically Bhuryatia and Chita Oblast), and the Russian, specifically Buryatia and Chita Oblast), and Russian Far East (concentrated in Tyva).¹⁸ The Indian regions of Sikkim and Ladakh, both formerly independent kingdoms, are also home to significant Tibetan Buddhist populations.

In the wake of the Tibetan diaspora, Tibetan Buddhism has gained adherents in the West and throughout the world, there are estimated to be tens of thousands of practioners in Europe and the Americas. Celebrity Tibetan Buddhism practioners include Richard Gere, Adam Yauch, Jet Li, Sharon Stone, Allen Ginsberg, Philip Glass, and Steven Seagal (who has been proclaimed the reincarnation of tulku Chungdrag, dorge).

End Notes and References

1. Archarya Roy, "Indestructible Truth:-The Living Spirituality of Tibetan Buddhism".
2. Archarya Roy, " Secret of the Vajra World: The Tantic Buddhism of Tibet".
3. Padma Sambhava, Robert A.Thurman, " The Tibetan Book of the Dead".
4. Sogyal Rinpoche, " Tibetan Book of Living and Dying".

5. Robert Beer, "The Encyclopedia of Tibetan Symbols and Motifs".
6. Dalai Lama, "How to Practice:-The Way to a Meaningful life".
7. Shambhala, Tibetan Buddhism "Kagyupa Nyingmapa The Encyclopedia of Eastern Philosophy and Religion".
8. S.R.Goyal, "Buddhism in Indian History and Culture".
9. N.Dutt, "The Buddhist Sects: A Survey.p.283.
10. N.Dutt, "Mahayana Buddhism", p.256.
11. Narain (ed), "Studies in the History of Buddhism", Delhi, 1983.
12. Waddell, L.A, "The Buddhism of Tibet or Lamaism", London, 1895.
13. Roerich G., Biography of Dharmasvamin: A Tibet Monk Pilgrim.
14. Saha, S., Buddhism in Central Asia.
15. Venkataraman, "The Central Philosophy of Buddhism," 1954.
16. Wayman, Alex, "The Buddhist Tantras".
17. Bardo Thodol, "Wikipedia", Jan 15, 2005
18. Tibetan Buddhism", "Wikipedia, Jan 15, 2005

Aurangzeb's Policies on Religion and Governance

Sandeep Kumar

Research Scholar, J.P. University, Chapra

The disintegration of the Mughal Empire followed rapidly after the death of Aurangzeb in 1707. During his long reign of 49 years, Aurangzeb had done much to extend the frontiers of the empire he had inherited from his father, Shah Jahan, but the extensive military campaigns he conducted, particularly in the Deccan, created a severe financial drain on his resources. The burden of oppressive taxation fell on the peasantry, and political feudatories who owed their positions to Aurangzeb were constantly breaking loose from the emperor's control. But more often than not, it is the religious policies pursued by Aurangzeb that have been cited as one of the principal reasons for Aurangzeb's undoing, and among many Hindus the name of Aurangzeb evokes the same passionate hatred as do the names of Mahmud of Ghazni and Muhammad of Ghori. With the ascent of the Hindu right to political power in India, a great many people have been emboldened to further attack Aurangzeb. A brief consideration of Aurangzeb's policies, consequently, is in order, but not only to understand the nature of his reign, or the state of Hindu-Muslim relations in India over a period of time, important as are these questions; it is also imperative to ask questions about how our histories are written and how notions of 'minority' and 'majority' get constructed and become part of the political vocabulary.

A year after he assumed power in 1658, Aurangzeb appointed *muhtasaibs*, or censors of public morals, from the ranks of the *ulema* or clergy in every large city. He was keen that the *sharia* or Islamic law be followed everywhere, and that practices abhorrent to Islam, such as the consumption of alcohol and gambling, be disallowed in public. But he was at the outset faced with one problem, namely that the treatment he had meted out to his own father, subjecting him to imprisonment, was scarcely consistent with the image he sought to present of himself as a true believer of the faith. Accordingly, Aurangzeb sought recognition of his ascent to the Mughal Emperor's throne from the ruler of the holy places in the Hijaz, and he became a great patron of the Holy Places. He is reported as well to have spent seven years memorizing the Koran, and unlike his predecessors, his reign was marked by austerity. The monumental architecture that characterized the reigns of Akbar and Shah Jahan — the Agra Fort, Fatehpur Sikri, the Taj Mahal, Shahjahanabad, among others — held little interest for Aurangzeb, and similarly the musicians who had adorned the courts of his predecessors were dismissed.

From the standpoint of Aurangzeb's Hindu subjects, the real impact of his policies may have started to have been felt in 1668-69. Hindu religious fairs were outlawed in 1668, and an edict of the following year prohibited construction of Hindu temples as well as the repair of old ones. Also in 1669,

Aurangzeb discontinued the practice, which had been originated by Akbar, of appearing before his subjects and conferring *darshan* on them, or letting them receive his blessings as one might, in Hinduism, take the *darshan* of a deity and so receive its blessings. Though the duty (internal customs fees) paid on goods was 2.5%, double the amount was levied on Hindu merchants from 1665 onwards. In 1679, Aurangzeb went so far as to reimpose, contrary to the advice of many of his court nobles and theologians, the *jiziya* or graduated property tax on non-Hindus, and according to one historical source, elephants were deployed to crush the resistance in the area surrounding the Red Fort of Hindus who refused to submit to *jiziya* collectors. The historian John F. Richards opines, quite candidly, that “Aurangzeb’s ultimate aim was conversion of non-Muslims to Islam. Whenever possible the emperor gave out robes of honor, cash gifts, and promotions to converts. It quickly became known that conversion was a sure way to the emperor’s favour”.

It can scarcely be doubted, once the historical evidence is weighed, that the religious policies of Aurangzeb were discriminatory towards Hindus, Sikhs, and other non-Muslims. Nonetheless, numerous inferences have been drawn from the literature which are not warranted by the historical record. Though many historians have written of conversions of Hindus, surprisingly little, if any, evidence has been offered to suggest how far the conversion of Hindus took place, and whether there was any official policy beyond one of mere encouragement that led to the conversion of Hindus. Then, as now, conversion would have been more attractive to the vast number of Hindus living under the tyranny of caste oppression, and it isn’t clear at all how the kind of inducements that Aurangzeb offered — if indeed he did so for the purposes of conversion, as Richards maintains — are substantially different from the inducements that modern, purportedly secular, politicians offer to people in their electoral constituencies. And what of the popular representation of Aurangzeb as a ferocious destroyer of Hindu temples and idols? Hindu temples in the Deccan were seldom destroyed, notwithstanding Aurangzeb’s extensive military campaigns in that area. True, in north India, some Hindu temples were undoubtedly torn down, but much work needs to be done to establish the precise circumstances under which these acts of destruction took place. The famed Keshava Rai temple in Mathura was one such temple, but here Aurangzeb seems to have been motivated by a policy of reprisal, since the Jats in the region had risen in revolt. Like his predecessors, Aurangzeb continued to confer land grants (*jagirs*) upon Hindu temples, such as the Someshwar Nath Mahadev temple in Allahabad, Jangum Badi Shiva temple in Banaras, and Umanand temple in Gauhati, and if one put this down merely to expediency, then why cannot one view the destruction of temples as a matter of expediency as well, rather than as a matter of deliberate state policy? Moreover, recent historical work has shown that the number of Hindus employed as *mansabdars*, or as senior court officials and provincial administrators, under Aurangzeb’s reign rose from 24.5% in the time of his father Shah Jahan to 33% in the fourth decade of his own rule. One has the inescapable feeling that then, as now, the word ‘fanaticism’ comes rather too easily to one’s lips to characterize the actions of people acting, or claiming to act, under the name of Islam. It is also notable that as a firm Sunni, Aurangzeb

dealt as firmly with the Shia kingdoms of Bijapur and Golconda as he did with the Hindus or Muslims. One can safely assert that Aurangzeb acted to preserve and enhance the interests of his own Muslim community, and restored the privileges of the Sunni ulema, but his actions with respect to the Hindus, Shias, and others are more open to interpretation.

Aurangzeb's Fatwa on Jizya [Jizyah, or Poll Tax]

Much has been made of Aurangzeb's reimposition of the poll tax (*jizya*, or *jizyah*) on Hindus. However, as the text of the fatwa, which is seldom read, indicates, an exemption was provided for various classes of people, such as those who were indigent, without employment, unable to work on account of poor health, and so on. Moreover, the fatwa clearly shows that the amount was, far from being uniform, fixed according to a person's ability to pay. The statement that the *jizyah* was imposed as well on "the people of the Book" — here doubtless a reference to Christians and Jews — is particularly significant, since it suggests that there was no animus directed particularly against the Hindus.

[*Jizyah*] refers to what is taken from the Dhimmis, according to [what is stated in] *al-Nihayah*. It is obligatory upon the free, adult members of [those] who are generally fought, who are fully in possession of their mental faculties, and gainfully employed, even if [their] profession is not noble, as is [stated in] *al-Sarajiyah*. There are two types of [*jizyah*]. [The first is] the *jizyah* that is imposed by treaty or consent, such that it is established in accordance with mutual agreement, according to [what is stated in] *al-Kafi*. [The amount] does not go above or below [the stipulated] amount, as is stated in *al-Nahr al-Fa'iq*. [The second type] is the *jizyah* that the leader imposes when he conquers the unbelievers (*kuffar*), and [whose amount] he imposes upon the populace in accordance with the amount of property [they own], as in *al-Kafi*. This is an amount that is pre-established, regardless of whether they agree or disagree, consent to it or not.

The wealthy [are obligated to pay] each year forty-eight dirhams [of a specified weight], payable per month at the rate of 4 dirhams. The next, middle group (*wast al-hal*) [must pay] twenty-four dirhams, payable per month at the rate of 2 dirhams. The employed poor are obligated to pay twelve dirhams, in each month paying only one dirham, as stipulated in *Fath al-Qadir*, *al-Hidayah*, and *al-Kafi*. [The scholars] address the meaning of "gainfully employed", and the correct meaning is that it refers to one who has the capacity to work, even if his profession is not noble. The scholars also address the meaning of wealthy, poor, and the middle group. *Al-Shaykh al-Imam* Abu Ja'far, may Allah the most high have mercy on him, considered the custom of each region decisive as to whom the people considered in their land to be poor, of the middle group, or rich. This is as such, and it is the most correct view, as stated in *al-Muhit*. Al-Karakhi says that the poor person is one who owns two hundred dirhams or less, while the middle group owns more than two hundred and up to ten thousand dirhams, and the wealthy [are those] who own more than ten thousand dirhams...The support for this, according to al-Karakhi is provided by the fatawa of Qadi Khan (d. 592/1196). It is necessary that in the case of the employed person, he must have good health for most of the year, as is stated in *al-Hidayah*.

It is mentioned in *al-Idah* that if a *dhimmi* is ill for the entire year such that he cannot work and he is well off, he is not obligated to pay the *jizyah*, and likewise if he is sick for half of the year or more. If he quits his work while having the capacity [to work] he [is still liable] as one gainfully employed, as is [stated in] *al-Nihayah*. The *jizyah* accrues, in our opinion, at the beginning of the year, and it is imposed on the People of the Book (whether they are Arab, non-Arab, or Majians) and idol worshippers (*'abdat al-awthan*) from among the non-Arabs, as in *al-Kafi*...The [*jizyah*] is not imposed on the idol worshippers from among the Arabs or from among the apostates, where they exist. Their women and children [are considered] as part of a single liability group (*fi'*). [In other words], whoever from among their men do not submit to Islam shall be killed, and no *jizyah* is imposed upon their women, children, ill persons or the blind, or likewise on the paraplegic, the very old, or on the unemployed poor, as is stated in *al-Hidayah*.

Source:

1. *Al-Fatawa al-Alamgiriyyah* = *Al-Fatawa al-Hindiyyah fi Madhhab al-Imam al-A'zam Abi Hanifah al-Nu'man* (Beirut: Dar al-Ma'rifah, 1973), 2:244-245.
2. Ali, M. Athar Ali. *The Mughal Nobility Under Aurangzeb*. Bombay: Asia Publishing House, 1968.
3. Chandra, Satish. "Reassessing Aurangzeb", *Seminar*, no. 364: *Mythifying History* (December 1989).
4. Mukhia, Harbans. "Medieval Indian History and the Communal Approach", in Romila Thapar, Harbans Mukhia, and Bipan Chandra, *Communalism and the Writing of Indian History*. New Delhi: People's Publishing House, 1969.
5. Richards, John F. *The Mughal Empire*. Cambridge: Cambridge University Press, 1993; Indian ed., Delhi: Foundation Books, 1995. *New Cambridge History of India*, I:5.

Roman Trade with Ancient India

Dr. Ibha Rani

M.A., History, (Nalanda Open University), Ph.D. (M. U., Bodhgaya)

Roman trade with India through the overland caravan routes via Anatolia and Persia, though at a relative trickle comparative to later times, antedated the southern trade route via the Red Sea and Monsoons which started around the beginning of the Common Era (CE) following the reign of Augustus and his conquest of Egypt. Having extended the Empire's reach to the upper Nile, the Romans naturally encountered the great warrior trading nation of Axum (On the Red Sea, in today's Ethiopia) which had been trading with India and Egypt for several centuries.

The use of monsoon winds, which enabled a voyage safer rather than a long and dangerous coastal voyage, was pioneered by the seafaring Axumite kingdom and subsequently learned of by the Romans, who in any event had cordial relations with Axum and used Axum carriers in many cases. The route so helped enhance trade between ancient kingdoms of India (present day) and Rome that Roman politicians are on record decrying the loss of specie to pamper Roman wives, and the southern route grew to eclipse and then totally supplant the overland trade route.

Roman trade diaspora frequented the ancient Tamil country (present day Southern India), securing trade with the seafaring Tamil kingdoms of the Chola, Pandyan and Chera dynasties and establishing trading settlements which remained long after the fall of the Western Roman empire. They also outlasted Byzantium's loss of the Egypt and the Red Sea ports (ca. 639-645 CE) under the pressure of Jihad and Islam, which had been used to secure trade with India by the Greco-Roman world since the time of the Ptolemaic dynasty a few decades before the start of the Common Era. Sometime after the sundering of communications between the Axum and Eastern Roman Empire in the seventh century, the Christian kingdom of Axum fell onto a slow decline and faded into obscurity in western culture, though survived despite pressure from Islamic forces until the eleventh century, when it was reconfigured in a dynastic squabble. The Seleucid dynasty controlled a developed network of trade with India which had previously existed under the influence of the Persian Achaemenid dynasty. The Greek Ptolemaic dynasty, controlling the western and northern end of other trade routes to Southern Arabia and India, had begun to exploit trading opportunities with India prior to the Roman involvement but according to the historian Strabo the volume of commerce between India and Greece was not comparable to that of later Indian-Roman trade.

The *Periplus Maris Erythraei* mentions a time when sea trade between India and Egypt did not involve direct sailings. The cargo under these situations was shipped to Aden:

"Eudaimon Arabia was called fortunate, being once a city, when, because ships neither came from India to Egypt nor did those from Egypt dare to go further but only came as far as this place, it received the cargoes from both, just as Alexandria receives goods brought from outside and from Egypt."

The Ptolemaic dynasty had developed trade with India using the Red Sea ports. With the establishment of Roman Egypt, the Romans took over and further developed the already existing trade using these ports.

Indo-Roman Trade during the Early Christian Era

Prior to Roman expansion, India had established strong maritime trade with other countries. The dramatic increase in Indian ports, however, did not occur until the opening of the Red Sea by the Romans and the attainment of geographical knowledge concerning India's seasonal monsoons. In fact, the first two centuries of the Christian era indicate this increase in trade between western India and Rome. This expansion of trade was due to the comparative peace established by the Roman Empire during the time of Augustus (23 September 63 BC – 19 August AD 1), which allowed for new explorations. Thus, archeologists, with evidence from artifacts and ancient literature, suggest that a significant commercial relationship existed between ancient western India and Rome.

The west coast of India has been mentioned frequently in foreign literature, such as the *Periplus Maris Erythraei*. The area was noted for its severe tidal currents, turbulent waves, and rocky sea-beds. Although many ships have attempted to sail outside it in order to prevent shipwrecks, many ships were still drawn inside the gulf. As a result of the difficulties, the entrance and departure of ships were dangerous for those who possessed little sea experience. The anchors of the ship would be caught by the waves and quickly cut off, which overturned the ship and ultimately cause a wreck. Stone anchors have been observed near Bet Dwarka, an island situated in the Gulf of Kachchh, due to these frequent shipwrecks. More importantly, the amount of discovered anchors and numerous artifacts suggest that Indo-Roman trade and commerce was significant during the early centuries of the Christian era.

Onshore and offshore explorations have been carried out around Bet Dwarka Island since 1983. The finds discovered include lead and stone objects buried in sediment and considered to be anchors due to their axial holes. Though it is unlikely that the remains of the shipwreck's hull survived, offshore explorations in 2000 and 2001 have yielded seven differently-sized amphoras, two lead anchors, forty-two stone anchors of different types, a supply of potsherds, and a circular lead ingot. The remains of the seven amphoras were of a thick, coarse fabric with a rough surface, which was used for exporting wine and olive oil from the Roman Empire. Archeologists have concluded that most of these were wine amphoras, since olive oil was in less demand in India.

Since the discoveries at Bet Dwarka are significant for the maritime history of India, archeologists have researched the resources in India. Despite the unfavourable conditions the island is situated in, the following items have made Bet Dwarka as well as the rest of western India an important place for trade.

From Latin literature, Rome imported Indian tigers, rhinoceros, elephants, and serpents to use for circus shows—a method employed as entertainment to prevent riots in Rome. It has been noted in the Periplus that Roman women also wore Indian pearls and used a supply of herbs, spices, pepper, lyceum, costus, sesame oil and sugar for food. Indigo was used as a colour while cotton cloth was used as articles of clothing. Furthermore, India exported ebony for fashioned furniture in Rome. The Roman Empire also imported Indian lime, peach, and various other fruits for medicine. Western India, as a result, was the recipient of large amounts of Roman gold during this time.

Since one must sail against the narrow gulfs of western India, special large boats were used and ship development was demanded. At the entrance of the gulf, large ships called trappaga and cotymba helped guide foreign vessels safely to the harbour. These ships were capable of relatively long coastal cruises, and several seals have depicted this type of ship. In each seal, parallel bands were suggested to represent the beams of the ship. In the center of the vessel is a single mast with a tripod base. Apart from the recent explorations, close trade relations as well as the development of ship building were supported by the discovery of several Roman coins. On these coins were depictions of two strongly constructed masted ships. Thus, these depictions of Indian ships, originating from both coins and literature (Pliny and Pluriplus), indicate India's development in seafaring due to the increase in Indo-Roman commerce. In addition, the silver Roman coins discovered in western India primarily come from the first, second, and fifth centuries. These Roman coins also suggest that India possessed a stable sea borne trade with Rome during first and second century AD. Land routes, during the time of Augustus, were also used for Indian embassies to reach Rome.

The discoveries found on Bet Dwarka and on other areas on the western coast of India strongly indicate that there were strong Indo-Roman trade relations during the first two centuries of the Christian era. The third century A.D, however, was the demise of the Indo-Roman trade. The sea-route between Rome and India was shut down, and as a result, the trading reverted back to the time prior to Roman expansion and exploration.

The replacement of Greece by the Roman empire as the administrator of the Mediterranean basin led to the strengthening of direct maritime trade with the east and the elimination of the taxes extracted previously by the middlemen of various land based trading routes. Strabo's mention of the vast increase in trade following the Roman annexation of Egypt indicates that monsoon was known and manipulated for trade in his time.

The trade started by Eudoxus of Cyzicus in 130 BCE kept increasing, and according to Strabo (II.5.12.):

"At any rate, when Gallus was prefect of Egypt, I accompanied him and ascended the Nile as far as Syene and the frontiers of Kingdom of Aksum (Ethiopia), and I learned that as many as one hundred and twenty vessels were sailing from Myos Hormos to India, whereas formerly, under the Ptolemies, only a very few ventured to undertake the voyage and to carry on traffic in Indian merchandise."

By the time of Augustus up to 120 ships were setting sail every year from Myos Hormos to India. So much gold was used for this trade, and apparently recycled by the Kushan Empire (Kushans) for their own coinage, that Pliny the Elder (NH VI.101) complained about the drain of specie to India:

"minimaque computatione miliens centena milia sestertium annis omnibus India et Seres et paeninsula illa imperio nostro adimunt: tanti nobis deliciae et feminae constant. quota enim portio ex illis ad deos, quaeso, iam vel ad inferos pertinet?"

"India, China and the Arabian peninsula take one hundred million sesterces from our empire per annum at a conservative estimate: that is what our luxuries and women cost us. For what percentage of these imports is intended for sacrifices to the gods or the spirits of the dead?"-Pliny, Historia Naturae 12.41.84.

Ports

Roman Ports

The three main Roman ports involved with eastern trade were Arsinoe, Berenice and Myos Hormos. Arsinoe was one of the early trading centers but was soon overshadowed by the more easily accessible Myos Hormos and Berenice.

Arsinoe

The Ptolemaic dynasty exploited the strategic position of Alexandria to secure trade with India. The course of trade with the east then seems to have been first through the harbour of Arsinoe, the present day Suez. The goods from the East African trade were landed at one of the three main Roman ports, Arsinoe, Berenice or Myos Hormos. The Romans cleared out the canal from the Nile to harbour center of Arsinoe on the Red Sea, which had silted up. This was one of the many efforts the Roman administration had to undertake to divert as much of the trade to the maritime routes as possible. Arsinoe was eventually overshadowed by the rising prominence of Myos Hormos. The navigation to the northern ports, such as Arsinoe-Clysma, became difficult in comparison to Myos Hormos due to the northern winds in the Gulf of Suez. Venturing to these northern ports presented additional difficulties such as shoals, reefs and treacherous currents.

Myos Hormos and Berenice

Myos Hormos and Berenice appear to have been important ancient trading ports, possibly used by the Pharaonic traders of ancient Egypt and the Ptolemaic dynasty before falling into Roman control.

The site of Berenice, since its discovery by Belzoni (1818), has been equated with the ruins near Ras Banas in Southern Egypt. However, the precise location of Myos Hormos is disputed with the latitude and longitude given in Ptolemy's *Geography* favouring Abu Sha'ar and the accounts given in classical literature and satellite images indicating a probable identification with Quesir-el-Quadim at the end of a fortified road from Koptos on the Nile. The Quesir el-Quadim site has further been associated with Myos Hormos following the excavations

at el-Zerqa, halfway along the route, which have revealed ostraca leading to the conclusion that the port at the end of this road may have been Myos Hormos.

Indian Ports

In India, the ports of Barbaricum (modern Karachi), Barygaza, Muziris, Korkai, Kaveripattinam and Arikamedu on the southern tip of India were the main centers of this trade. The *Periplus Maris Erythraei* describes Greco-Roman merchants selling in Barbaricum “thin clothing, figured linens, topaz, coral, storax, frankincense, vessels of glass, silver and gold plate, and a little wine” in exchange for “costus, bdellium, lycium, nard, turquoise, lapis lazuli, Seric skins, cotton cloth, silk yarn, and indigo”. In Barygaza, they would buy wheat, rice, sesame oil, cotton and cloth.

Barigaza

Trade with Barigaza, under the control of the Indo-Scythian Western Satrap Nahapana (“Nambanus”), was especially flourishing:

“There are imported into this market-town (Barigaza), wine, Italian preferred, also Laodicean and Arabian; copper, tin, and lead; coral and topaz; thin clothing and inferior sorts of all kinds; bright-coloured girdles a cubit wide; storax, sweet clover, flint glass, realgar, antimony, gold and silver coin, on which there is a profit when exchanged for the money of the country; and ointment, but not very costly and not much. And for the King there are brought into those places very costly vessels of silver, singing boys, beautiful maidens for the harem, fine wines, thin clothing of the finest weaves, and the choicest ointments. There are exported from these places spikenard, costus, bdellium, ivory, agate and carnelian, lycium, cotton cloth of all kinds, silk cloth, mallow cloth, yarn, long pepper and such other things as are brought here from the various market-towns. Those bound for this market-town from Egypt make the voyage favourably about the month of July, that is Epiphi.-Periplus of the Erythraean Sea, paragraph 49.”

Muziris

Muziris is a lost port city in the South Indian state of Kerala which was a major center of trade in Tamilakkam between the Chera kingdom and the Roman Empire. Large hoards of coins and innumerable shards of amphorae found in the town of Pattanam have elicited recent archeological interest in finding a probable location of this port city.

According to the Periplus, numerous Greek seamen managed an intense trade with Muziris:

“Then come Naura and Tyndis, the first markets of Damirica (Limyrike), and then Muziris and Nelcynda, which are now of leading importance. Tyndis is of the Kingdom of Cerobothra; it is a village in plain sight by the sea. Muziris, of the same Kingdom, abounds in ships sent there with cargoes from Arabia, and by the Greeks; it is located on a river, distant from Tyndis by river and sea five hundred

stadia, and up the river from the shore twenty stadia"-The Periplus of the Erythraean Sea, 53-54,"

Arikamedu

The *Periplus Maris Erythraei* mentions a marketplace named Poduke (ch. 60), which G.W.B. Huntingford identified as possibly being Arikamedu in Tamil Nadu, a centre of early Chola trade (now part of Ariyankuppam), about 2 miles from the modern Pondicherry.^[16] Huntingford further notes that Roman pottery was found at Arikamedu in 1937, and archeological excavations between 1944 and 1949 showed that it was "a trading station to which goods of Roman manufacture were imported during the first half of the 1st century AD".

Cultural Exchanges

The Rome-India trade also saw several cultural exchanges which had lasting effect for both the civilizations and others involved in the trade. The Ethiopian kingdom of Aksum was involved in the Indian Ocean trade network and was influenced by Roman culture and Indian architecture. Traces of Indian influences are visible in Roman works of silver and ivory, or in Egyptian cotton and silk fabrics used for sale in Europe. The Indian presence in Alexandria may have influenced the culture but little is known about the manner of this influence. Clement of Alexandria mentions the Buddha in his writings and other Indian religions find mentions in other texts of the period.

Christian and Jewish settlers from the Rome continued to live in India long after the decline in bilateral trade. Large hoards of Roman coins have been found throughout India, and especially in the busy maritime trading centers of the south. The Tamilakkam kings reissued Roman coinage in their own name after defacing the coins in order to signify their sovereignty. Mentions of the traders are recorded in the Tamil Sangam literature of India. One such mention reads: "The beautifully built ships of the Yavanas came with gold and returned with pepper, and Muziris resounded with the noise."

Decline and Aftermath

Following the Roman-Persian Wars the areas under the Roman Byzantine Empire were captured by Khosrow I of the Persian Sassanian Dynasty.

The Arabs, led by 'Amr ibn al-'As, crossed into Egypt in late 639 or early 640 CE. This advance marked the beginning of the Islamic conquest of Egypt^[20] and the fall of ports such as Alexandria, used to secure trade with India by the Greco Roman world since the Ptolemaic dynasty.

The decline in trade saw the ancient Tamil country turn to Southeast Asia for international trade, where it influenced the native culture to a greater degree than the impressions made on Rome.

The Ottoman Turks conquered Constantinople in the 15th century (1453), marking the beginning of Turkish control over the most direct trade routes between Europe and Asia. The Ottomans initially cut off eastern trade with Europe, leading in turn to the attempt by Europeans to find a sea route around Africa, spurring the Age of Discovery, and the eventual rise of Merchantilism and Colonialism.

References

- Curtin, Philip DeArmond; et al. (1984). *Cross-Cultural Trade in World History*. Cambridge University Press.
- *The Encyclopedia Americana* (1989). Grolier.
- Farrokh, Kaveh (2007). *Shadows in the Desert: Ancient Persia at War*. Osprey Publishing.
- Fayle, Charles Ernest (2006). *A Short History of the World's Shipping Industry*. Routledge.
- Freeman, Donald B. (2003). *The Straits of Malacca: Gateway Or Gauntlet?*. McGill-Queen's Press.
- Holl, Augustin F. C. (2003). *Ethnoarchaeology of Shuwa-Arab Settlements*. Lexington Books.
- Huntingford, G.W.B. (1980). *The Periplus of the Erythraean Sea*. Hakluyt Society.
- Kulke, Hermann; Dietmar Rothermund (2004). *A History of India*. Routledge.
- Lach, Donald Frederick (1994). *Asia in the Making of Europe: The Century of Discovery. Book 1*. University of Chicago Press.
- Lindsay, W S (2006). *History of Merchant Shipping and Ancient Commerce*. Adamant Media Corporation.
- Meri, Josef W.; Jere L. Bacharach (2006). *Medieval Islamic Civilization: An Encyclopedia*. Routledge.
- O'Leary, De Lacy (2001). *Arabia Before Muhammad*. Routledge.
- Potter, David Stone (2004). *The Roman Empire at Bay: AD 180-395*. Routledge.
- Shaw, Ian (2003). *The Oxford History of Ancient Egypt*. Oxford University Press.
- Young, Gary Keith (2001). *Rome's Eastern Trade: International Commerce and Imperial Policy, 31 BC-AD 305*. Routledge.

Economy in Sangam Age

Dr. Santosh Kumar

Laheri, Rohtas (Bihar)

The economy of the ancient Tamil country (Sangam era: 200 BCE – 200 CE) describes the ancient economy of a region in southern India that covers the present-day state Tamil Nadu. The main economic activities were agriculture, weaving, pearl fishery, manufacturing and construction. Paddy was the most important crop; it was the staple cereal and served as a medium of exchange for inland trade. Pepper, millets, grams and sugarcane were other commonly grown crops. Madurai and Urayur were important centers for the textile industry; Korkai was the centre of the pearl trade. Industrial activity flourished. Inland trading was conducted primarily through barter in busy market places by merchant associations and commercial lending institutions. Merchants formed associations that operated autonomously, without interference from the state.

The people of ancient Tamil country engaged in brisk overseas trade with Rome; the trade reached a peak after the discovery of a direct route for merchant ships between Tamilakam and Egypt,, taking advantage of the monsoon winds. Pepper, pearls, ivory, textiles and gold ornaments were exported from Tamilakam, and the main imports were luxury goods such as glass, coral, wine and topaz. Foreign trade brought in a large amount of internationally convertible Roman currency. The state played an important role in building and maintaining infrastructure such as roads and ports—funded through taxation—to meet the needs of economic and social activity. Wealth was unequally divided among the people, giving rise to distinct economic classes.

Agriculture

During the Sangam age, 200 BCE-200 CE, agriculture was the main vocation of the Tamils. It was considered a necessity for life, and hence was treated as the foremost among all occupations. The farmers or the *Ulavar* were placed right at the top of the social classification. As they were the producers of food grains, they lived with self respect. Agriculture during the early stages of Sangam period was primitive, but it progressively got more efficient with improvements in irrigation, ploughing, manuring, storage and distribution. The ancient Tamils were aware of the different varieties of soil, the kinds of crops that can be grown on them and the various irrigation schemes suitable for a given region.

Land Classification

Among the five geographical divisions of the Tamil country in Sangam literature, the Marutam region was the most fit for cultivation, as it had the most fertile lands. The prosperity of a farmer depended on getting the necessary sunlight, seasonal rains and the fertility of the soil. Among these elements of nature, sunlight was considered indispensable by the ancient Tamils, because if

rains fail other methods of irrigation could be put to use and if the soil wasn't naturally fertile, artificial manuring would enrich the soil. They differentiated the lands on the basis of fertility and accordingly cultivated the crops that were best suited for the kind of soil.

They were *Vanpulam* (hardland), *Menpulam* (fertile land), *Pinpulam* (dry land) and *Kalarnilam* or *Uvarnilam* (salty land). *Vanpulam* in Mullai and Kurinji regions did not yield rich produce, whereas in *Menpulam* the yield was very good. Dry crops were cultivated on *Pinpulam*, because of the limited irrigation facilities. The *Kalarnilam* was unfit for cultivation. Some of the types of soil known to the people of this age were the alluvial soil, red soil, black soil, laterite soil and sandy soil and they knew what crops could be grown on each type of soil.

Land Ownership

The king owned a lot of land, but was not the sole landlord, as he had donated lands to poets, brahmins, schools, hospitals and temples. The bulk of the agriculturists were cultivators of their own plots of land. They were the tillers of the soil and were known by different names-*Ulutunbar* or *Yerinvalnar*, because they subsisted through the end of the plough, *Vellalar* because they were considered proprietors of water and *Karalar* or *Kalamar* which meant ruler of the clouds. Women cultivators were called *Ulathiar*. Among the *Vellalars*, the higher class people subsisted on the produce from the lands they owned whereas the lower class people had to work on the lands to earn their livelihood. The higher class *Vellalars*, besides holding the land, held high offices under the king, discharging civil and military duties, and assumed titles of *Vel*, *Arasu*, *Kavidi* and had matrimonial alliances with the royal family.

Apart from the traditional landlords and cultivators, there were absentee landlords too. There are various instances in which the kings donated tax-free lands to poets, brahmins, educational institutions and hospitals. Lands given to brahmins was known *Brahmateya*. When lands were gifted to brahmins and poets, these donees quite often left the donated lands in the hands of tenants or farm laborers. The terms of tenancy in respect of such cultivation are not known. Sometimes independent laborers were engaged for specific purposes and were known as *Adiyor*. Regardless of the nature of ownership, ranging from great landlords who owned vast stretches of land to an ordinary cultivator who owned a tiny piece of land, there was a feeling of pride in the fact that they were the producers of food.

Land, the immobile property, and its produce were both taxable, as the king was owed a share for being the administrator of the land. Landlords and Peasants paid the tax-the land tax was known as *Irai* or *Karai* and the tax on produce was called *Vari*. It is believed that one-sixth of the produce was collected as tax. During times of floods and famines, cultivation was much affected and the kings were known to be kind enough to make remissions.

Taxes were collected by revenue officials known as *Variya* and *Kavidi* and they were assisted by accountants called *Ayakanakkar*. There were graneries, known as *Kalanjiyam*, in public places as well as in the houses of the farmers to

store excess grain so that people did not suffer in times of floods or famines. The *Manram* (council) of the village took necessary decisions to safeguard the interests of the people.

For surveys and taxation purposes, various measurements were used to measure the land and its produce. The small land was known as *Ma* and bigger one as *Veli*. One *Veli* was equal to a hundred *Kuli*. The produce was measured using cubic-measures such as *Tuni*, *Nali*, *Cher* and *Kalam* and weight-measures such as *Tulam* and *Kalanju*. Common vessels used for measuring grains were *Ambanam*, *Nazhi* and *Padakku*, which was equivalent to two *Marakkals*. The cubic measurements were of the shape of a wine cask with a broader waist and slightly narrow bottom and top. They were tightened and fixed by metallic bands. A balance known as *Tulakkol* was also in vogue.

Produce

The ancient Tamils cultivated a wide range of crops such as rice, sugarcane, millets, pepper, various grams, coconuts, beans, cotton, plantain, tamarind and sandalwood. Paddy was the main crop and different varieties of paddy such as *Vennel*, *Sennel*, *Pudunel*, *Aivananel* and *Torai* were grown in the wet land of Marutam. *Sennel* and *pudunel* were the more refined varieties. In a very fertile land, a *Veli* of land yielded 1000 *Kalam* of paddy. The peasants lived under the shady groves beyond the Marutam land. Each house had jack, coconut, palm, areca and plantain trees. Turmeric plants were grown in front of the houses and flower gardens were laid in between the houses.

The Mullai people undertook the cultivation of fruit trees and crops for cattle. The sugarcane producers even employed mechanical contrivances to extract juices from it. In some plots, rotation of crops was followed-cotton and millets were grown simultaneously on a plot and after that, beans were cultivated on the same land. There, generally, was surplus from the produce. Each village was almost self sufficient and if necessary people bought additional commodities from neighbouring villages. Such trade happened under the barter system, with paddy and salt being used as the medium of buying and selling.

The agricultural surplus produced by the villages is one of the reasons for the growth of urban centers in ancient Tamilakam. According to Dr. Venkata Subramanian, "*Towns can emerge precisely at the moment when the agriculturists start producing a surplus that can sustain basically 'Non-productive urban residents'*". The king also depended on this surplus, since the soldiers and workers were paid in kind, i.e. grains. These factors ensured adequate demand for the produce, which in turn accelerated cultivation.

Techniques and Tools

The Tamil people practiced a very systematic method of cultivation during the Sangam age. It was known that ploughing, manuring, weeding, irrigation and crop protection need to be followed in a proper way for the yield to be rich. Tiruvalluvar, in his *Tirukkural*, emphasizes the need for all of these steps to be undertaken in a careful manner in order to get a good yield.

A paddy field was also known as *Kalam* and was ploughed with the help of oxen. Ploughed lands were leveled by the peasants using their feet, followed by the planting of the paddy seeds. Once the seeds grew into saplings, they were transplanted and when the crop was mature, it was harvested. Weeds were removed periodically. Paddy was removed from the harvested stalks by beating on the ground or by getting bullocks to tread on them.

Cleared paddy was collected, measured and stored in proper containers. Millets were grown on the *Pinpulam* or the dry lands and in the Kurinji region. Crop rotation was followed – for instance, cotton and millets were grown simultaneously on the same plot and after that, beans were cultivated on it.

A wide range of tools needed for agriculture, from ploughing to harvesting, were manufactured. The basic tool was a plough also known as *meli*, *nanchil* and *kalappai*. It consists of a wooden plank to tie the oxen and an iron bar attached to the plank, that tilled the land.

This tool helped to bring the low-lying soil to the upper layer and send the top layer to the bottom, thereby aerating the land. For digging earth, a spade with wooden handle and a sharp terminal was used. A wooden leveler known as *palli* or *maram* was used to level the ploughed land. *Palliyadutal* refers to the process of removing weeds by means of a toothed implement attached to a plank and drawn by oxen.

Farmers used a bullock-propelled contrivance called *Kapilai* for bailing out water from deep wells and a manual setup called *Erram*, for shallow wells. Water bales were also known as *ampi* and *kilar*. Protecting the standing crops from stray animals and birds was an important activity and was carried out by young girls and lower-class peasants.

While the young girls used rattles to scare birds away, the *Kuravan* and *Kurathi* used a stone-sling device called *Kavan* to drive away elephants and birds. It is said that an accurate shot from the sling could even kill an animal. Bugles and burning torches were other mechanisms used to keep wild animals away from the fields. Sickles were used for harvesting fully grown paddy and reaping the ripe ears of corn.

The paddy grain was separated by thrashing the sheaths on the ground. Ears of millets were stamped on by farm workers and that of black gram were beaten by a stick.

References

- Allan, John: *Catalogue of the Coins of Ancient India*, London, 1967.
Altekar, A.S. : *State and Government in Maurya Kingdoms*, Delhi, 1958.
Avari, Burjor: *India: The Ancient Past*, London: Routledge, 2007.
Barnett, L. D. : *Satavahana and Satakarni*, *Bulletin of the School of Oriental studies*, Cambridge University Press 1938.
Cribb, Joseph: *The Indian Coinage Tradition: Origins, Continuity & Change*, British Academy, 1991.

- David F. : *Emptiness Appraised: A Critical Study of Nagarjuna's Philosophy*, New York: Routledge Curzon, 1999.
- Ernst, W. and B. Pati : *India's Princely States: People, Princes and Colonialism*, London, 2007.
- Franklin Edgerton : *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar & Dictionary*, South Asia books Delhi, 1998.
- Goyal, S. R. : *Kautilya and Megasthenes*, Kusumanjali Praksshan, Meerut, 1985.
- Huntington, Susan : *The Art of Ancient India: Buddhist, Hindu, Jain*, Boston: Weatherhill, 1985.
- Jin Park : *Buddhisms and Deconstructions*, Rowman & Littlefield Publishers, 2006.
- K. N. Jha, : *"Chanayka: The Pioneer Economist of the World"*, International Journal of Social Economics, 1998.
- Kailash Chand : *Lord Mahavira and His Times*, Delhi, 1974.
- Kamaleswar, B. : *The Dialectical Method of Nagarjuna*, New Delhi: Motilal Banarsidass, 2002.
- Koenraad, E.: *Update on the Aryan Invasion Debate*, New Delhi, Aditya Prakashan, 1999.

East India Company and its Approach Towards Natives Cultural and Religious Beliefs

Dr. Saroj Kumar Singh

VIP Lane, Bhagwan Bazar, Chapra

The East India Company was different in another way from other conquerors of India. Since its inception in India many of its officials took deep interest in cultural and religious beliefs of the native land. In fact, the company emancipated many social evils and conservative practices. The approach of company was different from its predecessors i.e, Mughal. In a sharp contrast to the Mughals who were least bothered about social and religious enlightenments of the pupil, the East India Company was to a large extent can be called an emancipator of the evil traditions of native land.

A firm initiative in this direction was taken by Lord William Bentick who was the first Governor General of India and abolished Sati (burning of widow in a funeral pyre after the death of her husband) in 1829 A.D. through a regulation vide No.XVII of 4th December 1829. It declared that that the practice of Sati or burning of widows at her husband's funeral pyre, burning alive of widows illegal and punishable by the Criminal Courts as culpable homicide. The Regulation of 1829 A.D. was applicable in the first place to Bengal Presidency alone, but in 1830 it was extended in different forms to Madras and Bombay Presidencies. A few orthodox Bengalis vainly made an appeal to the Privy Council against Government's interference in their religious customs. Counter petitions were sent to the King by Raja Ram Mohan Roy and Devendra Nath Tagore and William Bentik was thanked for what he had done.¹

The practice of killing infant girls prevailed among some Rajput clans. Many dubious methods were used to reduce female children; some neglected to suckle the child, others administered poisonous drugs (mostly opium) through the nipple of mother's breast, still some dare-devils put the girl in a sack and threw it into a river. Infanticide was found to be prevalent among some Rajput tribes in the province of Benaras, among the Jharria Rajputs of Cutch and Gujarat and cases were also reported from the Rathors of Jaipur and Jodhpur and even the Jats and Mewatis were non immune from this evil practice. Although infanticide had been declared illegal by Bengal Regulation XXI of 1795 and Regulation III of 1804, the inhuman practice still continued William Bentik took vigorous steps to suppress this immoral and inhuman practice.²

Another great reform to the credit of William Bentick is the suppression of thugs. The thugs, i.e, cheats were a sect of hereditary assassins and robbers who lived by praying upon innocent and defenceless travellers. A more

appropriate name for them was Pansigar, derived from the scarf and noose used by thugs to strangle their victims.

However remote the origin of thug the organization found a very congenial atmosphere for growth during the period of decay and downfall of Mughal Empire when all police arrangements broke down and public roads became insecure. Petty officials of small states in central India, unable to effectively deal with thugs, made common cause with them and gave them protection in return for a share in the spoils. The thugs were particularly active in the entire area from Oudh to Hyderabad and in Rajputana and Bundelkhand.

The thugs belonged to both the Hindu and Muslim religions and worshipped the Hindu goddesses like Kali, Durga and Bhawani, to whom they offered the heads of their victims as sacrifices. The thugs were hardened criminals who subordinated their conscience by their perverse reasoning. They believed that thug was a preordained means of livelihood for them and their victim's were ordained to die at their hands. They had a very disciplined organization while there could be some differences of opinion about the abolition of sati, the public opinion solidly supported the Government measures to suppress thug in 1830. The operations against the thugs were put in charge of Colonel William Sleeman. The rulers of the Indian States were invited to co-operate in this task. Colonel Sleeman arrested as many as 1500 thugs and sentenced to death or imprisonment for life. Thug on an organized scale ceased to exist after 1837, although individual bad characters continued their nefarious activities.³

The Religious Disabilities Act of 1856 gave protection to Hindus all over India who had converted to Christianity. In the year 1832 a similar law was passed giving protection to Christian converts in inheriting property, but this law was confined only to Bengal presidency, notably in case of inheriting property. Some Baptist missionaries in a pamphlet entitled, "addressed to Hindus and Mohamedans" referred to Mohammad as a false prophet and denounced Hinduism as 'a mass of idolatory' superstition and ignorance. The thrust of the missionary activities was to convert Hindus and Muslims in the Christianity. The foreign funded institutions tried to allure the backward and weaker sections of the Indian Society by opening charity centres like dispensaries, orphan houses and even schools which provided free food, clothes and free education to Indian children. In 1855 Mr. Edward Christian Missionary of Calcutta published a pamphlet distributed all over India in which he urged all Indians to convert to Christianity. The government schools held Bible classes, which were perceived by the natives as an attack on their religious beliefs and practices.⁴

The Hindu Remarriage Act of 1856 was another radical piece of legislation, which allowed Hindu widows to remarry, something which in previous history of India they could never do as women in Hindu patriarchal set up was considered as a commodity or as an object. The legislation got its support from Tattvabodhini Sabha founded in 1839 by Devendra Nath Tagore and Adi Brahma Samaj of Keshav Chandra Sen.⁵

Legislative action in prohibiting child marriage came in 1872 when by the Native Marriage Act (popularly known as Civil Marriage Act) marriage of girls below the age of 14 and boys below 18 years of age were forbidden. However,

this act was not applicable to Hindus, Muslims and other recognized faiths and as such had very limited impact of Indian society. B.M. Malabari, a Parsi reformer of the 19th century, started a crusade against child marriage and his efforts were crowned by the enactments of the Age of Consent Act, 1891 which forbade the marriage of girls below the age of 12 years. The Sharda Act (1930) further pushed up the marriage age and provided for Penal action in marriages of boys under 18 years and girls under 14 years of age.⁶

Hindu society in the 19th century suffered from false religious illusion that Hindu scriptures did not sanction female education that education of girls wrought wrath of Gods leading to their widowhood. The Christian missionaries, whatever their motives were first to setup Calcutta Female Juvenile Society in 1819 A.D. However, the celebrated name of J.E.D. Bathune, President of the Council of Education will always be remembered with respect. In 1849, he established the first Girl School in Calcutta. In Bombay the Elphinstone Institute became the spearhead of women education and founded the Student's Literary and Scientific Society. Charles Wood (1854) dispatch laid great stress on need of female education. In the broader perspective, women education became a part of the general campaign for amelioration of the plight of women in society.⁷

Slavery in India was more akin to what may be termed as bounded servant or bounded labour. Slavery was abolished in British Empire in 1833 and a clause was inserted in the Charter Act of 1833 requiring the Governor General in council to abolish slavery in India as soon as it declared slavery illegal and all existing slaves were emancipated. The Penal Code of 1860 declared trade in slavery illegal.⁸

References

1. Charles H. Heimsath, Indian Nationalism and Hindu Social Reform (Princeton New Jersey, U.S.A., 1964), PP. 312-313; Joshi, Vic, 'Ram Mohan Roy and the process of Modernization in India(Vikas, Delhi, 1975).
2. Heimsath H. Charles, "Indian Nationalism and Hindu Social Reform" (Princeton New Jersey, Princeton, 1964), PP. 104-105, Chandra Bipin, Modern India(N.C.E.R.T.)
3. Papers presented by Ashok Sen, Barun Dey, Sumit Sarkar and Pradyumn Bhattacharya in Nehru Memorial Museum & Library, N. Delhi, Oct. 1972, Baary, Theodore de, 'Sources of Indian Tradition'.
4. Spear P., " The Oxford History of Modern India", P. 170-175; Mazumdar, R.C. ' History and Culture of Indian People'
5. Shri Nivas, M.N.'Social Change in Modern India (California, 1965), Mazumdar, R.C. (ed)British Paramountay and Indian Renaissance (Bombay, 1974), Heismath, C.H., Indian Nationalism and Hindu Social Reform(Princeton, 1964)
6. Banerjee, A.C.(ed)'Indian Constitutional Documents, 1757-1947, 4 vols. (Calcutta-1961)
7. Jones Kenneth, ' Socio-Religious Reform Movement in British India (New Cambridge History of India, 1994), 'Ranade M.G.,' Religious and Social Reform' Sarkar Sumit, Bibliographical survey of Social Reform Movements in the 18th and 19th centuries (I.C.H.R.)
8. Natrajan S., A Century of Social Reform in India, Jones Keneth, Arya Dharma: Hindu Consciousness in 19th century.

National Integration in India: After Partition and Independence

Dr. Alka Sharma

Associate Professor, Department of History, Shyam Lal College, Delhi

The euphoria of independence was short-lived as partition brought disastrous consequences for India in the wake of communal conflict. Partition unleashed untold misery and loss of lives and property as millions of Hindu and Muslim refugees fled either Pakistan or India. Both nations were also caught up in a number of conflicts involving the allocation of assets, demarcation of boundaries, equitable sharing of water resources, and control over Kashmir. At the same time, Indian leaders were faced with the stupendous task of national integration and economic development.

When the British relinquished their claims to paramountcy, the 562 independent princely states were given the option to join either of the two nations. A few princely states readily joined Pakistan, but the rest—except Hyderabad (the largest of the princely states with 132,000 square kilometers and a population of more than 14 million), Jammu and Kashmir (with 3 million inhabitants), and Junagadh (with a population of 545,000)—merged with India. India successfully annexed Hyderabad and Junagadh after “police actions” and promises of privileges to the rulers.

The Hindu maharajah of predominantly Muslim Jammu and Kashmir remained uncommitted until armed tribesmen and regular troops from Pakistan infiltrated his domain, inducing him to sign the Instrument of Accession to India on October 27, 1947. Pakistan refused to accept the legality of the accession, and, as a result, war broke out. Kashmir remains a source of friction between the neighbours. The assassination of Mahatma Gandhi on January 30, 1948, in New Delhi, by a Hindu extremist opposed to Gandhi’s openness to Muslims ended the tenuous celebration of independence and deepened the hatred and mutual suspicion in Hindu-Muslim relations.

Economic backwardness was one of the serious challenges that India faced at independence. Under three successive five-year plans, inaugurated between 1951 and 1964 under Nehru’s leadership, India produced increasing amounts of food. Although food production did not allow self-sufficiency until fiscal year 1984, India has emerged as the nation with the seventh largest gross national product in the world.

Linguistic regionalism eventually reached a crisis stage and undermined the Congress’ attempts at nation building. Whereas in the early 1920s, the Congress had deemed that the use of regional vernaculars in education and administration would facilitate the governance of the country, partition made the leaders, especially Nehru, realize how quickly such provincial or subnational

interests would dismantle India's fragile unity. However, in the face of widespread agitation for linguistic separation of states, beginning with the Telangana Movement in 1953, in 1956 Nehru reluctantly accepted the recommendations of the States Reorganisation Commission, and the number of states grew by reorganization along linguistic lines.

The states became the loci for democratization of political processes at district levels, for expression of regional culture and popular demands against a national culture and unity, for economic development at strategic localities in the rural areas, and for proliferation of opposition parties that ended the possibility of a pan-Indian two-party system. LOC data

Political Integration of India

The political integration of India established a united nation for the first time in centuries from a plethora of princely states, colonial provinces and possessions. Despite partition, a new India united peoples of various geographic, economic, ethnic, linguistic and religious backgrounds. The process began in 1947, with the unification of 565 princely states through a critical series of political campaigns, sensitive diplomacy and military conflicts. India was transformed after independence through political upheaval and ethnic discontent, and continues to evolve as a federal republic natural to its diversity. The process is defined by sensitive religious conflicts between Hindus and Muslims, diverse ethnic populations, as well as by geo-political rivalry and military conflicts with Pakistan and China.

When the Indian independence movement succeeded in ending the British Raj on August 15, 1947, India's leaders faced the prospect of inheriting a nation fragmented between medieval-era kingdoms and provinces organised by colonial powers. Sardar Vallabhbhai Patel, one of India's most respected freedom fighters, as the new Minister of Home Affairs was the man responsible for employing political negotiations backed with the option (and the use) of military force to ensure the primacy of the Central government and of the Constitution then being drafted.

India's constitution pronounced it a *Union of States*, exemplifying a federal system with a strong central government. Over the course of the two decades following Independence the Government of India reclaimed the possessions of the French Empire and Portugal. But the trend changed as popular movements arose for the recognition of regional languages, and attention for the special issues of diverse regions. A backlash ensued against *centralization* — the lack of attention and respect for regional issues resulted in cultural alienation and violent separatism. The Central government attempted to balance the use of force on separatist extremists with the creation of new States in order to reduce the pressures on the Indian State. The map has been redrawn, as the nature of the federation transforms. Today, the Republic of India is a Union of 28 states and 7 territories.

British India

British colonization of the Indian subcontinent began in the early 18th century. By the mid-19th century, most of the subcontinent was under British

rule. With the arrival of Lord Mountbatten (the former Lord Louis Mountbatten later created Viscount Mountbatten of Burma, then promoted to Earl) as the Viceroy of India in early 1947, the British government under Prime Minister Clement Attlee made a clear indication that the independence of India was imminent. India's top political parties, the Indian National Congress and the All India Muslim League were both negotiating the impending transfer of power as well as the make-up of the new Indian government. To this end, elections were held for the Constituent Assembly of India. In June 1947, the Congress and the League agreed to the planned partition of British India into two independent British Commonwealth dominions: India and Pakistan. Burma had been separated from British India in 1937 and it became independent along with Ceylon (never a part of British India) in 1948.

Without the princely states, the Dominion of India would comprise the provinces of Bombay Presidency, Madras Presidency, the United Provinces of Agra and Oudh, the Central Provinces and Berar, Assam, Orissa, Bihar, and the chief commissioners' provinces of Coorg, Ajmer-Merwara, Panth-Piploda, and Delhi.

The North West Frontier Province, Sindh, and the chief commissioners' province of Baluchistan would go to Pakistan. The provinces of Bengal and Punjab had been partitioned in 1946, with India retaining West Bengal and East Punjab, the Hindu-majority portions of the larger provinces. West Punjab and East Bengal were heavily Muslim, and went to Pakistan. The Andaman and Nicobar Islands and the Lakshadweep Islands would be turned over to the control of India.

The States

There were between 570 and 600 princely states which enjoyed special recognition by and relationship with the British Raj. The British government announced in the Indian Independence Act 1947 that with the transfer of power on August 15, 1947, all of these states would be freed of their obligations to the British Empire, and thus would be free to join either India or Pakistan, or to choose to become independent. The kingdom of Nepal was an independent treaty ally, and became a fully sovereign nation. The kingdom of Bhutan would dissolve its protectorate relationship similarly, but via treaty in 1949, India would become the guarantor of its security. The kingdom of Sikkim became a protectorate of India. Apart from a few which were geographically unalienable from Pakistan, approximately 565 princely states were clearly linked to India, the largest nation.

The largest of them included Hyderabad and Kashmir, while 222 states existed in the Kathiawar peninsula alone. The states comprised more than half of the territory of India and a large proportion of its population. It was believed that without a single federal structure India would be susceptible to political, military and social conflicts. The British had taken control of India piecemeal and over the course of a century; most of the states had signed different treaties at different times with the British East India Company and the British Crown, giving the British Raj varying degrees of control over foreign, interstate relations and defence. Indian monarchs accepted the suzerainty of Britain in India, paid

tribute and allowed British authorities to collect taxes and appropriate finances, and in many cases, manage the affairs of governance via the Raj's Political Department. The princes were represented in the Imperial Legislative Council and the Chamber of Princes, and under law enjoyed relationships described as that of allies, not subordinates. Thus the princes maintained a channel of influence with the British Raj.

Process of Accession

The states of Gwalior, Bikaner, Patiala and Baroda were the first to join India on April 28, 1947. Others were wary, distrusting a democratic government led by revolutionaries of uncertain, and possibly radical views, and fearful of losing their influence as rulers. Travancore and Hyderabad announced their desire for independence while the Nawab of Bhopal, Hamidullah Khan, expressed his desire to either negotiate with Pakistan or seek independence.

The Nawab was a powerful influence on a number of princes, as he was the former chancellor of the *Chamber of Princes*. In addition, Jodhpur, Indore and Jaisalmer conducted a dialogue with Muhammad Ali Jinnah, the slated Governor-General of Pakistan, to discuss terms for a possible accession to it. While this surprised many in both India and Pakistan, neither party could ultimately ignore the fact that these kingdoms were Hindu-majority, which rendered their membership in overwhelmingly Muslim Pakistan untenable.

Sardar Vallabhbhai Patel was the Minister for Home and States Affairs, and was given the explicit responsibility of welding a united and strategically secure India in time for the transfer of power. Patel was considered the best man for the task by the Congress Party, as well as Lord Mountbatten and senior British officials. Mahatma Gandhi had, in fact, said to Patel *"the problem of the States is so difficult that you alone can solve it"*. He was recognised by the Princes and parliamentarians alike to be a man of integrity; and, in addition, he was believed to have the practical acumen and resolve to accomplish a monumental task. Patel asked V. P. Menon, a senior civil servant with whom he had worked over the partition of India, to become the Secretary in charge of the Home and States Ministry, as it then was. Patel's admirers would later call him the *Iron Man of India* for his decisive actions at this time.

Instrument of Accession

Sardar Patel and V.P. Menon devised a formula to propose to the monarchs. The Instrument of Accession was the official treaty to be signed between the Government of India or the Government of Pakistan and the accession candidates. According to the basic tenets of the treaty, the Government of India would control only foreign affairs, defence and communications, leaving all internal issues to be administered by the states. On July 5, 1947, the official policy of the Government of India was released, and stated:

"We ask no more of the States than accession on these three subjects in which the common interests of the country are involved. In other matters we would scrupulously respect their autonomous existence. This country... is the proud heritage of the people who inhabit it. It is an accident that some live in the States and some in British India... None can segregate us into segments... I

suggest that it is better therefore for us to make laws sitting together as friends than to make treaties as aliens. I invite my friends the rulers of States and their people to the councils of the Constituent Assembly in this spirit of friendliness... Congressmen are no enemies of the princely order.”

Considering that the princes had to sign away the sovereignty of states where their families had reigned for centuries, and that they believed that India's security would be jeopardised if even one state refused to sign on, Patel and Menon were of the opinion that this was the best deal that could be put to the princes.

While negotiating with the states, Patel and Menon also guaranteed that monarchs who signed on willingly would be retained as constitutional heads of state, although they would be 'encouraged' to hand their power over to an elected government. Once the Instrument of Accession was signed, the state would be represented in the Constituent Assembly of India, thus becoming an active participant in framing the new Constitution.

References

- Ali, Tariq : *An Indian Dynasty: The Story of the Nehru-Gandhi Family*, New York, Putnam, 1985.
- Bailey, F. G. : *Caste and the Economic Frontier: A Village in Highland Orissa*, Manchester, University of Manchester, 1957.
- Basham, A.L. : *A Cultural History of India*, Oxford, Clarendon Press, 1975.
- Chakrabarti, Santosh: *Studies in Tagore: Critical Essays*, New Delhi, Atlantic, 2004.
- Dahiya, L.N.: *Dynamics of Economic Life in Rural India*. Delhi: Gian, 1991.
- Dan Nabudere: *The Political Economy of Imperialism*, London, 1977.
- Frykenberg, Robert E. *Guntur District 1788-1848: A History of Local Influence and Central Authority in South India*. Oxford: Oxford University Press, 1965.
- Guha, Sumit: *The Agrarian Economy of the Bombay Deccan, 1818-1941*, Delhi, Oxford University Press, 1985.
- Hazard, H.J.: *The Soviet System of Government*, Chicago, University of Chicago Press, 1960.
- Imtiaz, A.: *State and Foreign Policy: India's Role in South Asia*, New Delhi, Vikas, 1993.
- Jack Peltason: *Federal Courts in the Political Process*, New York, Random House, 1955.
- Narula, Sanjay : *Indian Politics*, New Delhi, Murari Lal and Sons, 2007.
- Patnaik, Naveen: *A Second Paradise: Indian Courtly Life, 1590-1947*, Garden City, New Jersey, Doubleday, 1985.
- Prasad, Lal Bahadur: *Indian Political System and Law*, New Delhi, Shree, 2005.
- Sankar Ghose: *Congress Presidential Speeches*, New Delhi, 1975.
- Terry, L.: *Handbook of Administrative Ethics*, New York, Marcel Dekker, 2001.

Measures of National Income and Output

Dr. Antara Kumari

*Head of Department, Economics,
Jamshedpur Worker's College, Jamshedpur*

A variety of measures of national income and output are used in economics to estimate total economic activity in a country or region, including gross domestic product (GDP), gross national product (GNP), and net national income (NNI). All are specially concerned with counting the total amount of goods and services produced within some “boundary”.

The boundary may be defined climatologically, or by citizenship; and limits on the type of activity also form part of the conceptual boundary; for instance, these measures are for the most part limited to counting goods and services that are exchanged for money: production not for sale but for barter, for one's own personal use, or for one's family, is largely left out of these measures, although some attempts are made to include some of those kinds of production by *imputing* monetary values to them.

As can be imagined, arriving at a figure for the total production of goods and services in a large region like a country entails an enormous amount of data-collection and calculation. Although some attempts were made to estimate national incomes as long ago as the 17th century, the systematic keeping of national accounts, of which these figures are a part, only began in the 1930s, in the United States and some European countries.

The impetus for that major statistical effort was the Great Depression and the rise of Keynesian economics, which prescribed a greater role for the government in managing an economy, and made it necessary for governments to obtain accurate information so that their interventions into the economy could proceed as much as possible from a basis of fact.

In order to count a good or service it is necessary to assign some value to it. The value that all of the measures discussed here assign to a good or service is its market value – the price it fetches when bought or sold. No attempt is made to estimate the actual usefulness of a product – its use-value – assuming that to be any different from its market value.

Three strategies have been used to obtain the market values of all the goods and services produced: the product (or output) method, the expenditure method, and the income method. The product method looks at the economy on an industry-by-industry basis. The total output of the economy is the sum of the outputs of every industry. However, since an output of one industry may be used by another industry and become part of the output of that second industry, to avoid counting the item twice we use, not the value output by each industry, but the value-added; that is, the difference between the value of what it puts out and what it takes in. The total value produced by the economy is the sum of the values-added by every industry.

The expenditure method is based on the idea that all products are bought by somebody or some organisation. Therefore we sum up the total amount of money people and organisations spend in buying things. This amount must equal the value of everything produced.

Usually expenditures by private individuals, expenditures by businesses, and expenditures by government are calculated separately and then summed to give the total expenditure. Also, a correction term must be introduced to account for imports and exports outside the boundary.

The income method works by summing the incomes of all producers within the boundary. Since what they are paid is just the market value of their product, their total income must be the total value of the product. Wages, proprietor's incomes, and corporate profits are the major subdivisions of income.

The names of all of the measures discussed here consist of one of the words "Gross" or "Net", followed by one of the words "National" or "Domestic", followed by one of the words "Product", "Income", or "Expenditure". All of these terms can be explained separately.

"Gross" means total product, regardless of the use to which it is subsequently put.

"Net" means "Gross" minus the amount that must be used to offset depreciation – ie., wear-and-tear or obsolescence of the nation's fixed capital assets. "Net" gives an indication of how much product is actually available for consumption or new investment.

"Domestic" means the boundary is geographical: we are counting all goods and services produced within the country's borders, regardless of by whom.

"National" means the boundary is defined by citizenship (nationality). We count all goods and services produced by the nationals of the country (or businesses owned by them) regardless of where that production physically takes place.

The output of a French-owned cotton factory in Senegal counts as part of the Domestic figures for Senegal, but the National figures of France.

"Product", "Income", and "Expenditure" refer to the three counting methodologies explained earlier: the product, income, and expenditure approaches. However the terms are used loosely.

"Product" is the general term, often used when any of the three approaches was actually used. Sometimes the word "Product" is used and then some additional symbol or phrase to indicate the methodology; so, for instance, we get "Gross Domestic Product by income", "GDP (income)", "GDP(I)", and similar constructions.

"Income" specifically means that the income approach was used.

"Expenditure" specifically means that the expenditure approach was used.

Note that all three counting methods should in theory give the same final figure. However, in practice minor differences are obtained from the three methods for several reasons, including changes in inventory levels and errors in the statistics. One problem for instance is that goods in inventory have been produced (therefore included in Product), but not yet sold (therefore not yet

included in Expenditure). Similar timing issues can also cause a slight discrepancy between the value of goods produced (Product) and the payments to the factors that produced the goods (Income), particularly if inputs are purchased on credit, and also because wages are collected often after a period of production.

General

Gross domestic product (GDP) is defined as the “value of all final goods and services produced in a country in 1 year”.

Gross National Product (GNP) is defined as the market value of all goods and services produced in one year by labour and property supplied by the residents of a country.

As an example, the table below shows some GDP and GNP, and NNI data for the United States:

National income and output (Billions of dollars)

<i>Period Ending</i>	<i>2003</i>
Gross national product	11,063.3
Net U.S. income receipts from rest of the world	55.2
U.S. income receipts	329.1
U.S. income payments	-273.9
Gross domestic product	11,008.1
Private consumption of fixed capital	1,135.9
Government consumption of fixed capital	218.1
Statistical discrepancy	25.6
National Income	9,679.7

- NDP: Net domestic product is defined as “gross domestic product (GDP) minus depreciation of capital”, similar to NNP.
- GDP per capita: Gross domestic product per capita is the mean value of the output produced per person, which is also the mean income.

The Output Approach

The output approach focuses on finding the total output of a nation by directly finding the total value of all goods and services a nation produces.

Because of the complication of the multiple stages in the production of a good or service, only the final value of a good or service is included in total output. This avoids an issue often called ‘double counting’, wherein the total value of a good is included several times in national output, by counting it repeatedly in several stages of production. In the example of meat production, the value of the good from the farm may be \$10, then \$30 from the butchers, and then \$60 from the supermarket. The value that should be included in final national output should be \$60, not the sum of all those numbers, \$100. The values added at each stage of production over the previous stage are respectively \$10, \$20, and \$30. Their sum gives an alternative way of calculating the value of final output.

Formulae: GDP(gross domestic product) at market price = value of output in an economy in a particular year-intermediate consumption

NNP at factor cost = GDP at market price-depreciation + NFIA (*net factor income from abroad*)-net indirect taxes

The Income Approach

The income approach focuses on finding the total output of a nation by finding the total income received by the factors of production owned by that nation.

The main types of income that are included in this approach are rent (the money paid to owners of land), salaries and wages (the money paid to workers who are involved in the production process, and those who provide the natural resources), interest (the money paid for the use of man-made resources, such as machines used in production), and profit (the money gained by the entrepreneur-the businessman who combines these resources to produce a good or service).

Formulae: NDP at factor cost = compensation of employee + operating surplus + mixed income of self employee

National income = NDP at factor cost + NFIA (net factor income from abroad)-Depreciation

The Expenditure Approach

The expenditure approach is basically an output accounting method. It focuses on finding the total output of a nation by finding the total amount of money spent. This is acceptable, because like income, the total value of all goods is equal to the total amount of money spent on goods. The basic formula for domestic output combines all the different areas in which money is spent within the region, and then combining them to find the total output.

$$\text{GDP} = C + I + G + (X - M)$$

Where:

C = household consumption expenditures/personal consumption expenditures

I = gross private domestic investment

G = government consumption and gross investment expenditures

X = gross exports of goods and services

M = gross imports of goods and services

Note: (X-M) is often written as X_{N} which stands for "net exports"

National Income and Welfare

GDP per capita (per person) is often used as a measure of a person's welfare. Countries with higher GDP may be more likely to also score highly on other measures of welfare, such as life expectancy. However, there are serious limitations to the usefulness of GDP as a measure of welfare:

- Measures of GDP typically exclude unpaid economic activity, most importantly domestic work such as childcare. This leads to distortions; for example, a paid nanny's income contributes to GDP, but an unpaid

parent's time spent caring for children will not, even though they are both carrying out the same economic activity.

- GDP takes no account of the inputs used to produce the output. For example, if everyone worked for twice the number of hours, then GDP might roughly double, but this does not necessarily mean that workers are better off as they would have less leisure time. Similarly, the impact of economic activity on the environment is not measured in calculating GDP.
- Comparison of GDP from one country to another may be distorted by movements in exchange rates. Measuring national income at purchasing power parity may overcome this problem at the risk of overvaluing basic goods and services, for example subsistence farming.
- GDP does not measure factors that affect quality of life, such as the quality of the environment (as distinct from the input value) and security from crime. This leads to distortions—for example, spending on cleaning up an oil spill is included in GDP, but the negative impact of the spill on well-being (e.g. loss of clean beaches) is not measured.
- GDP is the mean (average) wealth rather than median (middle-point) wealth. Countries with a skewed income distribution may have a relatively high per-capita GDP while the majority of its citizens have a relatively low level of income, due to concentration of wealth in the hands of a small fraction of the population.

Because of this, other measures of welfare such as the Human Development Index (HDI), Index of Sustainable Economic Welfare (ISEW), Genuine Progress Indicator (GPI), gross national happiness (GNH), and sustainable national income (SNI) are used.

References

- Barnett, Raymond A. and Michael R. Ziegler. Finite Mathematics, Sixth Edition. New York: Macmillan Publishing Co., 1993.
- Press, William H. et. al. Numerical Recipes in C. New York: Cambridge University Press, 1996.
- Spiegel, Murray R. Theory and Problems of Statistics, Second Edition. New York: McGraw-Hill Inc., 1994.
- Amos, Orley. Economic Literacy. Hawthornel, New Jersey: Career Press, 1994.
- Heilbroner, Robert and Lester Thurow. Economics Explained. New York: Simon and Schuster Publishing, 1994..

Limitations of GDP to Judge the Health of an Economy

Dr. Raman Kumar Jha

B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur

GDP is widely used by economists to gauge the health of an economy, as its variations are relatively quickly identified. However, its value as an indicator for the standard of living is considered to be limited. Not only that, but if the aim of economic activity is to produce ecologically sustainable increases in the overall human standard of living, GDP is a perverse measurement; it treats loss of ecosystem services as a benefit instead of a cost. Other criticisms of how the GDP is used include:

- Wealth distribution-GDP does not take disparity in incomes between the rich and poor into account. However, numerous Nobel-prize winning economists have disputed the importance of income inequality as a factor in improving long-term economic growth. In fact, short term increases in income inequality may even lead to long term decreases in income inequality.
- Non-market transactions-GDP excludes activities that are not provided through the market, such as household production and volunteer or unpaid services. As a result, GDP is understated. Unpaid work conducted on Free and Open Source Software (such as Linux) contribute nothing to GDP, but it was estimated that it would have cost more than a billion US dollars for a commercial company to develop. Also, if Free and Open Source Software became identical to its proprietary software counterparts, and the nation producing the propriety software stops buying proprietary software and switches to Free and Open Source Software, then the GDP of this nation would reduce, however there would be no reduction in economic production or standard of living. The work of New Zealand economist Marilyn Waring has highlighted that if a concerted attempt to factor in unpaid work were made, then it would in part undo the injustices of unpaid (and in some cases, slave) labour, and also provide the political transparency and accountability necessary for democracy. Shedding some doubt on this claim, however, is the theory that won economist Douglass North the Nobel Prize in 1993. North argued that the creation and strengthening of the patent system, by encouraging private invention and enterprise, became the fundamental catalyst behind the Industrial Revolution in England.
- Underground economy-Official GDP estimates may not take into account the underground economy, in which transactions contributing to production, such as illegal trade and tax-avoiding activities, are unreported, causing GDP to be underestimated.

- Non-monetary economy-GDP omits economies where no money comes into play at all, resulting in inaccurate or abnormally low GDP figures. For example, in countries with major business transactions occurring informally, portions of local economy are not easily registered. Bartering may be more prominent than the use of money, even extending to services (I helped you build your house ten years ago, so now you help me).
- GDP also ignores subsistence production.
- Quality of goods-People may buy cheap, low-durability goods over and over again, or they may buy high-durability goods less often. It is possible that the monetary value of the items sold in the first case is higher than that in the second case, in which case a higher GDP is simply the result of greater inefficiency and waste.
- Quality improvements and inclusion of new products-By not adjusting for quality improvements and new products, GDP understates true economic growth. For instance, although computers today are less expensive and more powerful than computers from the past, GDP treats them as the same products by only accounting for the monetary value. The introduction of new products is also difficult to measure accurately and is not reflected in GDP despite the fact that it may increase the standard of living. For example, even the richest person from 1900 could not purchase standard products, such as antibiotics and cell phones, that an average consumer can buy today, since such modern conveniences did not exist back then.
- What is being produced-GDP counts work that produces no net change or that results from repairing harm. For example, rebuilding after a natural disaster or war may produce a considerable amount of economic activity and thus boost GDP. The economic value of health care is another classic example—it may raise GDP if many people are sick and they are receiving expensive treatment, but it is not a desirable situation. Alternative economic estimates, such as the standard of living or discretionary income per capita try to measure the human utility of economic activity.
- Externalities-GDP ignores externalities or economic bads such as damage to the environment. By counting goods which increase utility but not deducting bads or accounting for the negative effects of higher production, such as more pollution, GDP is overstating economic welfare. The Genuine Progress Indicator is thus proposed by ecological economists and green economists as a substitute for GDP, supposing a consensus on relevant data to measure “progress”. In countries highly dependent on resource extraction or with high ecological footprints the disparities between GDP and GPI can be very large, indicating ecological overshoot. Some environmental costs, such as cleaning up oil spills are included in GDP.
- Sustainability of growth-GDP is not a tool of economic projections, which would make it subjective, it is just a measurement of economic activity. That is why it does not measure what is considered the sustainability of growth. A country may achieve a temporarily high GDP by over-exploiting

natural resources or by misallocating investment. For example, the large deposits of phosphates gave the people of Nauru one of the highest per capita incomes on earth, but since 1989 their standard of living has declined sharply as the supply has run out. Oil-rich states can sustain high GDPs without industrializing, but this high level would no longer be sustainable if the oil runs out. Economies experiencing an economic bubble, such as a housing bubble or stock bubble, or a low private-saving rate tend to appear to grow faster owing to higher consumption, mortgaging their futures for present growth. Economic growth at the expense of environmental degradation can end up costing dearly to clean up.

- One main problem in estimating GDP growth over time is that the purchasing power of money varies in different proportion for different goods, so when the GDP figure is deflated over time, GDP growth can vary greatly depending on the basket of goods used and the relative proportions used to deflate the GDP figure. For example, in the past 80 years the GDP per capita of the United States if measured by purchasing power of potatoes, did not grow significantly. But if it is measured by the purchasing power of eggs, it grew several times. For this reason, economists comparing multiple countries usually use a varied basket of goods.
- Cross-border comparisons of GDP can be inaccurate as they do not take into account local differences in the quality of goods, even when adjusted for purchasing power parity. This type of adjustment to an exchange rate is controversial because of the difficulties of finding comparable baskets of goods to compare purchasing power across countries. For instance, people in country A may consume the same number of locally produced apples as in country B, but apples in country A are of a more tasty variety. This difference in material well being will not show up in GDP statistics. This is especially true for goods that are not traded globally, such as housing.
- Transfer pricing on cross-border trades between associated companies may distort import and export measures.
- As a measure of actual sale prices, GDP does not capture the economic surplus between the price paid and subjective value received, and can therefore underestimate aggregate utility.
- Austrian economist critique-Criticisms of GDP figures were expressed by Austrian economist Frank Shostak. Among other criticisms, he stated the following:

The GDP framework cannot tell us whether final goods and services that were produced during a particular period of time are a reflection of real wealth expansion, or a reflection of capital consumption.

He goes on: For instance, if a government embarks on the building of a pyramid, which adds absolutely nothing to the well-being of individuals, the GDP framework will regard this as economic growth. In reality, however, the building of the pyramid will divert real funding from wealth-generating activities, thereby stifling the production of wealth.

Austrian economists are critical of the basic idea of attempting to quantify national output. Shostak quotes Austrian economist Ludwig von Mises: The attempt to determine in money the wealth of a nation or the whole mankind are as childish as the mystic efforts to solve the riddles of the universe by worrying about the dimension of the pyramid of Cheops. Simon Kuznets in his very first report to the US Congress in 1934 said: ...the welfare of a nation [can] scarcely be inferred from a measure of national income...

In 1962, Kuznets stated: Distinctions must be kept in mind between quantity and quality of growth, between costs and returns, and between the short and long run. Goals for more growth should specify more growth of what and for what.

References

- Hirsch, Jr., E.D., et. al. The Dictionary of Cultural Literacy, Boston: Houghton Mifflin Co., 1993.
- Jones, Judy and William Wilson. An Incomplete Education. New York: Ballantine Books, 1987.
- Barnett, Raymond A. and Michael R. Ziegler. Finite Mathematics, Sixth Edition. New York: Macmillan Publishing Co., 1993.
- Press, William H. et. al. Numerical Recipes in C. New York: Cambridge University Press, 1996.
- Spiegel, Murray R. Theory and Problems of Statistics, Second Edition. New York: McGraw-Hill Inc., 1994.
- Amos, Orley. Economic Literacy. Hawthornel, New Jersey: Career Press, 1994.
- Heilbroner, Robert and Lester Thurow. Economics Explained. New York: Simon and Schuster Publishing, 1994..
- Leone, Bruno. [Editor]. Capitalism: Opposing Viewpoints. St. Paul, Minnesota: GreenHaven Press, 1986.
- Siegel, Joel G. and Jae K. Shim. Finance. New York: Barron's, 1991.

The Production of Wealth

Dr. Sanjay Kumar

*Librarian, Govt. Shri Guru Shankar High School,
Badadaud, Paru, Muzaffarpur*

The Meaning of Production

The word production comes from the Latin, pro, before, and ducere, to draw, and its literal meaning is a drawing forth. Production, as a term of political economy, means a drawing forth by man; a bringing into existence by the power of man. It does not mean creation, the proper sense of which is a bringing into existence by a power superior to that of man. Nothing that is created can in the politico-economic sense be said to be produced. Man is not a creator; he has no power of originating things, of making something out of nothing. He is a producer; that is to say a changer, who brings forth by altering what already is. All his making of things, his causing things to be, is a drawing forth, a modification in place or relation, and in accordance with natural laws, which he neither originated nor altered, of what he finds already in existence. All his production has as its substratum what he finds already in the world; what exists irrespective of him. This substratum or nexus, the natural or passive factor, on which and by which the human or active factor of production acts, is in the terminology of political economy called land.

In common speech, the word production is frequently used in a sense which distinguishes the first from the later stages of wealth-getting; and those engaged in the primary extractive or formative processes are often styled producers, as distinguished from transporters or exchangers. This use of the word production may be convenient where we wish to distinguish between separable functions, but we must be careful not to import it into our use of the economic term. In the economic meaning of the word production, the transporter or exchanger, or anyone engaged in any sub-division of those functions, is as truly engaged in production as is the primary extractor or maker. A newspaper-carrier or the keeper of a newsstand would for instance in common speech be styled a distributor. But in economic terminology he is not a distributor of wealth, but a producer of wealth. Although his part in the process of producing the newspaper comes last, not first, he is as much a producer as the paper-maker or type-founder, the editor or compositor or press-man.

For the object of production is the satisfaction of human desires, that is to say it is consumption; and this object is not made capable of attainment, that is to say, production is not really complete, until wealth is brought to the place where it is to be consumed and put at the disposal of him whose desire it is to satisfy. Thus, the production of wealth in political economy includes transportation and exchange. The distribution of wealth, on the other hand, has in economic phraseology no relation to transportation or exchange, but refers, as we shall see when we come to treat of it, to the division of the results

of production. This fact has been ignored by the great majority of professed economists who with few exceptions treat of exchange under the heading of the distribution of wealth instead of giving it its proper place under the heading of the production of wealth.

The Three Modes of Production

All production results from human exertion upon external nature, and consists in the changing in place, condition, form or combination of natural materials or objects so as to fit them or more nearly fit them for the satisfaction of human desires. But production takes place in different ways. If we run over in mind as many examples as we can think of in which the exertion of labour results in wealth — either in those primary or extractive stages of production in which what before was not wealth is made to assume the character of wealth; or in the later or secondary stages, in which an additional value or increment of wealth is attached to what has already been given the character of wealth — we find that they fall into three categories or modes.

The first of these three modes of production, for both reason and tradition unite in giving it priority, is the mode of production of the fisherman, the hunter, the miner, the smelter, the refiner, the manufacturer. We use it when we produce wealth by taking coal from the vein and changing its place to the surface of the earth; and again when we bring about a further increment of wealth by carrying the coal to the place where it is to be consumed in the satisfaction of human desires.

We use this mode of production when we convert trees into lumber, or lumber into boards; when we convert wheat into flour, or the juice of the cane or beet into sugar; when we separate the metals from the combinations in which they are found in the ores, and when we unite them in new combinations that give us desirable alloys such as brass or bronze, or when by the various processes of separating and recombining we produce the textile fabrics, and convert them again into clothes, or when by bringing their various materials into suitable forms and combinations, we construct tools, machines, or houses. In fact, all that in the narrower sense we usually call “manufacturing” is brought about by the application of labour in this first mode of production — the mode of “adapting.”

In the Northwest, however, they speak sometimes of “manufacturing wheat;” in the West of “making hogs,” and in the South of “making cotton” (the fiber) or “making tobacco” (the leaf). But in such local or special senses the words manufacturing or making are used as equivalent to producing. The sense is not the same, nor is the suggested action in the same mode, as when we properly speak of flour as being manufactured, or of bacon, cotton cloth or cigars being made. Wonderful machines are indeed constructed by man’s power of adaptation. But no extension of his power of adaptation will enable him to construct a machine that will feed itself and produce its kind. His power of adapting extended infinitely would not enable him to manufacture a single wheat grain that would sprout, or to make a hog or a cotton-boll. The tiniest of such things are as much above man’s power of adapting as is the “making” of a world or the “manufacture” of the solar system.

There is, however, another or second mode of production. In this man utilizes the vital or reproductive forces of nature to aid him in producing wealth. By obtaining vegetables, cuttings or seeds, and planting them; by capturing animals and breeding them, we are enabled not merely to produce vegetables and animals in greater quantity than Nature spontaneously offers them to our taking, but in many cases, to improve their quality of adaptability to our uses. This second mode of production, the mode in which we make use of the vital or generative power of nature, we shall, I think, best distinguish from the first, by calling it "growing." It is the mode of the farmer, the stock-raiser, the florist and the beekeeper.

And besides the first mode, which we have called "adapting," and the second mode, which we have called "growing," there is still a third mode in which, by men living in civilization, wealth is produced. In the first mode we make use of powers or qualities inherent in all material things; in the second we make use of powers or qualities inherent in all living things, vegetable or animal. But this third mode of production consists in the utilization of a power or tendency manifested only in man, and belonging to him by virtue of his peculiar gift of reason — that of exchanging or trading.

Yet not merely is it through exchange that the utilization in production of the highest powers both of the human factor and the natural factor become possible, but it seems to me that in itself exchange brings about a perceptible increase in the sum of wealth, and that even if we could ignore the matter in which it extends the power of the other two modes of production, this constitutes, in itself, a third mode of production. Each of the two parties to an exchange aims to get, and as a rule does get, something that is more valuable to him than what he gives — that is to say, that represents to him a greater power of labour to satisfy desire. Thus there is in the transaction an actual increase in the sum of wealth, an actual production of wealth. A trading-vessel, for instance, penetrating to the Arctic, exchanges fish-hooks, harpoons, powder and guns, knives and mirrors, green spectacles and mosquito-nets for pelts.

Each party to the exchange gets in return for what costs it comparatively little labour what would cost a great deal of labour to get by either of the other modes of production. Each gains by the act. Eliminating transportation, which belongs to the first mode of production, the joint wealth of both parties, the sum of the wealth of the world, is by the exchange itself increased.

This third mode of production let us call "exchanging." It is the mode of the merchant or trader, of the storekeeper; and of all the accessories, including in large measure transporters and their accessories. We thus have as the three modes of production: 1) Adapting; 2) Growing; 3) Exchanging. These modes seem to appear and to assume importance in the development of human society much in the order here given. They originate from the increase of the desires of men with increase of the means of satisfying them under pressure of the fundamental law of political economy, that men seek to satisfy their desires with the least exertion. In the primitive stage of human life the readiest way of satisfying desires is by adapting to human use what is found in existence. In a later and more settled stage it is discovered that certain desires can be more

easily and more fully satisfied by utilizing the principle of growth and reproduction, as by cultivating vegetables and breeding animals. And in a still later period of development, it becomes obvious that certain desires can be better and more easily satisfied by exchange, which brings out the principle of cooperation more fully and powerfully than it could obtain among unexchanging economic units.

References

- Asante, S.: *Regionalism and Africa's Development: Expectations, Reality and Challenges*, Basingstoke, Macmillan Press, 1997.
- Bartelsman, E., John Haltiwanger, and Stefano Scarpetta : *Microeconomic Evidence of Creative Destruction in Industrial and Developing Countries*, World Bank Policy Research Working Paper 2004.
- Borcherding, K., : *Contemporary Issues in Decision Making*, Amsterdam, North-Holland, 1990.
- Caplin, A. and Schotter, A.: *The Foundations of Positive and Normative Economics*, New York, Oxford University Press, 2008.
- Clive W. J.: *Empirical Modeling in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.
- Daniel Kahneman, Amos Tversky.: *Choice, Values, Frames*, The Cambridge University Press, 2000.
- Fruhan, W. E.: *Financial Strategy, Studies in the Creation, Transfer and Destruction of Shareholder Value*. Homewood, 1979.
- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Hausman, D. M.: *The Inexact and Separate Science of Economics*, Cambridge, Cambridge University Press, 1992.
- Hayek, F. A. *Individualism and Economic Order*, The University of Chicago Press, Chicago, 1948.
- Janis, I. L., & Mann, L.: *Decision Making, A Psychological Analysis of Conflict, Choice and Commitment*. New York, Free Press, 1977.
- Lindblom, C. E.: *A Strategy of Decision: Policy Evaluation as a Social Process*, New York, The Free Press, 1970.
- Marris, R. L., and Wood, A.: *The Corporate Economy*, London: Macmillan, 1971.
- Nelson, Judy A.: *Feminism, Objectivity and Economics*, London and New York, Routledge, 1996.

Agriculture Development in Bihar: Problems and Prospects

Sandhya Kumari

*Research Scholar, Department of Economics
B.R.A Bihar University, Muzaffarpur*

Abstract

This paper describes the Agricultural development in Bihar and also to find out what are the problems and prospects of agricultural. Bihar's economy is based on Agricultural Sector. Around 90 percent of the populations still live in rural areas where agriculture, along with animal husbandry has been the main stay of their livelihood. About 81% of population engaged in Agriculture, which is much higher than the national average. Nearly 42 percent of GDP of the state has been from Agriculture sector. Bihar is characterized by good soil, adequate rainfall, and favourable hydrological profile. Yet, its agricultural productivity is one of the lowest in the country resulting limited lack of advanced technology, infrastructure, poor credit facility, high poverty, unemployment etc. Thus, for Agricultural development Bihar's needs facilities in every sector to achieve these targets.

Introduction

Bihar has a total geographical area of 93.60 lakh hectares on which it houses. A population of 82.9 million, there by generating a population density of 880 persons (census 2001). Gross shown area in the state is 79.46 lakh hectares, while net shown area is 56.03 lakh hectares. There are around 1.04 crore land holding in the state of which around 83 percent are marginal holdings of size less than 1 hectare. With around 90 percent of the total population living in rural economy continues to operate not only on margins of land but also on the margins of human enterprises, its productivity being among the lowest in the country. Without increasing returns to these margins, not much can be done realistically to develop the agriculture sector high poverty ratio in the state. Consequently, about 42% of the state population is below poverty line as against national average of 26% .The principal crops are paddy, wheat, pulses, maize, potato, sugarcane, oil seeds, tobacco, and jute. Rice, wheat and maize are the major crops.

In this paper, we examine (i) Whether the Agriculture of Bihar is diversifying from lower to higher value commodities, (ii) What kind of technologies, policies and institutions are required to foster agriculture (iii) What are the sources of agricultural growth and how much? The paper is organized into seven sections. The following section describes the data and methodology. Section III discerns the trends in agricultural growth at the state and regional levels section IV describes the Long-term Trend in food grain production, section V is the sources

of growth and small farmers, section VI and VII presents problems of agriculture and agricultural development Programmes and lastly the conclusion.

II. Data and Methodology

In this paper we have analysed the source of growth of crop sector in Bihar for the period. This period is further divided into two sub-periods. Pre-liberalization period (1970 – 1971 to 1989 – 1990) and Post- liberalization period (1990-91 to 2010-2011). The period from 1970 to 1989 witnessed the green revolution at its peak spread through-out the state leading to a wide spectrum of growth of Agriculture sector. At the beginning of the 1990s, the government of India initiated a series of economic reforms including the deregulation of liberalization of agricultural markets and opening up of trade in agricultural commodities.

Table-1

Agro climatic zones	Districts	Soil	pH	Initiation/cessation of rainfall	Total rainfall (mm)	Temperature (dg. Celsius)		Important cropping sequence
						Max.	Mini	
Zone-1 (North-west alluvial plane zone- Pusa)	Saran, Siwan, Gopalganj, E.Champaran, W. Champaran, Sheohar, Sitamarhi, Madhubani, Darbhanga, Muzaffarpur, Vaishali, Samastipur, Begusarai	Sandy, Loam, Loam	6.5 - 8.4	12 June/30 September to 10 October	1040_1450 (1245.00)	36.6	7.7	Rice, Wheat, Rice Rai, Rice-sweet-potato. Maize (Rabi) Maize (Wheat) Maize- sweet Maize- Rai, Rice- lentil
Zone-2 (North-east alluvial plane zone Purnea)	Supaul, Khagaria, Sharsha, madhupura, purnea, katihar, kishanganj, araria, naugachia	Sandy, loam, clay, loam	6.5 - 7.8	7 th june/30 th September to 10 th oct	1200 -1700 (1450.00)	33.8	8.8	Jute-rice, jute-wheat, jute-potato, Jute kalai, jute-mustard, rice-wheat, moong, rice-taria
Zone-3 South alluvial plane zone- sobour	Sheikhpura, lakhisarai, jummai, banka, munger, bhagalpur, bhabhua, rohtas, aurangabad, buxar, bhojpur, jehanabad, gaya, nalanda, patna, nawada	Sandy, loam, clay, loam, loam, clay	6.8 - 8.0	10 th june /30 th septmber to 10 th oct	990-1240 (1115.00)	37.1	7.8	Rice-wheat Rice-gram Rice-lentie Rice-rai

The state of Bihar is based on soil characterization, rainfall, temperature and terrain, three main agro-climatic zones in Bihar have been identified. These are North-west Alluvial plain (zone I), North East alluvial plain (zone-II), south Bihar alluvial plain (zone-III) each with its own potential and prospects.

The data for studying the dynamics of agricultural diversification and its contribution to agriculture growth were compiled from various published and unpublished sources. State-level data on the area and production of crops were collected from various issues of the statistical abstracts published by the directorate of economics and statistics, Government of Bihar. In recent times, there has been noticeable increase in the rate of growth of Bihar's economic, but this rate of growth shows wide fluctuation, if one looks into year-to-year growth rates, as shown Table-1.

III. Trend in Agriculture Growth

Trends in GDPS and Share of Agriculture: Table 2 depicts the trends in GSDP and agriculture GSDP it is interesting to note that GSDP increased at exponential growth rate while the agricultural GSDP at linear growth rate.

Table-2: Yearly growth rate of GSDP in Bihar at constant (2004-05 to 2010-11)

	Sector	Yearly growth rate					
		2005-06	2006-07	2007-08	2008-09	2009-10	2010-11
1	Agriculture/Animal husbandry	-9.1	30.2	-7.3	12.3	-9.1	7.7
2	Forestry/logging	-2.0	-2.2	-2.1	-1.8	-2.0	-1.9
3	Fishing	4.5	-6.6	7.5	7.2	-1.1	-2.9
4	Mining/ Quarrying	66.2	-17.1	-1.7	122.8	-28.3	0.0
	sub-total (primary)	-7.5	24.3	-6.2	11.0	-8.2	6.3
5	Manufacturing	-5.9	6.5	24.8	19.5	-3.7	8.9
6	construction	24.1	25.0	18.7	13.1	16.8	26.6
7	Electricity(water supply)gas	3.7	5.0	7.5	9.4	13.3	3.2
	Sub-total(secondary)	9.6	16.4	19.7	15.0	9.4	19.4
8	Transport/storage/ communication	10.7	13.2	9.6	10.3	26.7	21.8
9	Trade/Hotel/restaurant	-2.2	28.2	21.0	22.6	23.7	20.1
10	Banking/Insurance	13.7	19.4	11.4	7.4	25.2	25.3
11	Public administration	-1.4	0.9	2.5	23.5	14.1	13.2
12	Other service	7.7	2.6	2.9	7.9	7.7	4.0
	Sub total (tertiary)	3.6	14.7	12.2	16.2	19.0	16.5
	Total GSDP	0.9	17.7	7.6	14.6	10.4	14.8
	Per capita GSDP	-0.8	15.9	6.0	12.9	8.8	13.2

Source: GOB, Economic survey, 2011-12

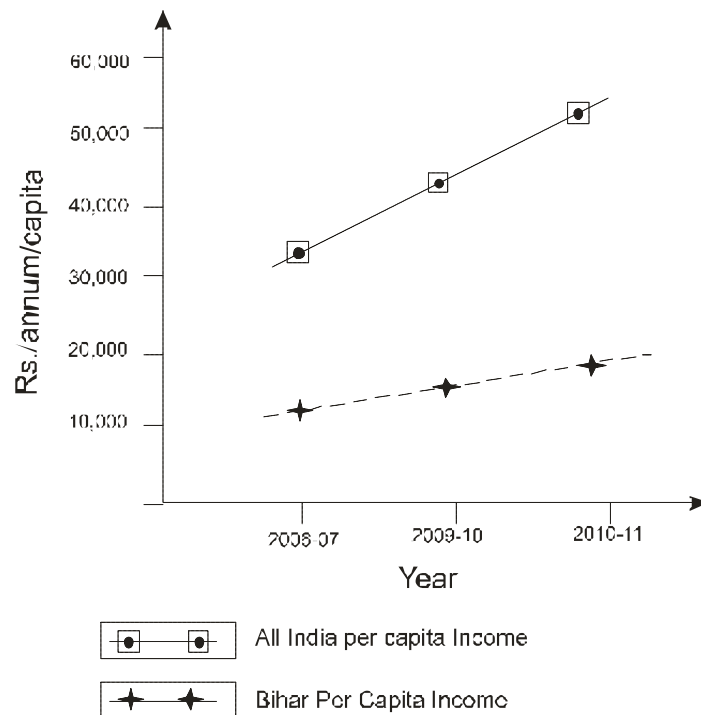
During the period 2005-06 to 2010-11, it has varied from 0.9 percent in 2005-06 to around 17.7 percent in 2006-07. Agriculture and Animal husbandry sector which recorded a growth of (-) 9.1 percent in 2005-06 grew at a very high rate of 30.2 percent in 2006-07 in 2010-11, this sector grew at a rate of 7.7 percent over 2009-10.

One source of this wide fluctuation in the rate of growth is most likely to be the vagaries of monsoon, which tend to cause upswing and down swing in the rate of growth of the remaining sectors of the state economy as well. There is a need to stabilize the rate of growth of agriculture through introduction of modern techniques and spread of irrigation.

Further, if we compare the status of growth in Bihar with the growth in other states, it is observed that Bihar continues to be at the bottom of the ranking of states with respect to per capita income. The all India per capita income at current prices in the year 2010-11 stood at Rs. 54,835 whereas it was Rs. 20,069 in Bihar (Govt. of India, Economic survey 2012-13).

In 2006-07, the per capita income in Bihar (Rs.10,055) was 32.2 percent of the all India average (Rs 31,198), but in 2009-10, this ratio increased to 34.7 percent (Rs. 16,119 for Bihar and Rs 46,492 for India) and in 2010-11, 36.6 percent (Rs. 20,069 for Bihar and Rs 54,835 for India).

However it is obvious that the present momentum of growth of Bihar economy has to be sustained for several years to close the gap between Bihar and the all India average.



IV. Long Term Trend in Food Grains Production

Food grain production in Bihar has shown high volatility, but there is a long-term trend of falling production in the state.

Table 3: Area, Production & Productivity of food grain and oilseeds (2006-07)

Crops	Area	Production	Yield
Rice	31.31	35.28	11.27
Wheat	20.34	32.39	15.92
Maize	4.68	9.93	21.20
Other coarse cereal	0.49	0.46	9.38
Pulses	4.73	4.05	8.55
Total Cereals	56.82	78.05	13.74
Oil Seeds	1.27	1.11	8.70

Source: Agriculture Department, GDB

Cereal Production has fallen sharply from 122.29 lakh MT in 2001-02 to 81.12 lakh MT in 2005-06. This fall in production has been accompanied by an almost secular decline in area under cereal production from 70.19 lakh hectare in 1990-91 to 65.87 lakh hectare in 2006-07. Large part of the fall in production and area is explained by the fall in the production of an area under rice.

V. Sources of Growth and Small Farmers

Small farmers are a big deal in India and also in Bihar. Agriculture in Bihar is dominated by small farms. Nearly 85 percent of farmers have less than one hectare of operational holding. However, nearly 61 percent of the gross area is cultivated in the state compared to 47 percent in the country as a whole.

Table -4: Distribution of land holding and their respective operated area in Bihar during last 10 years

Form Categories	2001-02		2005-2006		2010-11	
	% of total operational holding	% of total operational area	% of total operational holding	% of total operational area	% of total operational holding	% of total operational area
Marginal (< 1 ha)	84.4	43.1 (0.30)	89.7	53.0 (0.25)	91.0	57.2 (0.25)
Small (1-2 ha)	9.2	19.2 (1.21)	6.7	19.6 (1.21)	5.9	19.0 (1.25)
Medium (2-4 ha)	6.4	35.6 (3.19)	3.6	26.5 (2.99)	3.1	23.1 (3.00)
Large (4 ha and above)	0.1	2.1 (15.56)	0.03	0.9 (14.0)	0.02	0.7 (15.0)
Total holding in lakh / Area in lakh hectore	116	67 (0.58)	146	62 (0.42)	162	64 (0.39)

Source: Agricultural Input Survey (2011-12)

Bihar Agriculture is characterized by small and fragmented land holdings. There are about 162 lakh operational holdings possessing about 62 lakh hectares land with average farm size of only 0.39 hectare, down from 0.58 hectare in 2001-02. The reduction in farm – size has been larger. In the case of medium and large farmers than in case of marginal farmers whereas average size of land holdings of small farmers increased from 1.21 hectares 2001-02 to 1.25 hector. in 2010-11.

Around 91 percent of the farmers have land holdings less than 1 ha and they cultivate nearly 57 percent of the operational land. On the other hand, only 0.02 of the farmers have operational holding above 4 hectares and account for 0.7 percent of the operated land. Marginal farm holding constitute more than 90 percent of total farm households and their average size of land holdings declined from 0.30 hectare in 2001-02 to 0.25 hectare in 2010-11. It is one of the main hindrances in faster adoption of new farm technology due to their small and fragmented holdings, low level of liquidity and low risk bearing capability.

VI. Problems

Bihar possesses all the gifts of nature including human resources and land resources which is essential for agriculture. Yet, its agricultural productivity is one of the lowest in the country, resulting high poverty, population, unemployment, lack of political will and nature's fury like floods, water logging, cyclone, drought and neglect of irrigation and water management. The state had consequent difficulty in adopting modern agricultural technology and therefore could not reap the benefits of Green Revolution as much as the other northern states like Punjab and Haryana.

So, it is necessary to follow some recommendation for Accelerated Agricultural Development in Bihar. They are : Efficient use Modern input like quality seeds, chemical fertilizers and others macro and micro nutrients, the state should develop commodity specific ago-export zones and gives necessary support to their mercerization. There should be a proper irrigation facility; Revival and Revitalization of Sugar Mill, there should be disaster management most important there should be decrease in poverty, population and unemployment.

Flood Control and Drainage

Every year, Bihar faces the vagaries of flood and water logging. After bifurcation of the state, Bihar has become the most flood prone area in the country. Total flood prone area of the state is 68.80 lakh hectares which is 73.06 percent of its total geographical area and 17.2 percent of the total flood prone area in the country. Flood situation is most severe in northern plains of Bihar. This is because almost all the major rivers in the state enter Bihar from Nepal in this region. Bed slope of these rivers is very sharp in the Nepal and they usually enter the state on plain lands. Because of a sudden drop in bed slope, silt brought by the flow of these rivers get deposited at their base to cause recurring floods.

While a long term solution to this problem can be achieved by constructing dams at upper catchment of Kosi, Gandak, Bagmati, Mahananda rivers in Nepal territory, in the short run, Bihar has to depend on construction and maintenance

of embankments along the rivers. Till march 2006, 3430.47 km length of embankments have been constructed in the state which protect 29.16 lakh hectares of area, out of a total of 68.80 lakh hectare flood prone area. Thus, 139.64 lakh hectare of land area still stands exposed to the perennial problem of floods.

Despite such high exposure to threat of flood, only 29 percent of the total 10th plan allocations for flood control have been utilized.

Table 5: 10th Plan performance on the outlays for flood Control

(Rs. in Crore)

Sr. No.	Source of funding		10 th Plan outlay	
	flood control	Agreed outlay	Actual outlay	Anticipated performance
1	Establishment (CSS+State Plan)	114.08	152.52	145.79
	Slate Plan (On going & New Schemes)	1576.00	332.92	329.81
	NABARD	55.00	21.00	16.97
	Sub Total (Works)	1631.00	353.92	346.78
	Total Flood Control	1745.08	506.44	492.57

VII. Agriculture Development Programmes

There are 14 major agriculture development Programmes managed and monitored by Department of Agriculture, Government of Bihar which include 5 slate sponsored, 4 centre sponsored and 4 mission mode projects. An attempt has been made here to examine the performance of three important agro-development programmes i.e. National Horticulture Mission (NHM), Rastriya Krishi Vikash Yojana (RKVY) and National food Security Mission (NFSM).

National Horticulture Mission (NHM) was launched in Bihar in the year 2005-06 with the objective of bringing a holistic and integrated development in the horticulture sector. It is based on cluster approach, focused to development of selected crops, improvement in production and productivity. National food security Mission (NFSM) was launched in Bihar in the year 2007-08 with objectives to increase productivities of rice, wheat and pulses along with to maintain / increase the fertility of soil.

Rastriya Krishi Vikas Yojna (RKVY) Project was launched in 2007-08 to increase investment in agriculture and allied sector, reduce yield gap and address the agriculture and allied sectors in an integrated manner. Milk production target in Bihar has been achieved by the end of Eleventh plan.

In the Eleventh plan, an Agriculture Road Map with an outlay of Rs. 3757.12 crore was implemented by the State government to boost the agriculture sector. Several new innovative programmes have been initiated by State government like 'Mukhyamantri Teevra Beej Vistar Yojana', Beej Gram Yojana, Bihar Horticulture Development Society, 'Mukhyamanti Bagwani Mission Karyakarm

etc. which will show their impact on the growth rate only when the process of strong infra structure development and Monitoring of Projects are taken up on priority basis.

Conclusion

During last five years, the annual growth rate of rate Agriculture GDP has been around rate of state Agricultural GDP has been around 5.9 percent whereas state Gross Domestic Product recorded growth 10.9 percent during the period which was higher than corresponding growth achieved at national level. Despite almost stagnant irrigated area, a substantial increase in productivity of Principal crops has been achieved during Eleventh five year plan. Bihar is characterized with good soil, rainfall and congenial temperature regime has high agricultural production potential, yet the agricultural productivity as one of the lowest in the country. Let the Bihar Prosperity be ushered by bringing another farm revolution.

References

- Bose, Ashish (2011) : Census of India 2001 : Some Highlights Yojana.
- Govt. of Bihar, Economics Survey, 2011-12
- Govt. of Bihar, Agricultural Department.
- Govt. of Bihar, Agricultural Input Survey (2011-12)
- Chand, Ramesh and P. Shinoj (2011) : "Historical and Spatial Trends : Growth Analysis at National and State levels. Reproduced by Sharma, Alakh N. (2011)

Impact of MGNREGA on Women Empowerment

Anjali Thakur

*Research Scholar and Adhoc Lecturer (Economics),
J.D.Women's College, Patna*

The Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act (MGNREGA) was enacted in India in 2005. This Act guarantees 100 days of work at the statutory minimum wage to all rural households whose members are willing to perform unskilled manual labour.

The paper focuses on the female workers in the sample to highlight the impact of the MGNREGA in the lives of women workers. Significant benefits reported by the women include increased food security and a better ability to avoid hazardous work. The availability of local wage employment at the statutory minimum wage for women is a new development associated with the MGNREGA in many of the areas covered by the survey. However, the participation of women varies widely across the survey regions. The paper ends by identifying some of the barriers to women's participation in the MGNREGA.

Women, traditionally have been playing a crucial role in the family as well as in the farm, shop, factory and in the society, but their contribution has not been duly acknowledged. The principle of gender equality is enshrined in the Indian Constitution in its Preamble, Fundamental Rights, Fundamental Duties and Directive Principles. The Constitution not only grants equality to women, but also empowers the State to adopt measures of positive discrimination in favour of women. The concept of human development has spurred it to make the development more people oriented and this is why women has become as much central to it as men. Modern phase development through globalization offers both opportunities and challenge for women in almost every part of the country.

Empowerment of women is essentially the process of upliftment of economic, social and political status of women, the traditionally underprivileged ones, in the society. It involves the building up of a society wherein women can breathe without the fear of a society wherein women can breathe without the fear of oppression, exploitation, apprehension, discrimination and the general feeling of persecution which goes with being a woman in a traditionally male dominated structure.

The State of Bihar, committed to uplifting women, has pledged to undertake a series of measures to empower women, make them equal partners in the development process of the state and discrimination against them in all varied forms.

"Priority" should be given to women in the allocation of work "in such a way that at least one-third of the beneficiaries shall be women".



Now while characterising the current status of rural women, based on evidences it may be asserted that they are still found to over burden with heavy domestic workloads, having limited role in household decision-making, limited access and control over household resources, suffer from restricted mobility and entitled to low level of individual assets. But among all these demoralizing facts – increasing work participation rate of rural women under MGNREGA, improvement in their literacy level and their growing involvement in decision-making process as a part of Panchayati Raj Institution (PRI) provide us something to cherish.

The Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act (MGNREGA) is one of the most progressive legislations enacted since independence. Its significance is evident from a variety of perspectives. First, it is a bold and unique experiment in the provision of rural employment – in India and indeed in the world at large. Second, it is the first expression of the right to work as an enforceable legal entitlement. In a country where labour is the only economic asset for millions of people, gainful employment is a prerequisite for the country where labour is the only economic asset for millions of people, gainful employment is a prerequisite for the fulfillment of other basic rights – the right to life, the right to food, and the right to education. There is much that the MGNREGA promises from the perspective of women's empowerment as well. The act stipulates that wage will be equal for men and women. It is also committed to ensuring that at least 33% of the workers shall be women. By generating employment for women at fair wages in the village, MGNREGA can play a substantial role in economically empowering women and laying the basis for greater independence and self-esteem.

Women Empowerment

Women empowerment implies equality of opportunity and equality between the genders, ethnic groups, social classes and age groups, collective participation in different spheres of life etc. It is a process of building capacities, of creating an atmosphere, which enables people to fully utilize their creative potential in pursuance of a quality of life. A major landmark in the field of women empowerment was brought about by 73rd and 74th amendments in the first half of the 90's in which 33% reservation for women in Panchayats and Municipalities was made mandatory. Women can only be empowered if they have enough educational and employment opportunities.

Empowered women become the agent of their own development, able to exercise choices to set their own agenda and be strong enough to challenge and change their position in the society. Empowerment is self-governance, self-sufficiency and self-maintenance and above all it is economic independence through information, knowledge, and necessary skills. Urban women may be more aware and empowered about their rights in comparison to rural women who have the history of living depressed life in the hands of male members.

“Women’s empowerment and their full participation on the basis of equality in all spheres of society including participation in the decision making process and access to power are fundamental for the achievement of equality, development and peace”. (Paragraph 13, Beijing Declaration)

One of the important features of MGNREGS is that it protects “employment” as a fundamental right of the individuals with all its strict rules. So that this programme is called the “employer of last resort” and it is entirely different from those other development and welfare programmes. Through this, it protected the women justice and rights.

While recognizing the significant achievements of MGNREGs with regard to

- (a) Gender parity of wage,
- (b) Mobilization of women for MGNREGs employment and
- (c) Increased in control rights of women in earnings in MGNREGA.

MGNREGA: A Public Wage Programme with Right to Employment

MGNREGA is a right-based programme, unlike earlier employment schemes. The rights of MGNREGA workers include employment on demand, minimum wages, gender parity of wages, and payment of wages within 15 days, as well as the provision of basic worksite facilities, among others. There is a legal guarantee of 100 days employment in a financial year to a registered household. That the government is legally bound to provide employment within 15 days of the application for work by a job seeker; in case of delay or failure to provide employment to the job seeker, there is provision of unemployment allowance. That a person seeking such employment is to be registered with the Gram Panchayat (village administration council); after due verification, the household is to be provided a job card.

Importantly a majority of the women of the women workers under MGNREGA programme say that such employment has brought a significant change in their communities and in their own lives; the MGNREGA wages are higher than the market wages and it has improved their spending capacity. Women are able to use their earnings for household food and consumption needs, healthcare and education of children. More important, earlier they “used to be dependent on their husbands for any expenses”, but now with some cash in their hands, women have greater degree of economic independence and self-confidence, “feel empowered”, as they are also earning members of the family (Jandu, 2008:5). In many worksites women have control rights to their wages in bank deposits. A 2008 MGNREGA Survey showed that 79% of women

employees in MGNREGA works collect their own wages, and 68% keep their own wages (FRONTLINE, 2009:13).

A significant policy change from the earlier employment generation schemes in India is that the Act stipulates that women's wages are not lower than that of men in MGNREGA employment. A major aim of these policy efforts has been to mobilize women's work participation in MGNREGA programmes. The provision of facilities, such as safe drinking water, child care, shade for periods of rest, and first aid are reported to be largely absent from MGNREGA worksites. The issue of gender injustice, especially when women constitute the largest potential workforce in MGNREGA merits challenging the constructs of measurement, payment and related work place issues.

MGNREGA and Women

The success of the programme is entirely dependent on the participation of the community in general and women in particular since the share of latter in employment is almost 50 per cent. As women are found to be better change agents of socio-economic transformation, efforts are needed to strengthen their participation for household livelihood security as well as better asset management. Participation of women in MGNREGS is reported to be largely passive in nature. Few studies have referred to some of the favourable and unfavourable factors determining women's participation including intensity of participation. MGNREGA has several gender sensitive features that are attractive for women workers.

Women like NREGA Work for Various Reasons

Firstly, it is locally available. The Act provides that work is to be provided within five kilometers of the residence of a worker.

Secondly, there is less chance of exploitation. There is a statutory minimum wage, and hence wage earned in MGNREGA work is much more than the works under a private employer, more so in backward areas.

Thirdly, there are regularity and predictability of working hours. Work is limited to eight hours a day, which is seldom expected in other works. MGNREGA work can also protect women against migration in search of work. This leads to an improvement in the quality of their life through avoidance of costs and risks associated with migration.

As per the national level consolidated figure, during the financial year 2008-09, out of total labourers, 47 per cent were women. During the year 2009-10 (six months), the percentage of women's participation was 51. It indicates that the MGNREGA is becoming more women-centric. Women functionaries in MGNREGA are also expected to influence participation of women in a positive way, as it is assumed that women tend to respond more quickly to the needs of women. Actions towards women's needs, accesses to resources and opportunities, control over outputs and outcomes are essential.

Attractiveness of MGNREGA Employment for Women

MGNREGA workers (men and women alike) belong to the most disadvantaged groups. A large majority (over 70%) were from the scheduled

castes (SCs) and scheduled tribes (STs) and most MGNREGA labourers were illiterate (82% in the case of women). Many female respondents said the work provided under the MGNREGA opened up a new opportunity for them.

As has been already mentioned, though MGNREGA is an employment programme to all, it ensures female participation. By law, at least one-third of the beneficiaries shall be women who have registered under the scheme making them independent and increasing their overall awareness. Another benefit for women is that crèche facility is provided at the worksite if there are more than 6 children present. In this way mothers don't have to worry about leaving their children at home, alone. Work is provided within a radius of 5 km from the workers residence. If the distance increases, transportation costs are given. Flexibility is also therein terms of choosing work period for employment. All 100 days need not be covered by the same person.

Access to employment and thereby income and capital can enable women to get control over land and related productive assets. The rights will need to be established in practice. 'Without reasonable income security, people lack real freedom to make rational choices and be socially responsible. Without collective and individual voice, the vulnerable will remain that way'.

In the MGNREGA Survey 2008, all workers were asked whether they worked for wages, other than MGNREGA wages, in the three months preceding the survey. Only 30 percent of the female respondents reported earning cash income (other than MGNREGA) in the past three months. We divide women respondents into two broad categories, i.e. a) those who reported that they were not actively participate in non MGNREGA wage work earlier in the three months preceding the survey b) women with primary wage earning responsibilities and those who did earn a non MGNREGA wage in the months preceding the survey. We make the case for the significance of the MGNREGA in offering wage earning opportunities to women.

Thus, women do not have many other employment opportunities locally and even otherwise in some cases) and further women workers are, 'as a rule', paid less than their male counter parts in rural and urban casual wage work. Half of the women in the sample said that had they not worked on the MGNREGA worksites, they would have worked at home or would have remained unemployed. Those women who do have other employment opportunities face "invisible" constraints some

Successful Working of MGNREGA

With the staggering increase in the number of participants itself it is evident that people are responding positively. And more than men, it is the women in Bihar who are showing the eagerness. The answers to the questions below further substantiate this.

Response to MGNREGA

Many are not aware about the employment programme called MGNREGA. But those who are benefiting out of it, 50 women of whom many were employed through MGNREGA responded as above, to the questions posed. As can be deduced from the table most women have replied positively audit is evident

that MGNREGA is a success in Bihar Since the study is on women empowerment through, we now look at the female participation in MGNREGA. Provision of jobs is done in a systematic manner such that they are beneficial for the worker as well as employer. Since the Ganges moved away from Patna water conservation is main priority and likewise.

<i>S.No.</i>	<i>Opinion of the Scheme</i>	<i>Yes</i>	<i>No</i>
1.	Improving standard of living	43	7
2.	Useful to unemployed person	38	21
3.	Providing additional employment	49	1
4.	Purchasing power increase	27	23
5.	Budget became easy	24	21
6.	Even uneducated people can improve their income	48	2
7.	Saving of some of the money	17	33

Source: survey based

Social Impact

MGNREGA became a path-breaker by changing the notion of viewing social protection as a right of citizenship. For the first time, it makes it possible for the rural people to demand that they are to be given a job, even if it is only at the floor rate of wages. The MGNREGA is also an outstanding example of how the RTI Act can be woven into the fabric of the delivery system and the whole legal and governance paradigm. By providing competitive but minimum wage rates with 100% compliance to all labour laws and benefits, MGNREGA has succeeded in eliminating 2nd tier contractors who often exploit labourers by either under payment them or flouting labour laws and exploiting the poor.

Impact on other Marginalized Groups: - Self targeting in nature, the Programme has high levels of participation of marginalized groups like SC/ST. The scheme has managed to create awareness amongst remote tribal areas. This increased awareness is bound to have far reaching effects in the long turn.

Impact on the social fabric of society: A major success for MGNREGA is the fact that it has brought down the levels of distress migration from rural to urban areas. As a result, the net standard of living has seen an increase across the social spectrum in both rural and urban areas.

Financial inclusion of the poor: Besides the legal guarantee of 100 days of work in a financial year, MGNREGA households are also assured of basic minimum income per day, post MGNREGA, there has been a revision of minimum wages across the country in last few years.

Impact on Agricultural & Rural Economy: Evidence through independent studies indicates enhancement of agricultural productivity (through water harvesting, check dams, ground water recharging, moisture content improvement, and micro – irrigation), stemming of distress migration, increased access to markets and services through rural connectivity works, supplementing households incomes. The completion of the various development schemes has

increased the fertility of agricultural lands and increased the water table too helping farmers who are now comparatively less dependent on the monsoons.

Functional Literacy Development:- The Government of India and United Nations Development Programme launched a project in support to operationalization of the MGNREGA. The Ministry of Rural Development and UNDP are working towards improving functional literacy of the target population through various schemes such as films to train stakeholders. This programme is currently running functional literacy interventions in 13 villages. This has met with significant success especially among women who are now able to comprehend the entries on their job cards and bank books and be better informed.

Present Status of MGNREGA

A review of eight years of MGNREGA programme shows that the challenge is not to reinstitute policy for women's economic security, but to redeploy the machinery already in place to be used in a more gender responsive manner to overcome persistent gender inequalities, in both economic and socio-cultural spheres.

Indeed, the large number of women workers under MGNREGA has minimal rights to productive assets, and this contributes to a persistence of social exclusion on a large scale. Technological change and economic development policies need to be supported by programmes for equality-based gender and social relations and necessary institutions at micro and macro levels. As widely recognized in development literature, for facilitating equality in social, economic relations and effective institutions are the two main factors in facilitating conditions for economic growth and human development.

Self-Help Groups, Mahila Mandals(rural women's organizations), gender responsive Panchayats, community based organizations(such as SEWA, Working Women's Forum, Kudumbasree, and numerous rural NGOs working on MGNREGA implementation) can be efficient models of such institutional arrangement at the local level. These organizations can play an active role in widening the outreach of both technological information and spreading awareness on women's control rights to productive assets and incomes earned through the guaranteed employment and otherwise. Such an approach will enable rural poor women and men to have greater access to institutional credit, promote greater access to institutional credit, promote greater bargaining power against unjust social and economic practices and facilitate implementation of MGNREGA programmes.

Major Conclusions and Recommendations

- For improved and active participation of women focus to minimise the vulnerable factors and hindering factors should be taken up and more attention on motivating factors should be laid.
- As per the observations of the study there is impact of women empowerment programmes on quality of participation of women in MGNREGS. So a convergence mode of planning should be taken up where both programmes will take the support of each other.

- Women officials are found playing a constructive role and facilitating the participation of women in MGNREGS and so as a policy certain percentage of positions at each level may be reserved for women functionaries.
- There are few grey areas with regard to participation of women in the MGNREGS process like participation in social audit and planning of works etc. where special IEC efforts should be made to educate women. Women members of GP should also be involved, in large measure, in social mobilisation and guidance to women workers.
- Though MGNREGA was not envisioned as an exclusively women's empowerment programme, the opportunity taken by a large number of women indicates a preference for "government work" which provides dignity and higher wages than available in the market. The problems such as drudgery need to be addressed by making available gender-sensitive / women-friendly tools.
- MGNREGA implementation could be strengthened by effective provisioning of what is already available in the Act, such as worksite facilities, eg. shade and safe drinking water and especially child care facilities. The functionaries of Anganwadis may also be reviewed – in terms of timing and other services-so that MGNREGA women workers are ensured of the safety of children (heat, insect bites).
- The composition of women workers seen on worksites, and the nature of the work offered, suggests that there is need to give some serious thought to developing a wider range of activities under the MGNREGA.
- The potential of the programme for allowing women to make some savings is observed everywhere. Facilitating their ability to save towards specific income generation is a way of enhancing wellbeing.
- Some "gender-sensitive measures" such as increase in participation of women in planning, implementation and social audits of MGNREGA, in turn, will create an opportunity for women's role in asset management.
- As it has come out in the study that gender sensitivity of the delivery system has large influence on quality of participation of women in MGNREGS, special focus should be laid by addressing the attitudinal changes of the officials and making them more gender-sensitive.

Hence, inspite of all difficulties and hardships, the women in Bihar have come a long way and now stand equal to men. MGNREGA has helped them to come forth in society with their dignity and self respect.

Food Security, Farming, and the WTO and CAFTA

Dr. Upendra Kunwar

Principal, M.S. College, Motihari

As a necessary element to human survival, food is a human right. Small, local family farms are the bedrock of traditional rural communities and global food security- the ability of countries to produce the food they need to survive. Yet the global food supply is increasingly falling under the control of giant multinational corporations. Large agribusinesses have rewritten the rules of the global agricultural economy, using “free trade” agreements to turn food into a commodity for profit rather than a human right. The global corporatization of agriculture has had disastrous effects on farmers, food security, and the environment.

Implemented in 1994, the North American Free Trade Agreement (NAFTA), ‘liberalized’ trade between Canada, the U.S. and Mexico. Under NAFTA, farmers’ income in all three countries has plummeted and millions of small farmers have lost their land, while agribusiness corporations have reaped huge profits.

In spite of its obvious failures, new trade agreements are being written to expand NAFTA-style corporate free trade. In March of 2004, the governments of the United States, Guatemala, Nicaragua, Honduras, El Salvador, Costa Rica, and the Dominican Republic completed the U.S.-Dominican Republic-Central American Free Trade Agreement (CAFTA). If CAFTA is passed in the U.S. Congress, it would impose NAFTA-style agricultural policies on the heavily agriculture-dependent countries of Central America. Over 5.5 million workers and farmers’ livelihoods would be put at risk. CAFTA would also cause a further decline in U.S. family farmers’ incomes.

What’s more, CAFTA would pave the way for a massive Free Trade Area of the Americas (FTAA) currently in negotiations, which would extend the scope of NAFTA to include all countries in the western hemisphere except Cuba—thus multiplying the harrowing effects of NAFTA on small farmers and threatening food security for generations to come.

Both CAFTA and the FTAA are even more extreme than the Agreement on Agriculture (AOA) of the World Trade Organization (WTO), a global agreement involving 148 countries designed to shift world food production to export markets.

Food: To Eat or to Export?

The stated theory of free-trade proponents is that increased trade and decreased government regulation would increase food security and solve rural poverty. But the results have not borne out the alleged theory, because the WTO, FTAA, and CAFTA were never meant to solve global poverty and hunger. In reality, globalization of food production represents an unprecedented hijacking of the global food supply for corporate profit.

Underpinning the WTO, FTAA, and CAFTA is the ideology that all food — from basic grains and meat to fruits and vegetables — should be produced for international export. This is a drastic shift from the centuries-old practice where each country produced the majority of food its citizens needed on local, small farms — and only traded in certain products that could not be grown locally. Indeed, the first great wave of globalization — the colonization of Africa, Asia, and Latin America — was based on transnational companies forcing local farmers to give up local food production, and shift production to plantations using enslaved Indigenous and African labor to grow luxury crops of coffee, sugar, bananas, and cocoa for export to the colonizing countries.

But now, the drive toward globalization of agriculture would put transnational corporations in control of the entire food supply. Market forces, rather than national policies set by democratically elected officials, would control agricultural food systems. Under this scenario, each country would only produce a few export commodities, wiping out local food production, small family farms, and greatly compromising global food security. As a result, the human right to food would be dependent on multinational corporations and markets, increasing the risk of hunger and famine worldwide.

Reducing “Barriers” to Trade in Agriculture

Global agricultural policy used to be geared towards maintaining stability in global markets. Supply management programs, also called commodities agreements, helped maintain production around the same as demand, so that farmers didn’t produce an oversupply that would cause prices to collapse. These programs helped keep market prices above a price floor, which is a minimum price over the cost of production that farmers need to survive. In addition, countries have historically promoted their local economies by protecting domestic production from foreign competition. Most countries maintain taxes on foreign imports, called tariffs, as well as outright limits on the quantities of foreign imports, called quotas, in order to favour local economic development. This has especially been true in the agricultural sector, where local food production is key to food sovereignty.

Starting in the mid-1990s, however, these policies were abandoned in the U.S. in favour of free market, export-driven policies that promoted production for export rather than for domestic consumption. As the world’s largest exporter of agricultural products, U.S. agricultural policy has dictated global agricultural policy. The impact of the WTO and other free trade agreements in agriculture has been to eliminate so-called “barriers to trade,” such as supply management, price controls, and tariffs and quotas, while maintaining practices that favour multinational corporations, such as subsidies and market concentration.

Eliminating Tariffs

One of the main targets of free trade liberalization is tariffs, or taxes on imports. Many countries maintain high tariffs on imported agricultural products to protect their local industries. If an import has a tax that a local product doesn’t, the imported product becomes more expensive than the local product. For example, Mexico has always maintained high tariffs on corn imports, in order

to protect small family corn farmers against a flood of cheap imports from industrialized countries. This is a basic strategy used by governments around the world to help guarantee food security through local food production and promote the local economy over foreign competition. Much of the negotiations in free trade agreements involve reducing tariffs.

Eliminating Quotas

Another top goal of free-trade proponents is to eliminate quotas, or limits on the total amount of imports of a particular commodity. For example, the U.S. maintains quotas on the amount of sugar that companies can import, in order to protect the U.S. sugar industry from foreign competition. Opening up the U.S. sugar industry to higher quotas for Central American sugar producers is a controversial keystone of CAFTA.

But many mostly smaller, agricultural nations maintain quotas on basic products like rice, corn, or other basic grains, that are essential to food security and the livelihoods of their rural populations. For these least-developed countries, eliminating tariffs or quotas puts their rural majority at risk of hunger and starvation as they lose their source of income and access to their own food production. Least-developed nations have formed an alliance in the WTO to advocate for the exemption of products vital to food security, called Strategic and Special Products, from tariff and quota elimination.

Gaining “Market Access”

The stated goal of agribusiness interests in ‘free trade’ negotiations is to eliminate quotas and tariffs so that they can gain access to foreign markets for their products, called “market access.” Since most agribusinesses are from rich countries in the global North, market access generally benefits those corporations at the expense of small farmers in poor countries.

But many developing countries also have strong agribusiness sectors. They are negotiating market access by demanding elimination of rich countries’ tariffs and quotas. These countries, led by Brazil, South Africa, and India, have a strong negotiating bloc in the WTO, and have succeeded in raising the issue of market access as a high priority in the negotiations. In fact, negotiations in the FTAA broke down over access to the U.S. for Brazilian orange juice, soy, beef, and sugar exports. Countries like Brazil argue that they need the income from market access for agribusiness products to produce income to pay their foreign debt.

But the majority of developing nations import more food than they export, so market access is not a primary issue. And small, independent farmers from both rich and poor countries are more concerned about ensuring adequate prices for local production than they are about exporting food. So the primary threats to local food production, in addition to the forced abolition of tariffs and quotas, are unfair subsidies and market concentration that have led to a global crisis in commodity prices and illegal dumping.

Subsidies

Aside from tariffs and quotas, trade agreements also address subsidies. Subsidies are government payments made to producers. In 1996, the U.S. Congress passed a farm bill that eliminated key price supports and supply

management programs, drastically reducing the income of farmers. As agricultural prices began to plummet after 1998, Congress has responded with “emergency legislation” year after year to send farmers government payments (subsidies) to prevent the wholesale collapse of the rural economy. Rather than remedy the supply problems created by the 1996 farm bill, this subsidy system was institutionalized in the 2002 farm bill which allocates an additional \$190 billion in subsidies over the next ten years. The European Union also heavily subsidizes its agricultural production.

Export subsidies are supposed to be illegal under the WTO and other free-trade regimes. But rich countries, hypocritically, have largely won exemptions for the types of subsidies they use, while prohibiting the types of subsidies used by developing countries. Developing countries usually do not have enough money to subsidize their farmers to the extent as developed countries. Instead, they are reliant on using other mechanisms such as import tariffs, quotas, and price supports. These are the very mechanisms that the pro-corporate policies of CAFTA, the FTAA, and the WTO prohibit. Subsidies provide huge benefits to corporate agribusinesses by allowing them to buy crops from small farmers at a price far below the cost of production while allowing them to sell at market rates. And while subsidies provide some relief to some struggling family farmers, they are not enough to make up for low commodity prices, and have contributed to the erosion of small farms in the U.S., increasing market concentration.

Market Concentration

Corporations have also lobbied to abolish traditional anti-monopoly regulations called competition policies. Without competition policies, corporate farms have bought up small farms, creating giant conglomerates that operate in multiple countries. Because of this, agricultural exports from the U.S. to Mexico, for example, are often between two subsidiaries of the same multinational parent company. This integration allows corporations to sell and buy within the same parent company, manipulating the market and gouging independent producers. Like NAFTA and the WTO, CAFTA and the FTAA would further undermine anti-trust laws, encouraging further monopolistic control of agricultural markets and putting downward pressure on global agricultural prices.

Global Commodities Crisis

Over the past decade, the U.S. government abolished its supply management program, which caused agricultural oversupply that led to a price collapse. To bail out the system, as noted above, the government instituted subsidies to farmers, which actually benefit multinational corporations by keeping prices low while taxpayers foot the bill. This has led to a global depression in commodities prices. In fact, the prices that farmers receive today for their crops are likely to be well below the cost of production, causing millions of farmers to lose their land and others to go further and further into debt. The greatest threat to the livelihood of small farmers in both the developed and developing world is low commodity prices.

Dumping

The result of these policies has been a downward spiral for independent farmers, and a bonanza for multinational agribusinesses. Global corporations buy commodities from farmers at artificially low prices, subsidized by taxpayers. These same corporations then flood foreign markets with crops priced at below-market prices, called 'dumping.' Because the prices are so low, dumping forces smaller producers out of business and captures — unfairly — a greater share of the market for transnationals. Although it is against trade law, in practice, dumping is common. The Institute for Agriculture and Trade Policy recently documented that U.S. corporate food dumping has risen significantly since the inception of the WTO. Agribusiness dumping of the five main commodities of wheat, soybeans, corn, cotton, and rice averaged between 10-47% below the cost of production. Family farmers have watched their incomes crash as multinational agribusinesses have expanded their markets internationally with artificially low-priced agricultural goods.

Global Corporatization of Food: the Wrong Path

Transnational corporations are attempting to rewrite the rules of the global agricultural economy in order to control the entire food supply. Abolishing tariffs and quotas, increasing market concentration, and maintaining taxpayer subsidies has enabled them to create a global commodities crisis that threatens global food sovereignty. As a result, our human right to food has become dependent on multinational corporations and markets, putting small farmers out of business and increasing the risk of hunger and famine worldwide.

Effects of "Free Trade" Agricultural Policies on Small Farmers and Food Security

CAFTA and the FTAA would consolidate and expand free market policies that have already devastated rural communities under NAFTA and the WTO.

Loss of Small Farm Income

The devastation of Mexican corn farmers due to NAFTA most sharply exemplifies the horrifying effects of these policies. After NAFTA eliminated Mexican quotas for corn, artificially-priced U.S. corn flooded the market. U.S. agribusinesses typically dump corn on the Mexican market at prices 30 percent below the cost of production. Before NAFTA, Mexico only imported about 2.5 million tons of corn per year. In 2001, they imported over 6 million tons of corn. The price of Mexican corn fell 70 percent. Millions of small family corn farmers have been left without a source of income, and have been forced to abandon their communities in search of a way to feed their families. The bedrock of traditional Mexican rural life, corn farming families, have been torn apart by NAFTA.

While agreements like NAFTA and the WTO offer policies that favour agribusiness, they have been slow to address concerns of developing countries facing rock-bottom commodities prices. For example, in the WTO, African countries have raised the issue of low commodities prices in cotton, a staple of income for countries like Benin, Senegal, Mali, and Chad. Recent U.S. production of cotton has doubled, causing a world depression in cotton prices. In a July

WTO meeting, the Trade Minister of Benin stated that Benin was “not prepared to accept the death of thousands of peasants as the price of a deal.”

Loss of Food Sovereignty

Under free trade regimes, developing countries are unable to use traditional methods of encouraging self-sufficiency in food production, because NAFTA and the WTO, as would CAFTA, prohibit internal support programs and import controls (quotas). The result has been an increased dependence on imported staples that have to be bought on the global market instead of grown locally. Since many countries can't afford to buy imported food, they have to increase their foreign debt or suffer increased rates of malnutrition.

Under CAFTA, Central American countries were able to negotiate an exemption to tariff reductions only on one corn variety—white corn. This means that protective tariffs for staple food products such as rice and beans are prohibited. The result will be that in Nicaragua, for instance, tariff-free imports of yellow corn would increase ten times their current amount in the first year of CAFTA.

Increased Food Prices

Consumer prices were supposed to decline under NAFTA—yet while farmer's commodity prices have plummeted, consumer food prices have risen in all three NAFTA countries. The U.S. consumer price index for food rose by 22 percent between 1994 and 2002. While Mexican farmers now earn 70 percent less for their corn, they pay 50 percent more for tortillas. Without domestic support for family farmers, poor countries have become increasingly dependent on food imports. Imports of agriculture products in Mexico have increased by 44 percent since NAFTA, pushing local producers out of the market. This is true for products such as: wheat, potatoes, rice, barley, coffee, milk products, sugar, fruits and many others. When exchange rates fluctuate, this can lead to a dramatic rise—sometimes a doubling or tripling—in food prices for poor consumers.

Loss of Land and Increase in Migration

Under NAFTA and the WTO, over one and a half million Mexican farmers have lost their sources of income, forcing them to abandon their farms. This has created a massive farmers' migration to big cities and other countries in search of jobs. In 2002, an average of 600 Mexicans were forced off their land each day. Annually now 500,000 Mexicans per year attempt to cross the U.S.-Mexico border to find a way to feed their families. In the past five years, 1600 Mexican migrants have died while trying to cross the U.S.-Mexico border searching for jobs. Under CAFTA, Central American corn, rice, beans, and sorghum farmers, as well as poultry, pig, cow, and dairy producers all stand to be driven off their land by cheap imports. In Guatemala alone, experts predict that CAFTA will result in the loss of 45,000 to 120,000 agricultural jobs.

Corporate Consolidation

Since NAFTA was implemented, 38,000 small farms have been lost in the United States, and 11 percent of Canadian farms have gone bankrupt. A mere 2

percent of farms in the United States control 50 percent of American agricultural sales. Over 73 percent of the nation's farms share less than 7 percent of the market value of agricultural products, while 7.2 percent of farms receive 72 percent of the market value of products sold. Eight-two percent of U.S. corn exports are controlled by three agribusiness firms- Cargill, Archer Daniels Midland (ADM), and Zen Noh. While family farmer incomes have plummeted during the first 7 years of NAFTA, ADM's profits went from \$110 million to \$301 million, while ConAgra's grew from \$143 million to \$413 million.

Corporate Control of Plants and Seeds

The Trade-Related Intellectual Property (TRIPs) agreement within the WTO establishes global and uniform protection for trademarks, copyrights and patents. Perhaps most controversial and worrisome is the fact that these protections also apply to patenting of life forms. For example, traditional, plant-derived medicines used by Indigenous populations in countries such as Brazil could be patented by a transnational corporation for profit, as long as the Indigenous peoples had not already done so. It is highly unlikely, however, that Indigenous communities would seek a patent, because plants are considered to be a shared resource, not a commodity to be exploited for profit.

CAFTA and the TRIPs agreement also undermine global access to and distribution of seeds and, therefore, the food supply. As corporations begin to patent seeds, local farmers must pay annual fees and/or sign technology use agreements that prohibit saving patented seeds and limit the use of seeds that have been used by generations. Subsistence farmers cannot afford the cost of purchasing new seeds each year, and the limiting of seed varieties makes food supplies vulnerable to plant pests and diseases.

The Spread of Genetically Modified Organisms

Currently, agreements under the WTO and CAFTA grant unprecedented rights to multinational corporations producing genetically modified organisms (GMOs). The WTO has ruled that GMOs must be treated no differently than their conventional counterparts. Thus, consumers are unknowingly being used as guinea pigs for the powerful biotech industry. Scientists have argued that the spread of GMOs drastically reduces biodiversity as a result of the contamination of conventional crops by pollen from those containing GMOs. Currently, no satisfactory protections exist to safeguard our food supply from known or unknown dangers of this new technology. Under CAFTA, GMO corporations would be granted the power to file suit against countries whose farmers replanted GMO seeds.

Environmental Degradation

Industrial agriculture practices replace sustainable family farm practices and take an extra toll on the environment that is not reflected in consumer prices. The overuse of fertilizers and chemicals, overgrazing, and the unenforced regulation of factory farm dumping of agricultural byproducts such as excrement and pesticides into rivers and streams all damage the quality of air, water, and soil, which are our shared resources. Corporate "free trade" agreements continue to stick communities and taxpayers with the costs of

cleanup and loss of environmental quality, while corporations reap the profits embodied in industrial agriculture.

Erosion of Democracy

In order to be in compliance with NAFTA, the Mexican government actually had to change the Mexican Constitution's land redistribution statutes to allow foreign ownership of land. This allowed lands owned collectively by farming communities to be sold off or taken by creditors. This move led to the uprising of the Indigenous people of Chiapas in the Zapatista rebellion on January 1, 1994 — the very day NAFTA took effect. The Zapatistas view NAFTA as a death knell for Indigenous people.

Under Chapter 11 of NAFTA, corporations are also empowered to directly sue national governments (called investor-to-state dispute resolution) in the event that domestic legislation interferes with their profit maximization. CAFTA includes these same investor rights, inviting challenges from foreign corporations over governmental actions such as GMO food labeling, increased food safety standards, or local purchasing preferences.

Farmers across Mexico protested the implementation of the final phase-in of NAFTA agricultural policies on January 1, 2003. A movement called "The Countryside Can't Take Anymore!" is working to educate the world about the failed promises of "free trade" in Mexico. And hundreds of thousands of farmers in Guatemala, Honduras, and Nicaragua have mobilized against CAFTA and the FTAA in recent years.

References

1. Fergusson ps, Ian F. (2008-01-18). "World Trade Organization Negotiations: The Doha Development Agenda"
2. Hanrahan, Charles; Randy Schnepf (2007-01-22). "WTO Doha Round: The Agricultural Negotiations"
3. "World trade talks end in collapse". BBC News. 2008-07-29.
4. Beattie, Alan (2008-07-31). "Hangovers but no anger on the morning after". Financial Times.
5. "Tequila sunset in Cancún". The Economist. 2003-09-17.

Role of State in Liberalized Economy

Dr. Sangeeta

Shaheed Bhagat Singh College, University of Delhi, Delhi

ABSTRACT

When Dr. Manmohan Singh quoted Victor Hugo in his famous 1991 Budget speech that said- “No power on earth can stop an idea whose time has come”, he was actually ushering in a paradigm shift in India’s economic existence and worldview. This view is result of decreasing trust in the role of government and planning commission in developing the country. This may have happened due to instructions from World Bank but the result was its decreasing role and area of operation. The main argument of this article is that Planning Government has to be continued to facilitate the task of economic liberalization and also to develop capability of people to ensure balanced economic and social and regional development. In this Article I have attempted to find out what kind of new role government is doing since 1991 and its utility in market economy. How can Government contribute towards improvement in our socio-economic set-up? Is the current methodology adopted just sufficient or appropriate or do we need a changed course of action to achieve desired result?

The economic reform process that was started in 1991 established the prominence of market economy model in India. This raised doubts about the role of the State in liberalized economy. This debate was result of the fact that since beginning almost all modern development literature focused on the generation of economic growth in the sense of expanding gross national product because ‘that gives man greater control over his environment and thereby increases his freedom’ (Lewis, 1955). This view however ignores the fact that the basic objective of development is the enhancement/upgradation of human capabilities. Viewed from this perspective, we found that economic liberalization has captured only a part of a large area of operation of State. Economic affairs and market affairs thus becomes a narrower part of broad area of its operations. In the changed contexts, we do need different a powerful State to achieve the targets of growth and development by focusing on the development of social sectors. This assessment and changing focus to social aspect enhancing human capability makes it pertinent to analyze the role of State and Government in post liberalized environment.

Reassessing the path of Development in 1991

The role of the State and Planning in 1991 appeared to be on crossroads. About 44 years before this shift in strategy, Pt. Jawahar Lal Nehru's 'Tryst with Destiny' declared- 'Long years ago we made a Tryst with Destiny, and now the time comes when we shall redeem our pledge.' He further said- 'The achievement we celebrate today is but a step, an opening of opportunity, to the great triumphs and achievements that await us.' He reminded the country that the task ahead included 'ending of poverty and ignorance and disease and inequality of opportunity.'¹ Over the years through various Five Year Plans efforts have been made to end these deprivations. But have we really achieved that objective? Jean Dreze and Amartya Sen (1996) argues about the success in achieving the same but finds the same quite limited. The intensities of these deprivations no doubt have been reduced over the years. But there is still a long way to go ahead. The critical situation in 1991 forced us to face the problems of high unemployment and high inflation (12 per cent)² with most stagnant real wages and the later by a fall in India's foreign exchange reserves which fell below a critical minimum by mid-1991. To tackle the situation we opted for economic liberalization followed by multilateral aids from World Bank and IMF (with concomitant conditionality) that helped us improve our foreign exchange position from \$1.1 billion (as on August 1991) to \$ 5.4 billion (as on January 22, 1993)³.

But was it for this result that we strived for? We, in 1991, were neither totally economically developed nor (uniformly) socially uplifted. We thus need to understand – where have we gone wrong? Was Economic Liberalization the only way to solve the problem of financial crisis? If that was so, why it came as instructions from IMF and why we didn't opt for it when other nations opted for this approach? However the reform procedures were respectfully welcomed and government, under the reform process, resorted to fiscal discipline as a corrective for the twin deficits, the Central budgetary and Balance of Payments (BOP) deficits. Some of the basic reasons for India's twin deficits were India's low productivity, poor quality of products and services, subsidies burden and obsolete technology. These problems mainly arose out of a lack of competition among producers because all of them had been operating under a government-subsidized sheltered market that was created by elaborate licensing, extensive trade and fiscal protection, different forms of reservations and finally due to large public sectors monopoly and its non accountability and commercially non-viable operations. This was the logical outcome of the role of Planning Commission towards enforcing elaborate centralized physical allocation mechanism in terms of target setting and allocation of real investment in sectors and projects. Now it is felt that to ensure a sustainable basis for attaining

accelerated social justice and self-reliance, appropriate market operations in resource mobilization have to be revived. At the same time it was also felt that there are certain areas of economic activity which need protection for some period of time and hence should be opened for market forces in different stages. Thus transition happened in two phases. The first phase of economic liberalism began in 1981, under pressure from the International Monetary Fund and the World Bank. During this phase, India received the SDR 5 billion loan that was conditional on an 'adjustment programme' from the IMF. The second phase of globalization began in 1991 where the economic measures initiated were based on World Bank's Structural Adjustment Programme (SAP) designed to restructure economy.

Since the initiation of Economic Reforms in 1991, India has moved towards adopting a market economy model. We now stand at the threshold of what we called the Second Generation of Economic Reform⁴. Thus where the first step in the First Generation of Reform in India was to modify the mindset of political class so that it becomes tuned to receive the positive signals that market economy radiates for India followed by opening some sectors step by step to the market economy, the second generation would unleash the resources capped under the carpet of controls. These resources would then be available for further development.

However, empirical evidence suggests that while IMF's structural reforms programme may, in certain countries, have lowered inflation and improved their BOP, it did not trigger growth, nor has it reduced poverty or tackled the problems of illiteracy, health and population growth. Thus, the then Prime Minister while addressing National Development Council (NDC) meeting on May 22, 1992 stressed that the problems in key social sectors of the economy could not be left to be solved by the market forces. This requires redefinition and clear delegation of task between the two. This does not mean that a line can be drawn but it only means that no sectors, especially social sectors, should be left untouched.

Sectors that Should be Given Special Focus

Developmental experiences of other countries and of our own country since independence has shown us the importance of education expansion, health services, social security, gender relation and other social sectors that can play important role in capability enhancement. Economic development can truly be achieved only by expansion of opportunities of individuals and this can be done by expansion of human capabilities. But market actors that undertakes only profitable task, cannot be expected to take care of these non-profitable social areas. Economic growth does expand human capability by increasing

economic opportunities but can it also help expand freedom of individual that is based on the concept of social opportunities? Education and Health⁵ are two important 'social' variables that can play important role to foster economic progress. But these variables have been neglected in all the programmes for development since independence. These, on one hand, can help enhance freedom of a person (to get employment opportunities, to understand and criticize policies, to participate in the process of governance and others) and on the other hand, can help create a matured community by assuring participation of educated citizens (in political, economic and social developmental activities). Also, the use of economic opportunity by some people can help spread information regarding different policies and programmes of the government and hence can help create more enlightened citizens understanding importance of their voicing and participation in developmental programmes. However, better participation needs healthier people that can be achieved only by providing best health care facilities to the peoples at remotest corner of country. Thus improvement in education and health statistics can help change developmental statistics. India's failure to have adequate public policies for these sectors can be one of the major reasons behind limited success of our developmental strategy. Thus to ensure balanced development and inclusive development along with economic development, government should focus on developing social opportunities (especially education and health).

State in the Market Economy

State and Market can play complementary and supplementary role for each other. There can be no 'pro-state' or 'pro-market' view. However, market operates only where it hopes to earn profit. Based on profit-inclination, it does certain things (where it gains) and abstains from doing others (where there is no profit).⁶ As such it cannot be expected to operate in certain areas where social commitment occupies greater space than profit orientation. As far as role of market and state are concerned, market can be entrusted primacy over industrial production and trade; and where social commitment is required, State by its planning machinery should be entrusted superiority over the market. This includes issues that involve raising India's abysmal level of basic education, health care, and social security.

While private initiative should be encouraged in most areas of business activities, the state should increasingly play a pro-active role in areas or sectors in which the private sector is either unwilling to act or is incapable of regulating itself in the social interest. Market forces and the state should be given roles that permits them to play the role of their comparative advantages and that they should work together as partners in the economic development of the nation. The areas in which the state has a comparative advantage over the private

sector include poverty alleviation programs; human resource development; provision of social services such as primary health and primary education; and similar activities categorized as building human capital and social infrastructure.

As a complimentary role to the market, State also provides a set of rules and information that aims to improve the running of the economy and the market, besides performing the role of facilitator of development by performing non-profit activities like infrastructure development, defence industries, and increasing development of human resources, quality of life, literacy level and environmental improvement. For that, besides limited role of government, it is necessary to increase people's role in developmental programmes by institutionalizing people's participation through non-governmental organizations and also increasing decentralization.

Thus, we need a new strategy and work programme under a changed institutional structure of the State in which proper speed and appropriate sequencing of the adjustment process of the economy could be carefully worked out to help a transition from a centralized physical allocative system to an indicative market-cum-price oriented allocative system. The doctrinaire approach that the market will take care of everything is not correct. The transition from a controlled economy with commanding role of public sector to a market-based economy suggests a transition from restriction and penalty oriented economic strategy to an incentive based one. Thus, although supporters of liberalism stresses on negative liberty with limited role of state but in a country like India what is required is 'positive' liberty with positive role and public inclined policy.

Sectors Under Special Focus of State since Economic liberalism:

Starting from Eighth Five Year Plan and then continued in Ninth, Tenth and Eleventh Five Year Plan, we find a shift in focus of State and Planning Commission towards non-profitable social sectors. These are the sectors that need special or focused attention to prepare our society face the challenges of liberalization by being capable of becoming participant in the process of development and includes sectors like - agriculture and rural development, food and nutritional security to vulnerable sections of society, health care facilities, universal primary education, environment, panchayati raj institutions and building self-reliance while giving decreasing allocation for industrialization that has been left for private participation. Special attention was given by fixing targets to be achieved. To achieve its goal, it selected certain focus areas like agriculture, food security, irrigation, energy, transport, communications, environment and forest and human and social development

by providing better quality of life, health, education, etc. This was done under Special Action Plan (SAPs) to achieve actionable and time-bound target with adequate resources.⁷ The areas were carefully selected to focus on twin objective i.e. human development by improving health and education standard and area development by focusing on the basic conditions necessary to support economic development that includes sectors like electricity, transport, food security, rural development, etc. The efforts resulted in improvement of literacy percentage from 52 per cent in 1991 to 65 per cent in 2001⁸ in the beginning of Tenth Five Year Plan only. Many corrective actions were proposed to ensure growth accompanied by social justice. The development strategy adopted for the Tenth plan envisaged: redefining the role of Government in the context of the emergence of a strong and vibrant private sector, provision for infrastructural improvement and ensuring greater flexibility in fiscal and monetary policies. The strategy for equity and social justice necessitates making agricultural development a core element of the Plan, ensuring rapid growth of those sectors which are most likely to create gainful employment opportunities and supplementing the impact of growth with special programs aimed at target groups.⁹ The Eleventh plan attempted to remedy existing deficiencies by seeking to accelerate the pace of growth while also making it more inclusive by adoption of 27 other monitorable targets at the national level.

But is growth really happening? It has been observed that policies are made and implemented but benefits are not reaching people at the bottom. The problem may be of poor policy making (because of non-availability of actual ground situation due to lack of relevant data), poor policy analysis, poor implementation process, lack of people's participation, red-tapism on bureaucratic part or any other. The result is that the pace of improvement, which though is happening, has been bringing in uneven result creating big gap between different regions. There may be various reasons for this uneven development. For example, if we take the case of Kerala¹⁰ we find that besides policy level certain other factors like literacy level at the time of independence has helped State show better result. The problem that we have to tackle at this time is to educate people and ensure their participation in policy making and implementation process. But in most of the undeveloped regions we face the problem of illiteracy, unawareness (about policies and programmes) and poor response from the people. A proper spread of education and awareness and people's participation alone can solve the problems related to poor development, poor health standards and low literacy rate. Thus we may say that there is a lot to be learned by economic liberalization, past experiences of developmental planning and from the experiences of other countries. The successful experiences of four Asian Tigers (South Korea, Hong Kong, Singapore and Taiwan) displays

before us importance of 'freeing' the markets but at the same time we have to keep in mind the fact that market will not help educate our poor people living in far-off areas, rather it will utilize knowledge of our educated class; it will not give employment to our unskilled laborers, rather it will exploit our trained and skilled laborers. The burden of educating them and making them eligible to participate in the process lies in the domain of our government. These liberal countries along with facilitating economic growth managed to raise the quality of life by providing support to health care system and education system. But these policies and programs can be successful only if in making and implementing them people's participation is assured. Thus while taking lessons from the developmental experiences of other countries, we must give due consideration to the fact that both the factors has to be given due importance i.e. economic growth and public support to ensure uniform development and this second condition can be achieved by ensuring social development, involving people, giving them assured job after completing school education, providing such health care facilities to remote areas as are available in developed countries.

Conclusion

We can say that Indian economy is adjusting to the changes brought in by economic reforms while at the same time directing the focus of State towards social sectors. This change is visible in various developmental policies that clearly shows increasing focus of the institution towards social sectors leaving economic sectors in the hands of the market forces and shifting its focus towards human development by improving education and health standards. This requires the provision of literacy and elementary education as fundamental opportunities for all (irrespective of gender or caste or class) and the spread of secondary education at a very much wider basis. The progress is visible but the process is extremely slow. If we compare our self with other countries like China and South Korea, we find ourself lagging far behind. Even in our country, we find Kerala as a state scoring better human development rank than India as a country. The reason for better performance by Kerala is mainly due to special history of educational expansion, good social infrastructure along with emergence and development of other forms of public interventions. Further, continued State political activism in bringing about the changes on human development aspects make Kerala stand out so sharply in India. Hence there is a lot that can be learned by comparing our policies inter-state (with China) and intra-state to redesign and rediscover better policies ensuring better development.

References:

- Budget 1991: What Manmohan Singh promised and what was delivered, The Economic Times, 24-Jul-2011

- Dreze, Jean and Amartya Sen (1996), *India: Economic Development and social opportunity*, (Delhi: Oxford University Press).
- Dreze, Jean and Amartya Sen(ed.) (1997), *Indian Development: Selected Regional Perspective*, (New Delhi: Oxford University Press).
- *Objectives of Ninth Five Year Plan*, Government of India.
- Sen, Amartya (2000) , *Development as Freedom*.(New Delhi: Oxford University Press).
- Sen, Amartya (2005), *The argumentative Indian*, (London: Penguin).
- Sen, Amartya (2006), 'The possibility of social change', in B. Agarwal, J. Humphries and I. Robeyns (eds.)- *Capabilities, Freedom and Equality: Amartya Sen's work from a gender perspective*, (New Delhi: Oxford University Press).
- Sen, Amartya (2008), 'Why Planning?', *Seminar* 589, September.
- Sen, Amartya (2003), 'Development as Capability Expansion', in Fukuda-Parr S (ed.), *Readings in Human Development*, (New Delhi: Oxford University Press).
- *Tenth Five Year Plan*, Planning Commission, Government of India, Vol. 1, p-6 and 197.

(Footnotes)

- ¹ This is a part of the Jawaharlal Nehru's Speech delivered at the Constituent Assembly, New Delhi, on 14th August, 1947 and later published as *Independence and after: A collection of speeches-1946-49*, available at books.google.co.in.
- ² Joshi, Vijay and IMD Little, *India's Economic Reforms 1991-2001*, (New Delhi: Oxford University Press, 1996), p-14.
- ³ Report on Foreign Exchange Reserves, Reserve Bank of India, Central Office, Mumbai, 2007-08 (covering period upto March 2008); and S. P. Gupta, *Planning and Liberalisation*, *Economic and Political Weekly*, vol.28, No. 43 (October 23, 1996), pp-2349-55.
- ⁴ Term has been coined by IMF and is used in reference to a general continuation of the process of economic reform and liberalization initiated in India at the behest of the International Monetary Fund in the early 1990s. Regarding its necessity, former IMF Managing Director, Mr. Michel Camdessus, put it, "We have learned that this first generation reform is not, by itself, enough either to accelerate social progress sufficiently or to allow countries to compete more successfully in global markets." He further says, "Second generation reforms may be seen as the set of measures needed to enable a country to attain, in a sustained way, high-quality growth. Definitions, of course, should not be too rigid. First and Second generation reforms are not necessarily sequential; indeed, the institution-building typically associated with second generation reform often can and should occur in parallel with the first generation. It remains that such growth will also enable the economy to function more efficiently in-and to derive greater welfare from-the globalised economy, and thereby to contribute to a stronger international financial architecture." The Economic Survey 1999-2000 and Union Budget 2000-2001 also called for a comprehensive Second generation reforms to arrest a possible fiscal and external sector crisis in the medium term by immediately adopting measures like liberalization of trade in agriculture, a sharp reduction in fiscal deficit and further cuts in interest rates to revive the animal spirits among the entrepreneurs.
- ⁵ The importance of education and health in fostering economic progress can be found in the writings of Dreze and Sen (1995), Theodore Schultz (1962, 1963, 1980), Seeta Prabhu (2001).

- ⁶ The concept has been explained by taking example of food security in flood or famine stricken areas and the role of the market there by Dreze and Sen (1995) and Adam Smith (1776). In such a situation Dreze and Sen supports 'market-excluding' intervention and Smith suggests that in such case market should be given freedom to operate as state intervention can only make a famine worse.
- ⁷ Objectives of Ninth Five Year Plan, Government of India.
- ⁸ Tenth Five Year Plan, Planning Commission, Government of India, Vol. 1, p-6 and 197.
- ⁹ As summarized in Economic Survey, Government of India, 2002-03, pp-41-42.
- ¹⁰ The historical analysis of Kerala's experience has been discussed by V. R. Ramachandran (1996) and A. Sen and Jean Dreze (1996). Kerala actually made an early start down the road of development in the 19th Century leading to wide-ranging social achievements later on.

Media, Market and Democracy: In the Changing Context

Swadesh Singh

Indus Research Centre, Delhi

This article addresses the issues of expansion of media in the era of globalization and how the nature, ownership and priorities of media industry have changed. This article also discusses as to why and how media is important for the thread and fiber of a democracy in terms of acting as a watchdog and reframing the public opinion.

Introduction

Media has traveled a long way from the printing press of Guttenberg to Twitter. Media has not only reflected socio-political changes but has also, to a large extent, influenced them. However, scholars dispute the extent to which media influence public opinion as there are several factors other than media that influence opinion of the people.

People can derive opinion from what they see and hear. Much of their information comes from the media so that power of media is immense. Media provide a free 'marketplace of ideas' where contradicting voices compete for public recognition without the interference of the state.

Theories of Mass Media

The mass media have been recognized as politically significant since the introduction of popular press in the late 19th century and increase in mass literacy. It is widely accepted that through a combination of social and technological changes, the media have become increasingly more powerful political actors and in some respect more deeply enmeshed in the political process. The public rely heavily on mass media than ever before. By the time an average American student graduates from high school, she or he will spent more time in front of the television than in the classroom.

Few commentators doubt the media's ability to shape political attitudes and values. However, there is considerable debate about the political significance of media's influence. A series of rival theories offer contrasting views of the media's political impact. The most important of these are as following:

The Pluralist Model

Pluralist model of mass media portrays the media as an 'ideological marketplace' in which a wide range of political views are debated and discussed. While not rejecting the ideas that the media can affect political views and sympathies, this on the other hand suggests that their impact is essentially neutral in that they tend to reflect the balance of forces within society at large. The mass media both enhance the quality of democracy and guarantee that government power is checked. Some argue that the advent of the 'new' media, and particularly the internet, strengthened pluralism and political competition by giving protest groups, a relatively cheap and highly effective means of disseminating information and organizing campaigns.

Dominant-ideology Model

This theory portrays the mass media as a politically conservative force that is aligned to the interests of economic and social elite and serves to promote compliance or political passivity amongst the masses. In its Marxist version, it suggest that media propagates bourgeois ideas and maintain capitalist hegemony, acting in the major corporations and media mughals. According to this theory Media play an important in promoting globalization, in their tendency to spread ideas, images and values that are compatible with western consumerism.

One of the most influential and sophisticated versions of dominant-ideology model was developed by NaomChomsky and Ed Herman in 'Manufacturing Consent' in the form of propaganda model. They identified five 'filters' through which news and political coverage are distorted by the structures of the media itself. These filters are: The business interests of owner companies; Sensitivity to the views and concerns of advertisers and sponsors; Sourcing of news and information from 'agents of power' such as governments and business-backed think-tanks; Pressure applied to journalists including threats of legal action; Unquestioning belief in the benefits of market competition and consumer capitalism.

Elite-value Model

This model shifts attention away from the ownership of media corporations to the mechanism through which media output is controlled. This view suggests that editors, journalists and broadcasters enjoy significant professional independence and that even the most interventionist media moguls are able only to set a broad political agenda but not to control day to day editorial decision making. The media's political bias therefore reflects the views of the groups that are disproportionately represented among its senior professionals.

Market Model

This model holds that newspapers and television reflect rather than share the views of the general public. This occurs because regardless of the personal view of the media owners and senior professionals, private media outlets are first and foremost businesses concerned with profit maximisation. The media therefore gives people what they want. This model also gives the idea that at least the privately owned mass media should be seen as a part of the political process. It helps to explain some significant trends in political life.

It can be said that in any liberal democracy a single model is not fully applicable. Various media organisations have their own peculiar ways of functioning and these ways subscribe to one or the other theories mentioned above. In one media organization owner's ideology may play a significant role and in other views and opinion of senior professionals like editor are important and owner does not play a major role in day to day functioning of the channel/newspaper. This could be true for India also where we can see media organization based on different models. It is matter of further study that which model is more dominating and playing a decisive role.

Media Democracy

Democracy implies the existence of certain basic freedoms, among which the right to express and listen to opinions is fundamental; the media must therefore be free to expound a variety of view point. Traditionally, liberal democracies are associated with the idea of free press and in more recent years, with broadcasting services which operate in a climate in which radio and television editors and journalists are able to gather and use information as seem appropriate for their programming.

The media surround us. Our everyday lives are saturated by radio, television, newspapers, books, the internet, movies, magazines and more. In the 21st century we navigate through a vast mass media environment unprecedented in human history. Yet our intimate familiarity with the media often allows us to take them for granted. They are like the air we breathe, ever present yet rarely considered.

Recent discussions of the role of the media in politics have focused on the central notions of Media Democracy, Media Society and Mediocracy. The term media democracy in this first sense refers to the way in which the media have acquired a decisive role in political process, above all in shaping public opinion and decision-making on political issues. Media democracy is a novel regime in which political actions are systematically legitimized by being subjected to the rules of the media system. The notion of mediocracy goes a step beyond that of media democracy, since it include a specific diagnosis of political and cultural

circumstances. The mediacracy thesis claims that the media's programming decisions cater almost exclusively to the political and cultural tastes of the broad mainstream. The characteristics of mediacracy are present whenever the massmedia act as a mediator and catalyst, turning the public's preferences and inclinations, its limited attention-span and need for information into a kind of fundamental law governing all dimensions of public communication.

To ensure that media democracy remains democracy, and only secondarily lapses into media-oriented pseudo-politics, society needs to exercise oversight and control over the media system and its mode of political communication. A mobilized civil society consistently willing to challenge the narrow application of media codes across a wide spectrum of issues, could contribute to a more politically sophisticated communicative culture in the media. But it could also help to preserve political space for democratic parties, and to free politics itself from excessive dependence on the rules of the media stage.

Growth of Media in India

In India, growth of media has taken place mostly in the last hundred years. Media also played a major role in independence movement. Mahatma Gandhi understood the importance of the media and took out newspapers himself. During the Emergency period, media had been banned yet it played a significant role in the movement against emergency. After Emergency, the Janata government made a move to grant autonomy to government controlled media. PrasarBharti Bill was introduced and it became an act in 1990s but the country's biggest broadcaster Doordarshan and All India Radio are still working like propaganda machines of central government. Today, because of media, information is delivered quickly to people and they are able to tell the government through different means as to how more effective policies can be made.

However in the last two decades role and influence of media have increased manifold. Especially after liberalization media sector has been revolutionized through newspapers, magazine, television and internet. People have got many avenues through which they can raise their voice and get heard. Today newspapers and magazines have reached nooks and corners of the country. TV channels have proliferated in hundreds. The media revolution brought through internet and blogging has directly benefited the common people. In this 'Information age' the ownership of the information medium brings sense of empowerment. Due to this expansion and decentralization of media change can be seen in political socialization and political culture. Politicians have become more responsible as the distance between their public and private life has been reduced. The media has a capacity to provide a civic forum in which meaningful

and serious political debate can take place. It has also worked as a public watchdog on the government. Social movements have got great strength in the wake of media expansion.

In the modern age, media has come to wield enormous power in terms of setting a society's agenda and shaping people's perception about themselves as well as the world around them (Desai and Ninan, 1996). The western world witnessed the newspaper explosion necessitated by passion of power. In India, popular journalism grew from the revolt of the subject class.

With extending impact of media of mass communication on individuals and groups, the Indian society overall is reacting swiftly. The pervasive effects of the various media on the varied spheres of the Indian life-economic, social, cultural, intellectual, religious and even moral values are transforming rapidly.

In June 1975, the mass media, especially the press came under stress. But it should be stated to the credit of the media that in spite of the several restraints, they gave increasingly contributed to improvement of the situation and assisted the government and the masses in social, economic and political endeavor.

The expansion of capitalism in India can probably be seen more concretely in the newspaper industry than anywhere else. Newspapers, like capitalism in India, were not all pervasive, but they went where they had not gone before and various aspects of life changed as a result.

Indeed, the development of Indian-language newspapers provides a thermometer for taking the temperature of Indian capitalism. At the time of independence in 1947 Indian capitalism existed, although they did not dominate an economy still heavily agricultural and 'semi-feudal', based on exchange, patronage and dependence as much as on wages, profits and markets.

A landmark for newspapers in this process was the first national readership survey (NRS-1), conducted in 1970, which hinted at the latent purchasing power of small-town India. It also underlined that uncertainty of most Indian-language newspapers about how to confront the potential magnetism of advertising revenue. The end of the emergency and the slow relaxation of economic controls forced Indian-language press to embrace capitalism simply in order to survive. The technology that enabled them to reach new readers in remote areas became both available and essential. Expanding newspapers carried capitalist practices with them. In the 1990s, the industry was still sufficiently open to tempt capitalists, eager for dignity and apparent influence, to start new newspapers. Examples were obvious. Rashtriya Sahara, the Hindi daily begun in 1991 by Subrata Rai, owner of a profitable lending and investment institution was one, Vaartha, the Telugu daily started in 1996 by the Sanghi family to challenge

Eenadu. A 'market war', as a newspaper marketing manager described it, for advertizers and readers was fought as openly between Indian language newspapers in the 1990s as struggles between Coke and Pepsi. The place of capitalism in the newspaper business could not have been demonstrated more explicitly. Between 2000 and 2007, if we accept raw calculations, the circulation of Indian daily newspapers grew by 66 percent to exceed 95 million copies a day. In the UK between 2001 and 2005, daily circulations fell by 10 percent. In Europe as a whole, the estimate was a fall of more than 8 per cent and in the USA, a fall of 4 percent.

Indian News Media and the Public Sphere

'A million mutinies now' was what VS Naipaul called his 1990 book about revisiting India after many years. The 'million mutinies' - the fact that millions of Indians now rebelled in small ways against their circumstances - were possible because avenues for public protest unwound like rolls of newsprint. If people lack ways of communicating over time and space - i.e. the lack media - a 'public sphere' is impossible. At the time of independence, such a capacity to communicate was confined to a relatively small section of the population, mostly in the cities the disproportionately English-speaking. The newspaper revolution of the 1980s-1990s in India provided the means by which public sphere broadened to encompass tens of millions of people in small towns and the countryside.

The spread of newspapers expanded the participation of people in events affecting them. One could almost visualize a metaphorical 'deal': we small town and country people, will read your newspaper and perhaps buy your products, but only if you will let us read about ourselves. Thus to serve their own ends, newspapers played a major role in creating the conditions for an expanded public sphere: they reported extensively on matters close to people's home and hearts.

Do expanding media in fact fragment - even destroy - a once-unified 'public sphere'? Or are public spheres, in the plural, being rapidly widened and deepened from what was once a shallow, narrow core? Robin Jeffery argues that political involvement is the other engine - along with consumer capitalism - that drags newspaper circulation behind it. As people become citizens caught up in political and social action, the appetite for information, and readiness to pay for it, grows.

The spread of newspapers into distant corners has created 'public spheres', not fragmented them. A public sphere cannot exist without media, and a liberal public sphere must be open to those who have the will and capacity to enter into discussion. In an authoritarian state, only a cowed

and crippled version of 'the public' can survive. A recognizable public sphere arrived in most of rural India only from 1980s with the spread of a localized newspaper industry.

Arvind Rajgopal in his book, *Politics After Television* contends that north India has acquired a split public sphere between an elite that reads the English-language press and a substantial but different "public" who read the Hindi language press. Rajgopal points out those Hindi-language newspapers were often criticized for "their inability to imitate the English language press." But this, he argues, is to ignore, "the specific cultural and political conditions of Hindi language news production." Even though, newspaper industries elsewhere in the world are in crisis, growth in India's newspaper industry seems easy to explain.

India had more than 650 million literates by 2001 – an addition of 200 million literates in ten years. (based on calculation of 52 percent literacy of a population of 846 million in 1991 and 65 percent literacy of a population of 1029 million in 2001). At the same time, the economic liberalization that gained momentum from 1991 expanded the middle class, introduced a wide range of competing consumer goods and swelled the advertising industry.

Growth of Hindi Newspapers

To gauge the impact of what has happened in Hindi, the national language with 500 million speakers, consider a rough-and-ready calculation. In 1961, for example the two largest circulating dailies in Uttar Pradesh were both in English – Northern India Patrika (18000 copies) and National Herald (17000 copies). The largest Hindi daily was *AajDainik* of Varanasi (17000 copies). Today's giant, *DainikJagran*, in those days published only from Kanpur and sold 9000 copies a day. In 2008, *DainikJagran's* circulation was more than 2.3 million copies a day from 18 centres.

Newspaper penetration in Uttar Pradesh increased by six times in the 20 years from 1981 to 2001; literacy doubled (from 27 percent to 56 percent). Newspaper expansion resulted into political awareness and spread of consumer capitalism drove a hunger for news and information to which newspaper proprietors eagerly responded.

When we ponder politics and social change in North India over the past generation, Hindi newspapers always lie behind the scenes, though they are insufficiently analysed. Stahlberg's *Lucknow Daily* captures life at the Lucknow edition of *DainikJagran*. He sums up: *It is no coincidence that politics in India has to a great extent shifted its focus from New Delhi to the regional centres during the same period that the vernacular press grown in strength.*

Conclusion

Hegel wrote in 1805 that reading the newspaper in early morning is a kind of realistic Morning Prayer. One orients one's attitude against the world and toward God, or toward that which the world is in the other. The former gives the same security as the latter, in that one knows where one stands.

In less than 20 years, Hindi newspapers have changed from being a scarce medium to a mass medium. They have begun to create an 'acceptable' Hindi usage. "Localization's singular contribution" writes SevantiNinan, "has been to incorporate dialects into the language of district editions, mostly with the intention of endearing the publication to the local people, and making them think that it spoke their language."

Weber called his book about the modernization of rural France 'Peasants into Frenchmen'. The French language was spread by newspapers and barracks even more than by school. In India, even without ideology and sentiments, the owners of major newspapers have reason to foster the idea of 'the Indian nation', when they are selling advertisements, they have all of India to canvass.

Indian Newspapers defy global trends. In the years after 2002, when newspaper circulations in the industrialized world shrank and newspapers closed, Indian newspapers expanded relentlessly. In analyzing Indian media and particularly Indian-language newspapers, one detects two processes; those that seem truly universal – that unfold everywhere as material conditions, associated with capitalism, establish themselves – and those qualities that are uniquely Indian – the distinctive method and special ingredients that India adds to a general recipe of 'modernity'.

Newspaper owners will endure losses that they would not tolerate in any other business, because of the influence and importance a newspaper appear to give them. There is no capitalist like a capitalist who owns a newspaper.

References

- Barker, Barker, *Media, Markets and Democracy*, London: Cambridge University Press, 2002
- Voltmer, Katrin(ed.), *Mass Media and Political communication in New Democracies*, Routledge, London, 2006
- Deming, Garen J.& Samuel L.Becker, *Media and the Social World in Media in society*, Scott, Foresman and Company, Boston, 1988
- Chomsky, Naom and Ed Herman, *Manufacturing Consent: The Political Economy of The Mass Media*, Vintage, London, 1994
- Damodran, Harish, *India's New Capitalists: Caste, Business and Industry in Modern Nation* London: Palgrave Macmillan, 2008

- Jeffrey, Robin, *India's Newspaper Revolution: Capitalism, Politics and the Indian Language Press*, Delhi: Oxford University Press, 2009
- Jaffery Robin, *Monitoring Newspapers and Understanding the State: India, 1948-1993*, Asian Survey, vol.34, no. 9, Sep. 1994
- Rajgopal, Arvind, *Politics After Television: Hindu Nationalism and the Reshaping of the Public in India*, Cambridge University Press, 2001
- Per Stahlberg, *Lucknow Daily: How a Hindi Newspaper Constructs a Society*, Stockholm Studies in Social Anthropology, Stockholm, 2002
- Brinks, J. H. and Edward Timms (ed.), *Nationalist Myths & Modern Media: Contested Identities in the Age of Globalisation*, Tauris Academic Studies, London, 2003
- Byrne, David, *Social Exclusion*, Rawat Publications, Jaipur, 2009
- Rajgopal A., 'The Rise of National Programming: The case of Indian Television' Media, Culture and Society, No.15, 1993
- Rao, N. Bhaskar, 'The Newspaper Scene 1998: Miles to Go' Vidura, January-March, 1999

The Stability of Multi-party Democracy in India

Rajbali Paswan

RGNF-SRF, B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur

For nearly six decades now democracy in India has appeared somewhat of an anomaly. India is a multinational, agrarian society with a rigid and hierarchical social structure. This existence in such a setting of periodic elections, constitutional government, and freedom of expression and association has posed an intellectual puzzle. In a world where most stable democracies have industrialized and capitalist economies, some observers have felt that India's democracy is either not genuine or that it is likely to falter soon.

Democracy in India is understood better by examining India's modern political traditions. Colonialism was the crucible of India's democracy. Early manifestations of colonial influences included the democratic inclinations of Western-educated leaders like Nehru, internal democracy within the Congress-led nationalist movement, and the participation of Congressmen in elections and legislatures prior to independence.

Considering the fatality rate of democracies in post-colonial settings, the political traditions inherited from the colonial past are clearly not a sufficient explanation.

The democratic commitment of India's leaders since independence has also made a major contribution to the survival of democracy in India. Immediately after independence, India's democracy could be characterized as a "gift" of the elite to the masses. The leaders of India's independence movement are often accused of wrongly choosing democracy in 1947. In fact, they had little choice. Democracy was the only system that could possibly provide political cohesion in a society with little tradition of political centralism, dizzying social diversity, an independence movement built along participatory lines, and limited elections introduced only in the last three decades of British rule.

A brief perusal of the interaction of the British Raj and Indian resistance to it during this crucial period reveals that conditions for the emergence of political parties were steadily growing. Partly under the impact of Utilitarianism, but mostly as a matter of expediency, the British had started experimenting with limited self-rule in issues of minor importance such as municipal administration by the 1880s. This formed part of the British strategy of ruling India with the help of Indian intermediaries, in this case, selected by very restricted electorate of urban, rich, and loyal subjects. The Indian National Congress was set up in 1885 by Sir Alan Octavian Hume, a retired British Civil servant, in order to present Indian interests to the British Crown in a systematic and organized manner. It soon became the leading voice of the Indian middle classes, constantly clamouring for more jobs under the colonial government and for greater political participation.

The earliest evidence of electoral practice can be found in the 1882 Resolution on Local Self-Government and the 1892 Indian Councils Act, both with very limited voting qualifications (property franchise). The principle of direct elections was established with the 1919 Government of India Act, and was immediately applied to all levels of politics – from local to national. These provisions qualified between two and four per cent of the population as electors. In 1937, based on the Government of India Act of 1935, the literacy requirement was introduced and, even more important, for the first time Indian politicians had the opportunity to gain political power in provincial legislative bodies.

On the eve of independence, India's established electorate amounted to about 40 million voters. The Constituent Assembly was still elected via restricted franchise in 1946, whereby only 14% of the population were entitled to vote – only 39% of whom exercised this right. On the contrary, the first general election (Lok Sabha) of independent India was held in 1951-1952 under universal adult franchise. During the five decades of independence, elections have increased in number and variety, and the average participation in Lok Sabha elections has risen to about 60% of eligible voters. Until now have 14 general elections to Lok Sabha taken place, and voting turnout was always very high (since 60's always over 55%), which means that the awareness of political process in Indian society is also high.

In the first years after independence The Congress party held on to this authority and found in competitive elections an alternative means of generating legitimacy. The parameters of competitive politics in India were set during the early days after independence so that later, when a new generation of leaders, representing the upward mobile peasants from the backward classes, began to enter the political system in the 1960s, despite the change in the fortunes of individual political parties, the system as a whole survived the difficult generational change.

Earlier scholarship (Kothari 1970) had presented the Indian National Congress, bearing the legacy of the Freedom Movement, as the main founder of India's institutions. The puzzle of political stability despite the decline of the Congress Party is partly explained by the existence of a relatively fair and effective electoral process, which has become an agent of the creation of a stable and legitimate political order.

The specificity of Indian democracy lies rather in the fact that it exist at all – in direct contrast to the experiences that other “third world” societies with similar circumstances have had with democracy. The specificity of Indian democracy can also be seen in the fact that the end of Nehru's era and the predictable, stable majority of his party, which is largely equated with the independence movement on a national level, did not lead to the end of democracy.

With the important exception of the period of national emergency between 1975 and 1977 under Indira Gandhi, India has remained a representative democracy since its independence from British colonial rule in 1947. The process of democratization has gradually integrated previously marginalized social

groups and geographical areas into electoral politics. India's democratic political system has been the ultimate source of the state's legitimacy, the major avenue of group mobility, and the main ingredient in the glue that has kept the country together.

References

- Adeney, K.: *Coalition Politics and Hindu Nationalism*, Cambridge Univ Press, Delhi, 2002.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Politics Since Independence*, Delhi, 1999.
- Chand Bandhu: *History of Indian National Congress, 1885-2002*, Kalpaz Publications, Delhi, 2003.
- Chopra, P. N.: *Towards Freedom: Documents on the Movement for Independence in India, 1937*, Delhi, Oxford UP, 1986.
- D Sundar Ram: *Federal System and Coalition Government in India : Conflicts and Consensus in Centre-State Relations*, Kanishka, Delhi, 2007.
- Das, Suranjan: *Communal Riots in Bengal, 1905-47*, UK, Oxford University South Asian Studies, 1991.
- Francis G.: *India's Revolution: Gandhi and the Quit India Movement*, Harvard UP, Cambridge, 1973.
- Gans, Herbert J. : *Democracy and the News*, Oxford University Press, New York, 2003.
- Granville, A.: *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*, Oxford, Clarendon Press, 1966.

Romanticism in English Literature

Dr. Kanchan Jain

Assistant Professor, Dau Dayal Mahila (PG) College, Firozabad, U.P.

Romanticism (or the Romantic era/Period) was an artistic, literary, and intellectual movement that originated in Europe toward the end of the 18th century and in most areas was at its peak in the approximate period from 1800 to 1840. Partly a reaction to the Industrial Revolution, it was also a revolt against aristocratic social and political norms of the Age of Enlightenment and a reaction against the scientific rationalization of nature. It was embodied most strongly in the visual arts, music, and literature, but had a major impact on historiography, education and the natural sciences. Its effect on politics was considerable and complex; while for much of the peak Romantic period it was associated with liberalism and radicalism, in the long term its effect on the growth of nationalism was probably more significant.

The movement validated strong emotion as an authentic source of aesthetic experience, placing new emphasis on such emotions as apprehension, horror and terror, and awe—especially that which is experienced in confronting the sublimity of untamed nature and its picturesque qualities, both new aesthetic categories. It elevated folk art and ancient custom to something noble, made spontaneity a desirable characteristic (as in the musical *impromptu*), and argued for a “natural” epistemology of human activities as conditioned by nature in the form of language and customary usage. Romanticism reached beyond the rational and Classicist ideal models to elevate a revived medievalism and elements of art and narrative perceived to be authentically medieval in an attempt to escape the confines of population growth, urban sprawl, and industrialism, and it also attempted to embrace the exotic, unfamiliar, and distant in modes more authentic than Rococo chinoiserie, harnessing the power of the imagination to envision and to escape.

Although the movement was rooted in the German Sturm und Drang movement, which prized intuition and emotion over Enlightenment rationalism, the ideologies and events of the French Revolution laid the background from which both Romanticism and the Counter-Enlightenment emerged.

The confines of the Industrial Revolution also had their influence on Romanticism, which was in part an escape from modern realities; indeed, in the second half of the 19th century, “Realism” was offered as a polarized opposite to Romanticism. Romanticism elevated the achievements of what it perceived as heroic individualists and artists, whose pioneering examples would elevate society. It also legitimized the individual imagination as a critical authority, which permitted freedom from classical notions of form in art. There was a strong recourse to historical and natural inevitability, a *Zeitgeist*, in the representation of its ideas.

Defining Romanticism

Basic Characteristics

Defining the nature of Romanticism may be approached from the starting point of the primary importance of the free expression of the feelings of the artist. The importance the Romantics placed on untrammelled feeling is summed up in the remark of the German painter Caspar David Friedrich that "the artist's feeling is his law". To William Wordsworth poetry should be "the spontaneous overflow of powerful feelings".

In order to truly express these feelings, the content of the art must come from the imagination of the artist, with as little interference as possible from "artificial" rules dictating what a work should consist of. Coleridge was not alone in believing that there were natural laws governing these matters which the imagination, at least of a good creative artist, would freely and unconsciously follow through artistic inspiration if left alone to do so. As well as rules, the influence of models from other works would impede the creator's own imagination, so originality was absolutely essential. The concept of the genius, or artist who was able to produce his own original work through this process of "creation from nothingness", is key to Romanticism, and to be derivative was the worst sin. This idea is often called "romantic originality."

Not essential to Romanticism, but so widespread as to be normative, was a strong belief and interest in the importance of nature. However this is particularly in the effect of nature upon the artist when he is surrounded by it, preferably alone. In contrast to the usually very social art of the Enlightenment, Romantics were distrustful of the human world, and tended to believe that a close connection with nature was mentally and morally healthy. Romantic art addressed its audiences directly and personally with what was intended to be felt as the personal voice of the artist. So, in literature, "much of romantic poetry invited the reader to identify the protagonists with the poets themselves".

According to Isaiah Berlin, Romanticism embodied "a new and restless spirit, seeking violently to burst through old and cramping forms, a nervous preoccupation with perpetually changing inner states of consciousness, a longing for the unbounded and the indefinable, for perpetual movement and change, an effort to return to the forgotten sources of life, a passionate effort at self-assertion both individual and collective, a search after means of expressing an unappeasable yearning for unattainable goals."

The Term

The group of words with the root "Roman" in the various European languages, such as romance and Romanesque, have a complicated history, but by the middle of the 18th century "romantic" in English and romantique in French were both in common use as adjectives of praise for natural phenomena such as views and sunsets, in a sense close to modern English usage but without the implied sexual element. The application of the term to literature first became common in Germany, where the circle around the Schlegel brothers began to speak of romantische Poesie ("romantic poetry") in the 1790s, contrasting it with "classic" but in terms of spirit rather than merely dating.

Friedrich Schlegel, wrote in his *Dialogue on Poetry* (1800): “I seek and find the romantic among the older moderns, in Shakespeare, in Cervantes, in Italian poetry, in that age of chivalry, love and fable, from which the phenomenon and the word itself are derived”. In both French and German the closeness of the adjective to roman, meaning the fairly new literary form of the novel, had some effect on the sense of the word in those languages. The use of the word did not become general very quickly, and was probably spread more widely in France by its persistent use by Madame de Staël in her *De L’Allemagne* (1813), recounting her travels in Germany.

In England Wordsworth wrote in a preface to his poems of 1815 of the “romantic harp” and “classic lyre”, but in 1820 Byron could still write, perhaps slightly disingenuously, “I perceive that in Germany, as well as in Italy, there is a great struggle about what they call “Classical” and “Romantic”, terms which were not subjects of classification in England, at least when I left it four or five years ago”. It is only from the 1820s that Romanticism certainly knew itself by its name, and in 1824 the Académie française took the wholly ineffective step of issuing a decree condemning it in literature.

The Period

Unsurprisingly, given its rejection on principle of rules, Romanticism is not easily defined, and the period typically called Romantic varies greatly between different countries and different artistic media or areas of thought.

Margaret Drabble described it in literature as taking place “roughly between 1770 and 1848”, and few dates much earlier than 1770 will be found. In English literature, M. H. Abrams placed it between 1789, or 1798, this latter a very typical view, and about 1830, perhaps a little later than some other critics.

In other fields and other countries the period denominated as Romantic can be considerably different; musical Romanticism, for example, is generally regarded as only having ceased as a major artistic force as late as 1910, but in an extreme extension the Four Last Songs of Richard Strauss are described stylistically as “Late Romantic” and were composed in 1946–48.

However in most fields the Romantic Period is said to be over by about 1850, or earlier.

The early period of the Romantic Era was a time of war, with the French Revolution (1789–1799) followed by the Napoleonic Wars until 1815. These wars, along with the political and social turmoil that went along with them, served as the background for Romanticism. The key generation of French Romantics born between 1795–1805 had, in the words of one of their number, Alfred de Vigny, been “conceived between battles, attended school to the rolling of drums”.

Context and Place in History

The more precise characterization and specific definition of Romanticism has been the subject of debate in the fields of intellectual history and literary history throughout the 20th century, without any great measure of consensus emerging.

That it was part of the Counter-Enlightenment, a reaction against the Age of Enlightenment, is generally accepted. Its relationship to the French Revolution

which began in 1789 in the very early stages of the period, is clearly important, but highly variable depending on geography and individual reactions. Most Romantics can be said to be broadly progressive in their views, but a considerable number always had, or developed, a wide range of conservative views, and nationalism was in many countries strongly associated with Romanticism, as discussed in detail below.

In philosophy and the history of ideas, Romanticism was seen by Isaiah Berlin as disrupting for over a century the classic Western traditions of rationality and the very idea of moral absolutes and agreed values, leading “to something like the melting away of the very notion of objective truth”, and hence not only to nationalism, but also fascism and totalitarianism, with a gradual recovery coming only after the catharsis of World War II. For the Romantics, Berlin says,

“in the realm of ethics, politics, aesthetics it was the authenticity and sincerity of the pursuit of inner goals that mattered; this applied equally to individuals and groups — states, nations, movements. This is most evident in the aesthetics of romanticism, where the notion of eternal models, a Platonic vision of ideal beauty, which the artist seeks to convey, however imperfectly, on canvas or in sound, is replaced by a passionate belief in spiritual freedom, individual creativity.

The painter, the poet, the composer do not hold up a mirror to nature, however ideal, but invent; they do not imitate (the doctrine of mimesis), but create not merely the means but the goals that they pursue; these goals represent the self-expression of the artist’s own unique, inner vision, to set aside which in response to the demands of some ‘external’ voice — church, state, public opinion, family friends, arbiters of taste — is an act of betrayal of what alone justifies their existence for those who are in any sense creative”.

Romantic English Literature

In English literature, the group of poets now considered the key figures of the Romantic movement includes William Wordsworth, Samuel Taylor Coleridge, John Keats, Mary Wollstonecraft Shelley, Percy Bysshe Shelley, and the much older William Blake, followed later by the isolated figure of John Clare.

The publication in 1798 of *Lyrical Ballads*, with many of the finest poems by Wordsworth and Coleridge, is often held to mark the start of the movement. The majority of the poems were by Wordsworth, and many dealt with the lives of the poor in his native Lake District, or the poet’s feelings about nature, which were to be more fully developed in his long poem *The Prelude*, never published in his lifetime. The longest poem in the volume was Coleridge’s *The Rime of the Ancient Mariner* which showed the Gothic side of English Romanticism, and the exotic settings that many works featured. In the period when they were writing the Lake Poets were widely regarded as a marginal group of radicals, though they were supported by the critic and writer William Hazlitt and others.

In contrast Lord Byron and Walter Scott achieved enormous fame and influence throughout Europe with works exploiting the violence and drama of their exotic and historical settings; Goethe called Byron “undoubtedly the greatest genius of our century”.

Scott achieved immediate success with his long narrative poem *The Lay of the Last Minstrel* in 1805, followed by the full epic poem *Marmion* in 1808. Both were set in the distant Scottish past. Byron had equal success with the first part of *Childe Harold's Pilgrimage* in 1812, followed by four "Turkish tales", all in the form of long poems, starting with *The Giaour* in 1813, drawing from his Grand Tour which had reached Ottoman Europe, and orientalizing the themes of the Gothic novel in verse.

These featured different variations of the "Byronic hero", and his own life contributed a further version. Scott meanwhile was effectively inventing the historical novel, beginning in 1814 with *Waverley*, set in the 1745 Jacobite Rising, which was an enormous and highly profitable success, followed by over 20 further *Waverley Novels* over the next 17 years, with settings going back to the Crusades that he had researched to a degree that was new in literature.

References

- Altick, Richard Daniel: *The Art of Literary Research*, Norton, New York, 1981.
- Baker, Carlos: *Ernest Hemingway: A Life Story*, Charles Scribner's Sons, New York, 1969.
- Barzun, Jacques: *The Modern Researcher*, Houghton Mifflin Co., Boston, 1992.
- Carey, John: *William Golding: The Man Who Wrote Lord of the Flies*, Simon & Schuster, New York, 2009.
- Cleeve, Brian: *W.B. Yeats and the Designing of Ireland's Coinage*, Dolmen Press, New York, 1972.
- Davis, Robert C.: *The Grapes of Wrath: A Collection of Critical Essays*, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, NJ, 1982.
- Dvorah Telushkin: *Master of Dreams: A Memoir of Isaac Bashevis Singer*, Morrow, New York, 1997.
- Fiedler, Leslie: *Love and Death in the American Novel*, Stein and Day, New York, 1975.
- French, Warren: *John Steinbeck's Fiction Revisited*, Twayne, NY, 1994.
- Gilmour, David: *The Long Recessional: The Imperial Life of Rudyard Kipling*, Farrar, Straus and Giroux, New York, 2003.
- Harmon, William; Holman, C. Hugh: *A Handbook to Literature*, Prentice-Hall, Upper Saddle River, NJ, 1996.
- Stringer, J.: *The Oxford Companion to Twentieth Century Literature in English*, Oxford University Press, Oxford, 1996.
- Winther, Sophus Keith: *Eugene O'Neill: A Critical Study*, Random House, New York, 1934.

Kamala Markandaya's Realistic Portrayals of Indian Life

Dr. Dinesh Prasad

M.A.(Eng.), Ph.D.

Vill- Bhairapur, Post-Doriganj, Distt- Chapra (Saran), Bihar

The Indian English fiction witnessed a drastic change in the nineteen thirties with the appearance of the trio--Mulk Raj Anand, R.K. Narayan and Raja Rao on the literary map of the world. The trio took great pains to give an Indian colour to Indian English fiction by their praise-worthy contributions. The eldest of the trio--M.R. Anand conveys a Punjabi flavour through his narrative skill. He is a champion of underdogs and suppressed class. He takes his heroes from the lower strata of the society. His heart bleeds to see the inhuman and cruel threatment meted out to the sweepers, the labourers, the peasants and the city drudges. They all emerge alive from his novels--anguished and hungry yet human. Thus, Anand's narrative skill realistically presented the heart of India, the real India of the villages to the West in the form that they could easily understand and appreciate. His first novel *Untouchable* (1935) is the typical example of this fact.

But it was R.K. Narayan's narrative skill which realistically presents people whose behaviour and responses to life are shaped by a language different from English, not only different from English, but also clearly different from Punjabi which is the language of Anand's most successful fictitious characters, or Bengali, the medium of speech and expression of characters created by Bhabani Bhattacharya. All the novels of R.K. Narayan are set in the surroundings of an imaginary town named Malgudi. The favourite narrative skill that made him popular is the display of life of the world of the middle-class citizen. His characters and settings are drawn from the urban middle class of South Indian towns. *The Guide* is the finest of his novels and in it we find Narayan at his best. *The Guide* is the story of a man (Raju) who is a one time tourist-guide-turned saint.

Then Raja Rao, the third among the trio is not a prolific writer. In respect of narrative skill, he differs from the rest of the Indian novelists writing in English for various reasons. He comes from South Indian traditional Brahmin family and naturally he is chiefly concerned with religion and philosophy. Apart from M.R. Anand, R.K. Narayan and Raja Rao other Indo-Anglian novelists also came on the literary stage with their narrative skill to make a safe niche in the realm of Indian fiction in English. Among them the names of Bhabani Bhattacharya, Manohar Malgonkar, K.A. Abbass, Khuswant Singh, Humayun Kabir, K. Nagrajan and Balachandra Rajan are significant who achieved recognition as eminent Indo-Anglian novelists. And consequently Indo-Anglian fiction gained a safe and plausible place in the realm of literature of the world as a mature genre.

But this study of the Indo-Anglian novelists of men group should not omit a reference to Indian women novelists writing in English. Though, the men novelists writing in English made notable contribution, fortunately, Indian women too, whether living inside the country or as an expatriate did not lag behind in writing novels in English on Indian theme. The women novelists of Indian origin also shared the experiences and sensibilities of the Indian women in general and their narrative skill transmuted them in fictional form. Some of the prominent women novelists out of this group are Kamala Markandaya, Ruth Prawar Jhabvala and Anita Desai. The narrative skill of the later women novelists forming a third group attempted to give expression to the most recent problems showing remarkable awareness of the challenges of the present day. Feminism, free sex, isolation and alienation are some of the major thematic concern of their narrative skill. The ability to write in English provides a new medium for young Indian women novelists to express their feelings increasing in their heart and mind.

Thus, it is remarkable that Post-Independence India experienced a spurt of fiction writing in English by women. Kamala Markandaya, Nayantara Sahgal, Attia Hossain, Anita Desai and Ruth Prawar Jhabvala are out of some of the important women novelists of Indian origin. But Kamala Markandaya stands apart from all the men and women novelists discussed because of her narrative skill which depicts the rural India in a natural way and occupies a distinct position in the gallery of Indo-Anglian novelists.

Kamala Markandaya is remarkable for her narrative skill which she adopts in her novels. M.R. Anand, R.K. Narayan, Raja Rao and Bhabani Bhattacharya are chiefly influenced by Gandhian thought, so their attitude to life is that of a reformist. Besides, Raja Rao is also concerned with the theme of religion and spiritual state of a man. But Markandaya's concept is deeply rooted in the Indian tradition and so her narrative skill works on a large canvas of experiences of rural life. Her characters of Indian origin follow the suggestion of their own instinct and accept the obligations of life. Her Indian characters, particularly Indian women characters face the tragic stroke of life as a natural man should do in daily life. There is no exaggeration in the delineation of the miserable plight of the Indian characters. Markandaya's narrative skill provides a theme, a vision and an attitude to life of living characters of Indian origin.

Kamala Markandaya started writing her novels when India was at the threshold of newly-won freedom when poverty, hunger and starvation were prevalent everywhere in the country. Industrialization and urbanization were affecting and eroding the very basis of the Indian village- life. Though the themes of hunger, poverty, starvation and degradation had already been dealt with by a number of Indian novelists writing in English. But in Markandaya's novels there is something a different kind of variety and vividness to these themes. She uses the art of writing fiction as a vehicle for communicating her vision of life. Natural to the writer of Post-Independence, Kamala Markandaya's narrative skill presents focus on the changing phase of socio-economic condition of Indian society. The portrayal of rural life in India juxtaposed with that of the life of the Western people finds a significant place in her novels. She values Indian traditions, culture and attitude to life more than those of the West. Besides, she

highlights the mute sufferings of ordinary Indians in general by portraying her Indian characters of lower middle class of society.

In Markandaya's novels the themes of hunger and starvation, East-West conflict rootlessness, politics and human relationship are prominent. A number of Indo-Anglian novelists, for example, M.R. Anand, R.K. Narayan, Raja Rao, Bhabani Bhattacharya and others have also dealt with these themes. But Markandaya's narrative skill depicts the real India in her novels which differs from all these novelists. She lacks the epic dimension of Raja Rao and the much sociological concern of M.R. Anand. In all her novels she ceaselessly strives to present the changing colours of Indian environment. No doubt she has continued the tradition of social novels of M.R. Anand, R.K. Narayan, Bhabani Bhattacharya and others in Indo-Anglian literature and she has rightly been acclaimed as a social realist.

With the intention to mark and differentiate the Indians' responses to life Markandaya's narrative skill has introduced some English characters in her novels. The attitude of the English characters to life provides a contrast to that of the attitude of the Indian characters. Contrast is an artistic device utilised by the artist to state precisely, all that is vague and implicit. Although some of the English characters such as Dr. Kenny in *Nectar in a Sieve*, Helen in *The Coffer Dams*, Mrs. Pickring in *The Nowhere Man* resemble the Indians in respect of their temperament, behaviour and attitude to life. But it is not their racial trait, on the contrary it is their individual trait and it will be wrong to count their individual trait as common to all the English men. The fact is, they are defiant by nature.

Her very first novel, *Nectar in a Sieve* is a touching tragic novel. On the surface the novel is concerned with the theme of hunger and starvation prevalent in the Indian society. But it deals basically with the tragic story of the life of Rukmani, the narrator heroine and her husband, Nathan, a tenant farmer, as comprehended through a female sensibility. It is a realistic narrative of Rukmani's family in particular and the sufferings in the life of the Indian peasants in colonial India in general.

Markandaya has also used the stream of consciousness and flash-back technique in some of her novels. Her method of story telling is straightforward. *Nectar in a Sieve*, *Some Inner Fury* and *Possession*, all are first person narratives written in an autobiographical mode and narrated by three women characters in a nostalgic mood.

But she has changed her narrative technique in her other novels. In *A Silence of Desire*, she has adopted the technique of the third person style. But besides using third person narrative technique Markandaya takes recourse, at times to the flash-back technique and interior monologue with a view to exploring the emotional aspect of some significant characters. In *The Nowhere Man*, Markandaya explores the emotional agony of Srinivas and Vasantha in particular through the techniques of interior monologue and flash-back. Although *Two Virgins* is in third-person narration, Markandaya has used in the novel the technique of reportage which is flat and unsuitable.

The narrative skill of Markandaya very well suits to her idea. She exhibits a superb command over the English language and handles it with remarkable ease and naturalness in the same way as R.K Narayan, Raja Rao, Nayantara Sahgal, Anita Desai and others do. But the narrative skill characterised by chastity and lucidity, economy and precision, shows her felicity and feel for right words is always highly effective.

Markandaya's narrative skill faithfully portrays the inner workings of the minds and hearts of the characters in the novels such as *Nectar in a Sieve*, *Some Inner Fury*, *A Silence of Desire*, *A Handful of Rice*, *The Coffer Dams* and *The Nowhere Man*. But her narrative skill changes in *Two Virgins*. In this novel she has experimented journalistic style, using the indirect method of narration.

Markandaya's novels are not about a particular community or region. A number of novelists in the field of Indian-English fiction wrote about a particular community or region. For example, several of Anand's novels are set in the Punjab for a pastoral background. In the works of Sudhin Gosh, Shri Aurobindo and Rabindranath Tagore, the social and intellectual ferment of Bengal particularly of Calcutta has been depicted. Ahmed Ali, K.A. Abbas and Attia Hossain wrote about the Muslim customs and manners. Then R.K. Narayan, B.Rajan, Santha Rama Rau, Ruth Prawar Jhabvala portray their characters taking from urban middle class. But Markandaya's novels do not depict about a particular area or class. Her narrative skill has taken characters from different walks of Indian social life. There are South Indians, foreigners, poor people, middle class people and even urban lower and middle class people in her novels. Village life, urban life and life in Posh London localities appear in her novels. Another noticeable quality of Markandaya's narrative skill is her use of simple and effective language. In her latest novel, *Pleasure City*, Markandaya's narrative skill appeals for universal brotherhood between the East and the West. Here the novelist, too, betrays her deep rooted faith in the Indian view of life. From the beginning to the end her novels grasp the attention of the readers in general. The narrative skill reveals her tremendous dramatic power. Her first person narrations, though flawed contribute much originality to the Indo-Anglian novel.

References

1. Madhusudan Prasad, *Perspectives on Kamala Markandaya*, Vimal Prakashan, Ghaziabad, 1984.
2. Uma Parameswarn, *A Study of Representative Indo-English Novelists*, Vikash Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi, 1976
3. K.R.S. Iyengar, *Indian Writing in English*, Sterling Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1985.
4. M.K. Naik, *Perspective on Indian Fiction in English*, Abhinav Publications, New Delhi 1985.

Cross-linguistic Contact

Dr. Raj Kumar Singh

Department of English, M.P.S. Science College, Muzaffarpur

Dialect

Linguistic insecurity can be heightened in speech communities in which multiple dialects exist beyond the standard language. Insecure speakers suffer from a negative attitude toward the speech of their dialect group and often feel pressured to mask their dialectal versatility since the norm of communication is to use the standard form. Bidialectal speakers, who speak both the standard and their own dialect, are most vulnerable to this problem because they are more aware of linguistic norms and the contexts to which they must adapt their speech to these norms. For monodialectal speakers, conversations can be difficult or stressful because they are locked into their nonstandard dialect and have a harder time explaining themselves in the standard dialect.

African American Vernacular English

African American Vernacular English (AAVE) is a dialect of American English that is associated with the African American ethnic group. Speakers of AAVE (as well as speakers of other dialects found in the United States) have encountered a variety of sociolinguistic problems in many important institutions since Standard American English (SAE) is the predominant form of English used.

One of these important institutions is school. Concerns about the academic achievement of African American children have motivated researchers to study the role AAVE plays, though there are various explanations for how it might affect achievement. Dialectal differences could lead to inappropriate testing procedures or prejudice of educators (having lowered expectations and assuming the child is inarticulate and hesitant). In this environment, AAVE-speaking students may develop linguistic insecurity, leading to a rejection of the standards as “posh” or reluctance to speak at all to hide their “inability” to use language. AAVE-speaking students have also been shown to hypercorrect in attempts to speak or write in Standard English. Insecurity about what “sounds right” may result in the avoidance of the invariant *be* by deleting it from an instance in which it would be proper to use it (e.g. “They said they were told if they didn’t follow orders they *would courtmarshled* or shot as deserters.”)

Speakers of AAVE may also encounter problems in seeking treatment for mental health problems, where professionals predominantly use Standard American English. Linguistic insecurity can be a cause of miscommunication for AAVE patients. For example, mental health care providers may attribute speaker’s behavior to cognitive or emotional deficits, even to a psychopathological extent. In a study of a psychiatric ward, Bucci and Baxter collected data on the impact of linguistic problems of the patients, which included several monodialectal speakers and bidialectal speakers of AAVE. In

the case of “Jimmy,” his background led his therapist to believe that his “muteness” resulted from emotional or neurophysiological problems. However, Bucci and Baxter found evidence indicating his position as a monodialectal AAVE speaker made him unwilling to speak. His linguistic insecurity in the clinical setting with a norm of SAE made him reluctant to speak, but he was fluent and expressive in his own speech community and with his descriptions of his experiences outside the ward. Moreover, standard therapeutic techniques may have a negative and opposite effect for linguistically insecure patient. In the case of the bidialectal “Arlene,” the patient thought that her speech was an obstacle to communication because her therapist often asked her what she meant. This intervention of eliciting answers was meant to encourage Arlene to speak more freely, but her linguistic insecurity led her to focus her attention on the perceived inadequacy of her language style and she responded by saying less rather than more.

Malinke-Bambara

One example of linguistic insecurity arising from dialectal differences can be found in work done by Canut and Keita (1994). They conducted a study of an area in the Mandingo zone of Mali that exhibited a linguistic continuum between two different forms – Bambara and Malinke. The study included two villages (Bendugu and Sagabari), a middle-sized town (Kita), and the capital of Mali (Bamako). Bamako is on the Bambara extreme of the continuum, Sagabari on the Malinke extreme, and Bendugu and Kita in between. The linguistic features important for understanding the differences between the dialects are mainly phonological.

The area encompassing these four places has relatively high social mobility and those who gain status often move towards Bamako, the capital. The dialects follow this pattern, as those closer to the capital are perceived as more prestigious; the most peripheral form in Sagabari can even prompt mockery of the individual using it. Thus, those speaking a dialect different from Bambara are likely to be affected by linguistic insecurity, particularly those closer to the Malinke end of the continuum.

Since migration is common, there are many examples of young migrants to the area who display linguistic insecurity. Most migrants who speak Malinke try to hide their origins and assimilate to the higher status society by changing the way that they speak. In their attempts to escape their geo-social status, however, they tend to hypercorrect to the point where they create non-existent terms in Bambara. One example of this is replacing every /h/ in Malinke with the /f/ used in Bamako, leading one to say ‘young boy’ /foron/ (which does not exist in Bamako) for ‘noble’ /horon/.

Creole Language

A **creole language**, or simply a **creole**, is a stable natural language developed from the mixing of parent languages; creoles differ from pidgins (which are believed by scholars to be necessary precedents of creoles) in that they have been nativized by children as their primary language, with the result that they have features of natural languages that are normally missing from pidgins.

The vocabulary of a creole language consists of cognates from the parent languages, though there are often clear phonetic and semantic shifts. On the other hand, the grammar often has original features but may differ substantially from those of the parent languages. Most often, the vocabulary comes from the dominant group and the grammar from the subordinate group, where such stratification exists.

Overview

A creole is believed to arise when a pidgin, developed by adults for use as a second language, becomes the native and primary language of their children — a process known as nativization. The pidgin-creole life cycle was studied by Hall in the 1960s.

Creoles share more grammatical similarities with each other than with the languages from which they are phylogenetically derived. However, there is no widely accepted theory that would account for those perceived similarities. Moreover, no grammatical feature has been shown to be specific to creoles.

Many of the creoles known today arose in the last 500 years, as a result of the worldwide expansion in European maritime power and trade in the Age of Discovery, which led to extensive European colonial empires and an intense slave trade. Like most non-official and minority languages, creoles have generally been regarded as degenerate variants or dialects of their parent languages. Because of that prejudice, many of the creoles that arose in the European colonies have become extinct. However, political and academic changes in recent decades have improved the status of creoles, both as living languages and as object of linguistic study. Some creoles have even been granted the status of official or semi-official language.

Linguists now recognize that creole formation is a universal phenomenon, not limited to the European colonial period, and an important aspect of language evolution. For example, in 1933 Sigmund Feist postulated a creole origin for the Germanic languages.

Other scholars, such as Salikoko Mufwene, argue that pidgins and creoles arise independently under different circumstances, and that a pidgin need not always precede a creole nor a creole evolve from a pidgin. Pidgins, according to Mufwene, emerged among trade colonies among “users who preserved their native vernaculars for their day-to-day interactions”. Creoles, meanwhile, developed in settlement colonies in which speakers of a European language, often indentured servants whose language would be far from the standard in the first place, interacted extensively with non-European slaves, absorbing certain words and features from the slaves’ non-European native languages, resulting in a heavily basilectalized version of the original language. These servants and slaves would come to use the creole as an everyday vernacular, rather than merely in situations in which contact with a speaker of the superstrate was necessary.

Origin

The English term *creole* comes from French *créole*, which is cognate with the Spanish term *criollo* and Portuguese *crioulo*, all descending from the verb *criar*

("to breed" or "to raise"), ultimately from Latin *creare* ("to produce, create"). The specific sense of the term was coined in the 16th and 17th century, during the great expansion in European maritime power and trade that led to the establishment of European colonies in other continents.

The terms *criollo* and *crioulo* were originally qualifiers used throughout the Spanish and Portuguese colonies to distinguish the members of an ethnic group that were born and raised locally from those who immigrated as adults. They were most commonly applied to nationals of the colonial power, e.g. to distinguish *españoles criollos* (people born in the colonies from Spanish ancestors) from *españoles peninsulares* (those born in the Iberian Peninsula, i.e. Spain). However in Brazil the term was also used to distinguish between *negros crioulos* (blacks born in Brazil from African slave ancestors) and *negros africanos* (born in Africa). Over time, the term and its derivatives (Creole, Kreyol, Kriol, Krio, etc.) lost the generic meaning and became the proper name of many distinct ethnic groups that developed locally from immigrant communities. Originally, therefore, the term "creole language" meant the speech of any of those creole peoples.

Geographic Distribution

As a consequence of colonial European trade patterns, most of the known European-based creole languages arose in the equatorial belt around the world and in areas with access to the oceans, including the coastal regions of the Americas, western Africa, Goa and along the west coast of India, and along the coast of Southeast Asia up to Indonesia, Macau, the Philippines, Malaysia, Seychelles and Oceania.

Many of those creoles are now extinct, but others still survive in the Caribbean, the north and east coasts of South America (The Guyanas), western Africa, Australia, and in the Indian Ocean.

Atlantic Creole languages are based on European languages with elements from African and possibly Amerind languages. Indian Ocean Creole languages are based on European languages with elements from Malagasy and possibly other Asian languages. There are, however, creoles like Nubi and Sango that are derived solely from non-European languages.

Social and Political Status

Because of the generally low status of the Creole peoples in the eyes of prior European colonial powers, creole languages have generally been regarded as "degenerate" languages, or at best as rudimentary "dialects" of the politically dominant parent languages. Because of this prejudice, the word "creole" was generally used by linguists in opposition to "language", rather than as a qualifier for it. This prejudice was compounded by the inherent instability of the colonial system, leading to the disappearance of creole languages, mainly due to dispersion or assimilation of their speech communities.

Another factor that may have contributed to the relative neglect of creole languages in linguistics is that they do not fit the 19th century neogrammarian "tree model" for the evolution of languages, and its postulated regularity of

sound changes (such as the earliest advocates of the wave model, Johannes Schmidt and Hugo Schuchardt, the forerunners of modern sociolinguistics). This controversy of the late 19th century profoundly shaped modern approaches to the comparative method in historical linguistics and in creolistics.

Because of social, political, and academic changes brought on by decolonization in the second half of the 20th century, creole languages have experienced revivals in the past few decades. They are increasingly being used in print and film, and in many cases, their community prestige has improved dramatically. In fact, some have been standardized, and are used in local schools and universities around the world. At the same time, linguists have begun to come to the realization that creole languages are in no way inferior to other languages. They now use the term “creole” or “creole language” for any language suspected to have undergone creolization, terms that now imply no geographic restrictions nor ethnic prejudices.

References

- Arndt, William B. Jr. : *Theories of Personality*, Macmillan, New York, 1974.
- Baker, P., Hardie, A., & McEnery, T.: *A Glossary of Corpus Linguistics*. Edinburgh University Press, 2006.
- Barzun, Jacques: *The Modern Researcher in English Language*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1992.
- Combs, Arthur : *Individual Behaviour*, A Perceptual Approach to Behaviour, Harpers, 1959..
- Dickinson, A. T.: *Dickinson's American historical fiction*, Metuchen, NJ: Scarecrow Press, 1981.
- Dirven, René and Verspoor, Marjolijn. : *Cognitive Exploration of Language and Linguistics*. Amsterdam: Benjamins, 1998.
- Eddleman, Floyd Eugene: *American drama criticism ; interpretations, 1890-1977*, Hamden, CT: Shoestring Press, 1979.
- Foucault, Michel: *The Archaeology of Knowledge*, Pantheon, New York, 1972.
- Lüdeling, A., & Kytö, M. : *Corpus Linguistics. An International Handbook*, Berlin - New York: Mouton de Gruyter, 2008.
- McEnery, T.: *The Oxford Handbook of Computational Linguistics*. Oxford: Oxford University Press, 2003.
- Michel, F.: *The Order of Things: An Archaeology of the Human Sciences*. New York: Vintage, 1973.
- O'Keeffe, A., & McCarthy, M.: *The Routledge Handbook of Corpus Linguistics*. Oxford: Routledge, 2010.

The Cultural Landscape

Kumari Shweta Sinha

M.A., Patna University, Patna (Teni Bigha, Jahanabad)

Emergence of Man and Races of Mankind

Among the most fundamental differences which distinguish societies from one another are those which are connected with man's physical nature: the basic division of mankind is into races. It will be argued later that the real significance even of race is social, but for the moment it is necessary to begin our classification of mankind along these purely anthropological lines.

What is race? The word is much maligned. It has been so wrongly used in recent history that it is difficult to divest it of distasteful associations. But it must be retrieved so that it can be used in its proper scientific sense. A constant difficulty is the lay habit of using the word loosely and lazily for so many different concepts. People will talk of the human race, meaning mankind as a whole: of the Jewish race when they mean the Jewish people of religion: of Latin races when they mean people with a common group of languages.

A race is a major division of mankind and is defined solely by physical characteristics. It is the final subdivision in the animal world of a series of biological classes beginning with the orders Primates. There are three suborders in the Primates, one of which is the Anthropoidea. This suborder is further divided into two divisions; one of these gave rise to the South American monkeys, the other gave rise in Africa and Asia to several families. One of these, Simeidi, included the Gibbon, Orang, Gorilla and Chimpanzee; another, Hominidae, as the name suggests, was human-like. This family had a unique combination of five characteristics which ensured the evolution of man:

- (i) erect posture;
- (ii) free-moving arms and hands;
- (iii) sharp focussing of the eyes;
- (iv) a superior brain; and
- (v) powers of speech.

Many kinds of man emerged from this family, some of them possibly over-specialised in one way or another and subsequently dying out. These are known for their fossil remains, and among them are Java man (*Pithecanthropus erectus*), Peking man (*Sinanthropus pekinensis*), and South African ape-man (*Australopithecus*). Some of these were similar enough to modern man to belong to the same genus, *Homo*; such was Neanderthal man (*Homo neanderthaliensis*), Rhodesian man (*Homo Rhodesiensis*), and many others. It is possible that it was the least specialised of all which eventually gave rise to the species *Homo sapiens*, and recent discoveries in Kenya suggest a very long history indeed to this species.

This long lineage emphasises that man is an animal and belongs to a classified system which is common to all animals. Homo sapiens is merely one class among many, a subdivision of larger classes, linked to others in an evolutionary sequence. Race, scientifically speaking, is nothing more than one further subdivision, and the classification of races must rest solely on the same scientific basis as the remainder of the biological system. The criteria on which the classification of race is based must be (i) visible features; (ii) measurable; and (iii) inherited from a common ancestor: furthermore the anthropologist looks for the characteristics of a group, averaging the innumerable variations of individual people. An American anthropologist has defined race in this way: 'A race is a great subdivision of mankind, members of which, though varying individually, are characterised as a group by a certain combination of measurable features which have been derived from a common ancestor.'

What are the features which the anthropologist measures in order to make his classification? The important ones include skin colour, stature, shape of head, face, nose, eye and type of hair.

1. *Skin colour.* We speak glibly of white, black and yellow races, and this is indeed a primary division of mankind. But it is also an over-simplification. Skin colour depends on a number of variables, such as the amount of pigment (melanin) in the skin, the depth of the blood capillaries under the skin, and the thickness of the epidermis and the cuticle. Some pigment is almost always present (exceptional individuals who lack any pigment are called albino); but if the quantity is very small and the blood vessels can be seen underneath, then a pinkish white colour results. Sunbathing may intensify the melanin and bring it nearer the surface, giving a tanned appearance to so-called white people, but this is temporary. Little melanin and deep-seated blood vessels allows the parchment colour of the epidermis itself to be dominant, as among the so-called yellow races. Heavy pigmentation gives dark shades of brown.
2. *Stature is easily measured and classified into short, medium and tall.* With exceptions the male range is between about 130 cm/4 ft 3 in. and 200 cm/6 ft 7 in, the female range from 120 cm/4 ft 0 in to 187 cm/6 ft 2 in. Within limits food or the lack of food can effect stature, but it is nevertheless an inherited quality.
3. *The shape of the head, expressed as an index of breadth over length $\times 100$ (the cephalic index), is a standard criterion.* Under 78.5 is considered a long head (dolichocephalic). 78.6 to 82.5 is medium (mesocephalic), more than 82.5 is broad (brachycephalic).
4. *The shape of face gives a variety of features.* It can be long or broad, the chin jutting out (prognathous) or receding (orthognathous).
5. *The shape of the nose.* An index of the ratio of nose width at the nostrils to its length $\times 100$ enables us to differentiate between long narrow noses (less than 70), medium nose (70-84) and short flat noses (over 84). Coupled with the long nose is the existence of a distinct bridge, whereas the broad nose is often depressed. Variations in shape are very considerable.

6. *The eye.* Eye colour can be classified in the same way as skin colour. But even more significant is the shape of the eye, for in this respect Mongoloids differ from other races. The upper fold of the Mongoloid eye droops over to give the impression of a slit-like opening. This is the epicanthic fold, and when it is more emphasised at the inner corner of the eye it tends to give the impression of an outward and upward slant, often accentuated because of the comparative absence of browridges and eyebrows in Mongoloids.
- (7) *Hair.* Although there is a multitude of hair forms they can be conveniently grouped into three classes:
 - (a) straight hair, long and lank and rigid, and round in cross section;
 - (b) wavy hair; and
 - (c) kinky or woolly hair, much flatter in cross-section, and emerging from its follicle in a spiral, and in extreme cases forming hard tufts.

Colour, again depending on the amount of melanin in the hair, sometimes mixed with a red pigment, varies from ash blond (no melanin) and strawberry blond (much red pigment), to black (great amount of melanin).

These are some of the main features which are measured by the anthropologist. Even on these characteristics the number of possible variations must seem, at first glance, to be infinite. If one feature alone were used, then we would have very few faces; for instance skin colour would give three groups: Caucasoid (white), Mongoloid (yellow) and Negroid (black). But within any one of these, say Negroid, stature can vary from short to tall, and within either of these, head form can vary. Theoretically the number of combinations is immense. But in fact the number is cut down by the linkage of many of these characteristics, a linkage which suggests a common origin, and which is the only justification for attempting a classification at all. Woolly hair and black hair-colour go together, as do black skin and a broad nose: fair hair is usually wavy and goes with fair skin; and so on. It is the combination of measurable features which enables us to sort out a seeming mass of heterogeneous human beings into the divisions we call races: and these are always generalised for a group. Individual peculiarities must be forgotten—as indeed they are when we are viewing racial groups other than our own. To the European all Chinese look alike, because only the marked differences between European and Chinese are noticed.

The table which appears on the following page gives the main characteristics of the three great racial groups.

The three groups are known as primary races, but there are people who show mixtures of these basic characteristics which suggest that at some time after the establishment of the fundamental differences groups mixed and produced permanent strains with characteristics from two of the primary races. These are sometimes known as composite races. The Australian aborigines have a predominantly white base, of archaic type, mixed with Negroid: central Pacific peoples are mainly Mongoloid with mixture of Caucasoid, but the Papuan-Melanesian peoples are basically Negroid.

The Bushmen Hottentot are basically Negroid too, but mixed with very early Homo strains. Having disposed of this very broad outline of racial classes a geographer turns naturally to their distribution.

References

- Allen, John C. and Dillman, Don: *Against All Odds: Rural Community in the Information Age*, Boulder: Westview Press, 1994.
- Berry, J.K.: *Beyond Mapping, Concepts, Algorithms and Issues in GIS*, Fort Collins, CO: GIS World Books, 1993.
- Clark, Michael J.: *Horizons in Physical Geography*. Basingstoke and London: Macmillan Education, 1987.
- Damon, William: *Social and Personality Development, Infancy through Adolescence*, New York: Norton, 1983.
- Elangovan K.: *GIS, Fundamentals, Applications and Population Geography*, New India Publishing Agency, New Delhi 2006.
- Gurukul, Rajan: *The Formation of Caste Society in Kerala*, Rawat Publications, New Delhi, 1994.
- Haggett, Peter: *Geography: A Modern Synthesis*. New York: Harper and Row, 1975.
- Jackson, Peter: *Maps of Meaning: An Introduction to Cultural Geography*. London and Boston: Unwin Hyman, 1989.
- Prajapati, R.V.: *A Hand Book of Geography : Realms, Regions and Concepts*, Cyber Tech Pub, Delhi, 2010.
- Quaino, Massimo: *Geography and Marxism*. Translated by Alan Braley. Totowa, N.J.: Barnes and Noble, 1982.
- Ray Allen: *The Far Western Frontier, 1830-1860*. The New American Nation Series. New York: Harper, 1956.

Changing Distribution of World Population

Shashi Kumar

Research Scholar, V.K.S.U., Ara

Population growth will be concentrated in certain regions; elsewhere, human numbers will stabilize or even decline. Within countries, populations will continue to shift from rural to urban areas, while becoming increasingly older and better educated. Migration between countries will be an increasingly important factor in international relations and the composition of national populations.

Regional Distribution Changing

As the global population has doubled over the past 40 years, the shifts in geographical distribution of that population have been equally remarkable. In 1960, 2.1 billion of the world's 3 billion people lived in less-developed regions (70 percent of the global population). By late 1999, the less-developed regions had grown to 4.8 billion (80 percent); 98 percent of the projected growth of the world population by 2025 will occur in these regions.

Africa, with an average fertility rate exceeding five children per woman during the entire period, has grown the fastest among regions. There are almost three times as many Africans alive today (767 million) as there were in 1960. Asia, by far the most populous region, has more than doubled in size (to over 3.6 billion), as has Latin America and the Caribbean. In contrast, the population of Northern America has grown by only 50 percent, and Europe's has increased by only 20 percent and is now roughly stable.

Africa's share of global population is projected to rise to 20 percent in 2050 (from only 9 percent in 1960), while Europe's share is projected to decline from 20 to 7 percent over that same period. In 1960 Africa had less than half the population of Europe; in 2050 it may be approaching three times as many people.

The altered balance of population distribution among regions does not in itself pose a problem, so long as development progresses everywhere and population growth is balanced by the development of social and economic capacity. The challenge remains to create conditions that will enable countries in all regions to adopt policies and strategies that foster equitable development.

Global Trend Towards Urbanization

The movement of people towards cities has accelerated in the past 40 years, particularly in the less-developed regions, and the share of the global population living in urban areas has increased from one third in 1960 to 47 percent (2.8 billion people) in 1999. The world's urban population is now growing by 60 million persons per year, about three times the increase in the rural population. Increasing urbanization results about equally from births in urban areas and from the continued movement of people from the rural surround. These forces

are also feeding the sprawl of urban areas as formerly rural peri-urban settlements become incorporated into nearby cities and as secondary cities, linked by commerce to larger urban centres, grow larger. The proportion of people in developing countries who live in cities has almost doubled since 1960 (from less than 22 percent to more than 40 percent), while in more-developed regions the urban share has grown from 61 percent to 76 percent. There is a significant association between this population movement from rural to urban areas and declines in average family size.

Asia and Africa remain the least urbanized of the developing regions (less than 38 percent each). Latin America and the Caribbean is more than 75 percent urban, a level almost equal to those in Europe, Northern America and Japan (all are between 75 and 79 percent).

Urbanization is projected to continue well into the next century. By 2030, it is expected that nearly 5 billion (61 percent) of the world's 8.1 billion people will live in cities. The less developed regions will be more than 57 percent urban. Latin America and the Caribbean will actually have a greater percentage of inhabitants living in cities than Europe will.

Cities and towns have become the engines of social change in all regions. Their rapid growth presents opportunities for future development but also serious challenges. Urban population growth has outpaced the development of employment, housing, services and the rest of the social and physical infrastructure. Poverty persists in urban and peri-urban areas, suggesting a failure of policies to ensure an equitable distribution of the fruits of development. Numbers of poor women, in particular, have increased, both in urban areas (where work opportunities remain limited) and in rural areas (where women are increasing being left behind by husbands or children seeking urban opportunities).

As people have moved towards and into cities, information has flowed outward. Better communication and transportation now link urban and rural areas both economically and socially. The result is that the ecological and sociological "footprint" of cities has spread over ever-wider areas, creating an urban-rural continuum of communities that share some aspects of each lifestyle. Fewer and fewer places on the planet are unaffected by the dynamics of cities.

The spread of mass media has also blurred the rural-urban divide. New ideas, points of reference, and life possibilities are becoming more widely recognized, appreciated and sought. This phenomenon has affected health care, including reproductive health, in many ways. For instance, radio and television programmes that discuss gender equity, family size preference and family planning options are now reaching formerly isolated rural populations. This can create demand for services, higher contraceptive use, and fewer unwanted pregnancies.

Globally, the number of cities with 10 million or more inhabitants is increasing rapidly, and most of these new "megacities" are in the less-developed regions. In 1960, only New York and Tokyo had more than 10 million people. By 1999, the number of 17, 13 in less-developed regions. It is projected that there will be 26 megacities by 2015, 22 in less-developed regions (18 will be in

Asia); more than 10 percent of the world's population will live in these cities, up from just 1.7 percent in megacities in 1950.

Components of Population Change

Patterns of distribution and density represent only a starting point in the geographical study of population. The dynamic aspects of the study, the changes in distribution patterns and the interaction of the demographic processes of births, deaths and migration, also form an important field of geographical study. A discussion of these processes, referred to collectively as the components of population change, forms the subject of the present chapter.

Fertility

The term fertility refers to the occurrence of live births among a defined population. In most parts of the world fertility exceeds both mortality and migration, and is thus the main determinant of population growth. At the same time, fertility is more difficult to analyse than mortality and is subject to greater short-term fluctuations. Whereas mortality is inevitable and involuntary, fertility can be controlled and is determined by a wide range of social, economic and political influences as well as physiological and psychological factors.

Various indices are employed to express fertility. The simplest, but in many ways the least satisfactory, is crude birth rate. This is simply the ratio between number of births (usually in one year) and total population (usually a mid-year estimate for the year in question). Thus the crude birth rate for the UK in 1986 was

$$\frac{755,000(\text{total number of births})}{56,763,000(\text{1986 mid-year estimate of population})} \times 1,000 = 13.3\%.$$

Crude birth rate has the advantage of being easy to calculate and involves data that are generally readily available, if not always highly accurate. However, it fails to take into account the age and sex composition of the population, and this reduces its value for purposes of comparison. To overcome this deficiency other measures have been devised.

A standardised birth rate involves the calculation of what the birth rate for a region would have been if its age composition had been the same as that of the country as a whole. The computation is tedious but produces a rate which is directly comparable with that of other regions since variations in the number of births resulting from differences in age structure have been eliminated. Another useful index is the general fertility rate, which also avoids some of the deficiencies of the crude birth rate by changing the denominator from total population to the number of women in the reproductive age group, usually defined as 15-45 or 15-49.

The World Pattern of Fertility

In 1985 crude birth rate for various nations of the world ranged from 9.6% (West Germany) to 55.1% (Kenya). The highest levels of fertility, with crude birth rates in excess of America, of 40%, are experienced in most parts of Latin Africa, the Indian subcontinent and South-East Asia. Very few of the developing countries have achieved any success in making the transition from high to low

fertility. On the other hand, relatively low fertility, with crude birth rates of less than 20%, is typical of the developed countries of Europe, North America, Oceania, USSR and Japan. These facts have led certain writers to suggest that a decline in fertility is an inevitable corollary of economic and social advancement.

Among those countries experiencing low fertility, the reduction of former high birth rates has generally been achieved since the late nineteenth century. An interesting exception is Japan, which more than halved its birth rate in 15 years from 35% in 1947 to 17% in 1962.

Detailed study of the population in those regions which have reduced their crude birth rate figures shows that the apparent decline in fertility is in fact a real one, and not simply a reflection of changes in population structure such as a reduction in the number of women of child-bearing age. Furthermore, although there is not complete unanimity on the point, there is nevertheless general agreement that there has been no recent reduction in the fecundity of populations in the world's economically advanced nations. In other words, we are not considering an involuntary decline in fertility but rather a situation in which a voluntary or controlled birth rate may be said to exist.

References

- Beteille, Andre.: *The Backward Classes and the New Social Order*, Oxford University Press, Delhi, 1981.
- Bose, N. K.: *The Scheduled Castes and Tribes and Their Present Conditions*, Calcutta, University of Calcutta, 1969.
- Chaklader, Snehamoy: *Sociolinguistics: A Guide to Language Problems in India*, New Delhi, Mittal, 1990.
- Kidokoro, Tetsuo: *Development Control Systems for Housing Development in Southeast Asian Cities*, Regional Development Dialogue, UNCRD, Nagoya, Japan, 1992.
- Lung, Y., and van Tulder, R.: *Cars, Carriers of Regionalism*, Palgrave Macmillan, New York, 2004.
- McDonnell, R.A. : *Principles of Geographical Information Systems*, Oxford University Press, Oxford, 1998.
- Michael, H.: *City Form and Natural Process: Towards a New Urban Vernacular*. London: Croom Helm, 1984.
- Robert Fisher and Peter Romanofsky: *Community Organizing for Urban Social Change, A Historical Perspective*, Greenwood Press, Delhi, 1981.
- Stephen, D.: *Fields of Vision: Landscape Imagery and National Identity in England and the United States*. Cambridge: Polity, 1993.
- Tulder, R.: *Cars, Carriers of Regionalism*, Palgrave Macmillan, New York, 2004.
- Victor, A.: *Geography of Art and Culture*, Contributions to Economic Analysis, Elsevier, 2004.

Poverty and Slums in India – Impact of Changing Economic Landscape

Mukesh Kumar

Research Scholar, V.K.S.U., Ara

Western media headlines as usual are as follows – twenty five percent of Indians live on less than a dollar a day and seventy percent live on less than two dollars a day. The forgoing was the headline of May 9, 2005 in a major international newspaper. Others headlines are not any less mischievous.

These are all meaningless analysis. It does not reflect that same amount of money has differing values in different places. A more acceptable and bit accurate description of incomes in countries is Purchase Power Parity (PPP), which is, pricing identical products and services as needed by the local population in different countries, thus establishing a new and a more equitable exchange rate. The foregoing is applicable mostly to tradable goods.

The PPP will put India's GDP at \$3.7 Trillion. This will raise daily monies of twenty five percent of Indians at the lowest rung of the society to seven dollars. The latter is still low but is much higher than the Western media would like to project. The forgoing is not the point; the point is that poverty is a major shame in India's otherwise decent, scientifically advanced, peace loving and at times turbulent image. Poverty creates slums and slums breed hopelessness and crime. Hence it needs to be tackled as an integral part of economic development.

The key question that arises-will the current hype in economical development in India alter the landscape for the very poor?

The answer is that, not much will change in next 20 to 25 years. The real impact will be felt later than twenty-five years. That is when 8% growth trajectory will take the PPP daily income of the very poor in India from seven dollars to forty dollars. By then, a \$20 Trillion GDP economy (PPP basis) and \$600 billion in exports (year 2001 basis) will add one hundred and fifty million jobs, of which forty to fifty million will go to the very poor segment of the society. This general prosperity will not only put food on the table but will add to better living, better housings etc. In the intervening period of 25 years, rising income levels will definitely add to the exodus from the slums to planned living areas. The forgoing also requires massive governmental effort to house people properly.

Let us examine this issue of poverty and slums in Indian cities and its relationship to the betterment of economic conditions of the masses, a bit further?

What Causes Slums in the Cities in the First Place?

It is vicious cycle of population growth, opportunities in the cities (leading to migration to the cities), poverty with low incomes, tendency to be closer to work hence occupying any land in the vicinity etc. The key reason out of all is

the slow economic progress. After independence in 1947, commercial and industrial activity needed cheap labour in the cities. Plentiful was available in the rural area.

They were encouraged to come to cities and work. People, who migrated to the cities and found work, brought their cousins and rest of the families to the cities. Unable to find housing and afford it, they decided to build their shelter closer to work. First, one shelter was built, then two and then two thousand and then ten thousand and on and on. Conniving governments provided electricity and drinking water. Politicians looked at the slums as vote bank. They organized these unauthorized dwellers into a political force; hence slums took a bit of a permanent shape. More slums developed as more population moved to the cities. By mid sixties Mumbai, Kolkata, Delhi, and all other large cities were dotted with slums.

Very poor people live in slums. They are not the only one dwelling there. Fairly well to do people also reside there. They are either offspring of the slum dwellers that found education and an occupation. They have prospered but are unable to find affordable housing, hence have continued to stay in the shantytowns. Others are avoiding paying rent and property taxes. The latter is more often the case. It is not unusual that in the dirtiest of slums, where misery prevails that TV sets, refrigerators and radios are also blaring music. This is quite a contrast from the image which one gets in the media or from the opportunist politicians.

India's capital of Delhi has a million and a half out of fourteen million living in slums. Mumbai is worst with greater percentage living in slums. Other big urban centres have done no better. Newly built cities like Chandigarh and surrounding towns where shantytowns could have been avoided altogether have now slums. The forgoing is India's shame despite huge progress.

How will the Growing Economy Impact Poverty and the Slum Dwellers?

As stated above, 8% growth rate of Indian economy will push per capita GDP to \$2,000 level in about twenty to twenty-five years (PPP per capita GDP will be much higher). The forgoing presupposes that the population does not explode in the near future but continue a healthy 1.5 to 2% growth. That is where the magic equilibrium of prosperity and desire to live a better life begins. These two together could end poverty and slums. With availability of affordable housing and jobs, slum dwelling is the last thought on people's mind.

On the other hand if the above does not happen then slums dwellers will triple in 25 years and so will the poverty. Delhi will have four and a half million-slum dwellers. Kolkata and Mumbai will have even bigger numbers. India's shame will have no end. To avoid that, India's economy has to remain at a high state of growth. Jobs created by the economic growth, hence higher incomes are key criteria for poverty reduction and slum elimination.

The foregoing together with the current urban renewal in progress in the urban areas today will give cities in India a new look. Higher incomes will create a demand for in-expensive housing, which will have to be met with

innovative use of land and building techniques. Government provided housing would be a great failure as it has been elsewhere in the world. Instead sufficient cash has to be placed in the people's hands together with in-expensive land that people's housing program become efficient and affordable. In addition slum living has to be made unattractive with land taxes and denial of social services. Slum colonies, which opt out of current hopelessness, should get a better deal in housing which replaces the slums. This followed with rapidly growing rural economy will kill migration. That will also reduce pressure on housing.

No single policy has ever brought an end to poverty and slums. It is a concerted effort and better policies, which will end it. No country in the world has ever been able to end poverty and slums completely. That includes the richest nation of the world – USA. The point is that if economy progresses and special effort is made to uplift the poor, poverty and slums will be overtaken by better economic conditions of the people.

How did US Tackle its Slums?

US had its share of poverty and slums in around the immigrant dominated cities. New York and Boston had great amount of poverty and slums at the turn of the twentieth century. These slums worsened further with the arrival of newly liberated African-American population from Deep South. The era pictures give a glimpse of everyday life and it is not pretty. People without jobs and with no prospects crowded cities in the North. A new word, Ghetto was coined, which described these places.

Immigrant from different background or race crowded together and gave rise to Ghettos. At that time US did not have control over its economy and Civil War debt and additional monies borrowed to rehabilitate agriculture and commerce after the Civil War was unpaid. As twentieth century progressed a concerted effort was made to clean up the Ghettos and push people inland with free grant of land and promise of prosperity. Industrial Revolution, which was slow in reaching America from Europe, finally arrived. And it made the difference. It provided the much-needed jobs to the immigrants and colored. Also, free land in the West gave rise to food self-sufficiency and paying off of all Civil War and post Civil War debts. First World War gave US economy a boost and America joined the select group of countries of Europe in prosperity. Poverty by the end of the Second World War was a thing of the past. In just fifty years, i.e. by 1950, US were nation of 160 million souls, all prosperous and all well employed (forget the habitual lazy). That does not mean that all the Ghettos disappeared. They continued to exist. They exist today, but on a much lower scale. These are not eyesores.

One critical factor which eliminated slums and poverty in US was quadrupling of the US economy from 1900 to 1940. A free wheeling economy created industrial giants and a super rich class. Need for war material during the WWII resulted in creation of huge industrial infrastructure and innovation. Post war reconstruction in Europe added greater impetus to the economy. General well being of the people living in the poorer section of the cities dramatically improved. US raced ahead of Europe and are still ahead, 60 years after the WWII. In most cities, ghettos disappeared or shrunk. Urban renewal

and building boom in last sixty years has completely changed the landscape of the country. There is a parallel here. Poverty and slums in India are at the same level as they were in beginning of the twentieth century in America. Economic growth over fifty years eliminated them. It is possible in India too if the economy sustains the 8% growth trajectory.

Slums and the Great Briton

Great Briton was a great big slum before they became a colonial power in the nineteenth century. For eight hundred years prior, until 1800s, Great Briton was an agrarian society, where the lord lived happily in his Manor and Castles and the masses lived in a great squalor. Slums were everywhere. London had the biggest slums. Colonization brought prosperity and prosperity brought in a huge effort to improve the lot of the people and clean up of the cities. That is when the unemployed and slum dwellers were pushed to newly developing industrial hubs of Sheffield, Birmingham, Liverpool and Manchester. Compared to that Delhi, Kolkata were heavens. First slums in Kolkata appeared in 1850-70 as a result of systematic destruction of textile industry in Bengal and destruction of trading infrastructure in and around Kolkata. Slums elsewhere followed.

It took all the Victorian age from 1825 to 1900 to vanish poverty and slums in England. Their GDP multiplied 8 times over this period. British factories produced goods and services which were sold at profit in the colonies. Work for everybody in England was the cornerstone of building well-serviced cities. The point is that reduction of poverty and slums follow closely with economic development. Faster the economic development, sooner will the poverty vanish and with it, the slums.

How did China Handle its Poverty and Slums?

Chinese had a unique way of making slums disappear from its urban centres. Permit system to live in a city or in a particular neighbourhood was introduced just after the Communist took control in 1949. That means that a migration of rural population to the urban areas in search of jobs was arrested. In addition the war ravaged eastern provinces where rural population had moved to the cities and into the slums, were emptied out. Nobody questioned Mao Tse Tung's wisdom; hence he had a free hand. People were permitted to return to their homes in the cities only after proof of their residency had been established. Outsiders were sent back to their own homes and land in the rural area. Future residency in the cities was permitted on a permit basis only.

Hence the major problem of unplanned urban squatting was prevented. Even today the foregoing policy continues. The FDI built cities of Guangdong province carry on with the permit system established in 1949. In order to move there, a person has to have a job and place to reside. The latter could be a factory provided bunk bed. This prevents urban squatters. The above is no comparison to how poverty was vanished in UK, US and elsewhere. Major economic progress in last 20 years has re-invigorated the cities with investment and reconstruction. Whether the same is true in the China's rural areas is a debatable issue. China likes to pretend that poverty has been removed. Published reports state otherwise.

Urban Renewal in India

Urban renewal is in progress in India in a big way for the last 50 years. The British starved cities in India of the funds for two hundred years. They only built regal palaces for themselves in Delhi, Shimla and Kolkata. No new funds were made available to the people to renew and rebuild, hence Moghul Delhi presented a decaying and a rundown look, when they finally left India in 1947. The problem got compounded with migration of people from rural areas. Expanding industry and commerce needed them hence migration was encouraged. Thus urban slums and squatting began in a big way. Today, some estimates place 10 to 15% of Delhi population as slum dwellers. Slums in Kolkata predate Delhi slums. So do the Mumbai slums. They all began the same way – people's livelihood was destroyed or they were invited to work in factories without adequate housing. The problem grew acute with huge population growth after 1950. From 1950 to today, cities lacked funds to renew themselves and help build additional housing. People lacked adequate jobs hence are caught in the poverty cycle.

Only recently a huge building and construction boom has started in all cities in India. Whereas governments are concentrating on building infrastructure and industrial base, private construction is building work places, shopping districts and housing for the middle class. The poor and slum dwellers are not there in any building equation. Cheap housing projects are lowest in the category. Hence slum dwelling has become a way of life.

References

- Bose, N. K.: *The Scheduled Castes and Tribes and Their Present Conditions*, Calcutta, University of Calcutta, 1969.
- Chaklader, Snehamoy: *Sociolinguistics: A Guide to Language Problems in India*, New Delhi, Mittal, 1990.
- Damon, William: *Social and Personality Development, Infancy through Adolescence*, New York: Norton, 1983.
- Gurukul, Rajan: *The Formation of Caste Society in Kerala*, Rawat Publications, New Delhi, 1994.
- Haggett, Peter: *Geography: A Modern Synthesis*. New York: Harper and Row, 1975.
- Jackson, Peter: *Maps of Meaning: An Introduction to Cultural Geography*. London and Boston: Unwin Hyman, 1989.
- Ray Allen: *The Far Western Frontier, 1830-1860*. The New American Nation Series. New York: Harper, 1956.
- Stephen, D.: *Fields of Vision: Landscape Imagery and National Identity in England and the United States*. Cambridge: Polity, 1993.
- Tulder, R.: *Cars, Carriers of Regionalism*, Palgrave Macmillan, New York, 2004.
- Victor, A.: *Geography of Art and Culture*, Contributions to Economic Analysis, Elsevier, 2004.
- Worboys, Michael, and Matt Duckham.: *GIS, a Computing Perspective*, Boca Raton, CRC Press, 2004.

Remote Sensing and GIS Integration

Alka Aparna

*Department of Geography,
B.R.A.Bihar University, Muzaffarpur*

Remote sensing is the Science and Art of obtaining information about an object, area, or phenomenon through the analysis of data acquired by a device that is not in contact with the object, area, or phenomenon under investigation. The term remote sensing was coined by geographers in the office of naval research of United States in the 1960. The success of any GIS application depends on the quality of the geographic data used.

Remote sensing data can be analog or digital in the form of small or large in scale. Except of data collection method remote sensing includes data analysis which is the method and process of extracting meaningful spatial information from the remote sensing data for direct input to the GIS.

Remote Sensing Process Comprises Seven Elements-

1. Energy source or illumination.
2. Radiation and the atmosphere.
3. Interaction with the target.
4. Recording of energy by the sensors.
5. Transmission, reception and processing.
6. Interpretation and analysis.
7. Application.

Electromagnetic energy, in the form of electromagnetic waves, is emitted or reflected by objects at the speed of light through the vacuum of space from the sun to the earth. Two different models of electromagnetic radiation- wave model and particle model.

An electromagnetic wave is composed OPF electric and magnetic vectors that are orthogonal to one another and travel from the source at the speed of light. It is shown in below as a diagram.

On the other side particle model of electromagnetic energy is transferred in discrete packets called photons or quanta. The relationship between the frequency of radiation and the quantum is $q=hv$ where q is the energy of a quantum measured in joules, h is the Planck constant and v is the frequency of the radiation.

All forms of remotely sensed images are nonselective in nature and cannot be directly integrated into a GIS database. An interpretative process is necessary before useful thematic information. This information is descriptive in nature and uses the nominal scale of measurement. Throughout the GIS and remote sensing the term "photography" is used to refer to the picture acquired by a

conventional camera while “imagery” refers to non photographic pictures acquired by electronic detectors operating in the visible portion of the electromagnetic spectrum and is digital in form.

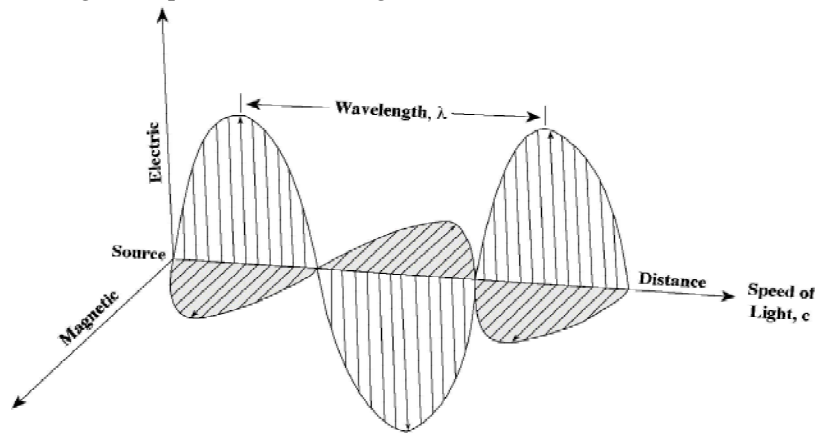


Figure: Wave Model of EM Energy

Principles of Photographic Interpretation

Photographic interpretation is defined by the American society for photogrammetry and remote sensing . It can be divided into 5 stages including detection, identification, analysis and deduction, classification, and theorization-verification or falsification of hypotheses.

Image interpretation = relating image to reality.

- Visual:* 1. Visual image interpretation on a hardcopy image/ photography.
2. Visual image interpretation on a digital image.

Digital Image Processing- it includes shape, size, texture, association, colour, tone and shadow.

Shape: Shape refers to the general form or outline of individual objects. Straight edges shapes typically represent urban or agriculture targets while natural features, such as forest edge, are generally more irregular in shape, where man has created a road or clear cuts..

Size: It is a function of scale. A quick approximation of target size can direct interpretable to an approximate result more quickly.

Tone: Tone refers to the relative brightness or colour of object in an image. Variation in tone also allows the element of shape texture and pattern of objects to be distinguished. Tones and colours are used to identify agricultural fields. The fields with crops or harvested are clearly separated by their tones and colours.

Shadow: It provides the idea of the profile and relative height of the target which may make identification easier.

Pattern refers to the spatial arrangement of visibly discernible objects. Typically an order repartition of similar tones and texture will produce a distinctive and ultimately recognizable pattern.

Texture: Rough texture would consist of a mottled tone where the grey level change abruptly in a small area, where as smooth textures would have very little tonal variation.

Association: It takes into account the relationship between other recognizable objects or features in proximity of the target of interest. The identification of features that one would expect to associate with other features may provide information to facilitate identification.

Data Processing

Before digital image data can be classified, they need to be preprocessed because of errors caused by the remote sensing system and atmospheric condition at the time image acquisition. Preprocessing includes radiometric and geometric correction.. In GIS this is the raster data processing.

Radiometric Correction

Radiometric correction includes correcting the data for sensor irregularities and unwanted sensor or atmospheric noise, and converting the data so that accurately represent the reflected or emitted radiation measured by the sensor.

Geometric correction includes correcting for geometric distortions due to sensor earth geometry variation, and conversion of the data to real world co-ordinates (latitudes and longitudes) on the earth's surface.

Radiometric Correction:

1. Radiometric enhancement
2. Angle of the sun.
3. Degradation of the sensor sensitivity
4. Effects of terrain slope and orientations.
5. Atmospheric correction- atmospheric correction includes noise correction, sun angle correction and correction for atmospheric scattering.

Image Classification

Image classification is usually used to extract thematic information from multispectral images. There are three approaches- supervised, unsupervised and hybrid.

Supervised Classification

This is characterized by the need to use training areas to specify to the computer algorithm the brightness values that will represent one category of land use or land cover in each band of the digital image. In this method pixels of homogeneous brightness values are selected for each category of land use or land cover to be classified.

- a. Graphical representation of the spectral response patterns.
- b. Quantitative expression of category separation.
- c. Self-classification of training set data.
- d. Interactive preliminary classification.
- e. Representative sub scene classification.

Unsupervised Classification

The unsupervised classification is very popular among GIS agencies for database maintenance because of the very fast clustering programmes. It is easier to learn. Unsupervised classifiers do not utilize training data as the basis for classification.

The classes that result from unsupervised classification are spectral classes. In this approach we determine spectrally separable classes and then define their informational utility while in the supervised approach we define useful information categories and then examine their spectral separability.

Hybrid Classification

The unsupervised and supervised approaches to classification can be mixed together to produce a hybrid approach. After supervised classification has been completed, training areas are extracted based on their natural clusters. Hybrid approach is quite commonly used today to extract land use/ cover information satellite image data.

Integration of Remote Sensing and GIS

A fundamental technical requirement for integrating remote sensing with gis data is the need to have both types of data in the same georeferencing system. This involves co-ordinate transformation and resampling.

Transformation is the process of using a set of control points transformation equations to register a digitized map, a satellite image or an aerial photograph onto a projected co-ordinate system.

But the mathematical aspects of geometric transformation are from co-ordinate geometry. It converts the newly digitized map into projected co-ordinate in a process often called map-to-map transformation. Image to map transformation applies to remotely sensed data. Transformation changes the rows and columns (image co-ordinates) of a satellite image into projected co-ordinates.

Resampling

this process is used to determine the digital values to place in the new pixel location of the corrected output image.

The resampling process calculates the new pixel value from the original digital pixel values in the uncorrected image..

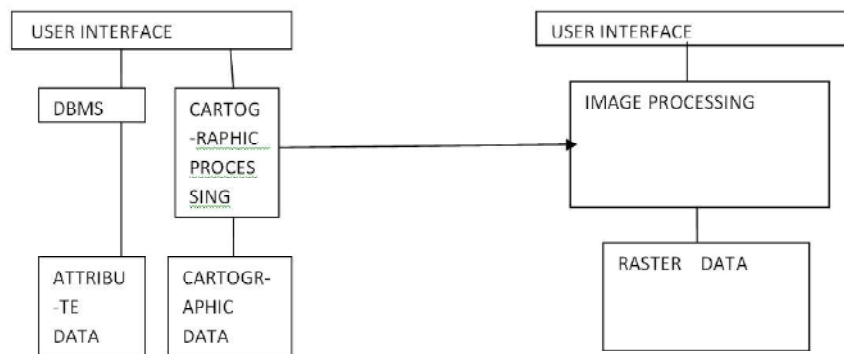
There are 3 common methods in this-

- a. Nearest neighbour method.
- b. Bilinear interpolation method.
- c. Cubic convolution.

GIS technology has to be modified, adapted and extended.

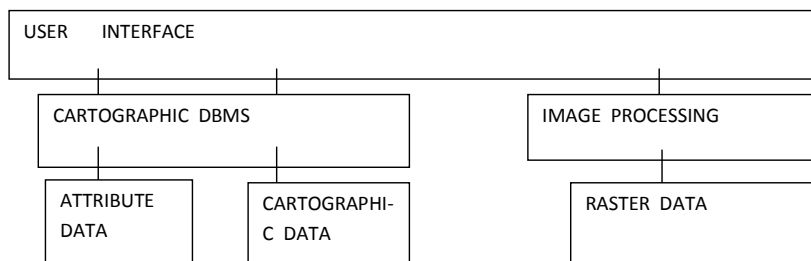
Stage1: Separate but Equal

There are two separate systems. One is GIS and other is image processing. Both are linked using data exchange formats.

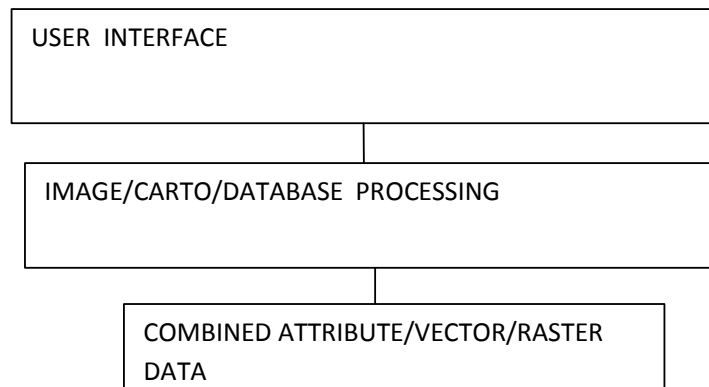


Stage 2: Seamless Integration

Both the GIS and image processing system that share the same user interface are still separate but complementary to each other. This integration process includes incorporation of GIS, data directly into image processing radiometrically and spectrally heterogeneous data in a coherent manner.



Stage 3: Total Integration



Both raster and vector data may be accommodated at different hierarchical levels at higher processing levels, a vector representation is used, while at lower levels a raster representation is adequate. So both GIS and image processing become one system.

Remote sensing is a raster based data collection while GIS tends to be vector oriented data collection method. GIS data are clearly defined before collection while remote sensing data need to be interpreted before they can be used. Today there is so much progress between GIS and remotely sensed data. Advances in computer hardware and software have permitted an expansion of the current GIS/ remote sensing capabilities in dealing with data structure conversion

Summary

There is a need of good understanding of the fundamental of remote sensing for the GIS. Aerial photography is still an important form of remote sensing. Photogrammetry may be applied to digital image data. Finally a model of integration is presented in which the vector and raster geographic data representations are viewed as two different level of abstraction, one completing the other.

REFERENCES

1. Jenson, J.R(2000) remote sensing of the environment:an earth resource perspective.
2. Principles of Geographical Information System: Burrough and Rachael.
3. Concepts of GIS:YEUNG
4. EHLERS: Rectification and registration "in integration of GIS and remote sensing"
5. Anderson-GIS and remote sensing.

Remote Sensing and Urbanization

Chandra Vijay Purty

Asst. Professor, Dept. of Geography, Gopeshwar College, Hathua

Abstract

There is a continuous pressure on existing urban areas due to rapid and uncontrolled migration of rural population towards cities for various reasons. This in turn has resulted into unplanned urban growth and its overall adverse impact upon urban infrastructure and service functions such as overcrowding, house problems, poor sanitation, safe drinking water problem, inadequate sewerage disposal provisions mushrooming of slums, etc.

In most of the cities "Residential" land use class is the most class with respect to its area limit and they form the largest component in the inhabited area which varies between 40 to 70 percent of the urban area. Preparing and initiating development schemes for capacity and infrastructure building in urban areas is a real time information intensive task.

But the information management system that exists at the lowest administrative units (Nagarpalikas) is not fully geared up to address the information needs of integrated urban infrastructure and utility management. The conventional methods of data collection/collation have got their attendant handicaps for quick updation, retrieval and holistic analysis.

Introduction

Moreover in order to fulfil these social obligations, the institutional changes were brought about through the 73rd and 74th Constitutional Amendment Act (1992 and 1993) which actually have focused on infrastructure and capacity building in rural sector and urban utility management at urban sector respectively.

The Eleventh and Twelfth schedules (ANNEXURE 1 and 2) of the Constitution while specifying the sectors for the Panchayat and Nagarpalikas have also designed the role for the multi level institution of governance in planning and the integrated developmental schemes.

Remote sensing is the science and art of obtaining information about an object, area or phenomenon through the analysis of data acquired by a device that is not in contact with the object, area, or phenomenon under investigation.

We are faced with ever increasing problems of ecological balance, deforestation, soil erosion, mismanagement of water, flood hazards soil exhaustion.

There is clearly an urgent need for well-balanced management of the renewable land resources based on reliable data and information. This is where remote sensing plays a crucial role.

Urbanisation

The proportion of a country's total population living in urban areas has generally been considered as a major of the level of urbanization.

- In Europe, where urbanization has been linked with the general development of the population and has a tendency to slow down.
- In countries belongs to former Soviet Union; where moderate expansion corresponds with economic development;

The main causes of diversity of urbanizations are the three fundamental aspects:-

1. The tertiary activities (Commerce, Transport & Administration)
2. The industrial activities (Mines, Factories, Workshops etc.)
3. Residences.

The secondary & tertiary occupations may be more or less equal, or one may be more important than the other; the secondary may almost non-existent or the tertiary but feebly developed; the residential functions is always present but it may offer a great variety of towns.

Problem

- The spontaneous development of towns and their continuous attractions of masses of people have often led to quite monstrous growth.
- When land is scarce, there is a tendency to build upwards, in order to accommodate the maximum number of dwellings or offices.
- The relief of the land may exercise a similar influence, for in narrow mountain valleys where space is at a premium, tall narrow houses are the general rule; the same thing is true of hill-top towns and of towns that cling to steep coastal Or valley slopes.

Problems associated with urbanizations:-

- Movement and Transport.
- Supplies.
- The problem of water.
- Disposal of wastes.
- Urban saturation.
- Urban renewal.

Application of Remote Sensing in Urban & Regional Planning

Multi-disciplinary studies based on information gathered through Remote sensing, can help in framing/formulating integrated approach of development planning at regional level.

Apart from mapping these data products can also be of great help in urban area interpretation and analysis. In general, such R.S. data products are found useful in:-

- Urban land use mapping.
- General land use mapping.
- Study of urban sprawl growth/trend.

- Updating/monitoring.
- Slums, detection, upgrading and monitoring.
- The traffic studies.
- Space use mapping & site suitability studies.
- Catchments area analysis.
- Environmental monitoring/impact assessment.
- Urban population estimation.
- Urban drainage analysis.

Remote Sensing

Definition:-Many people have defined remote sensing. A number of different, and equally correct, definition of remote sensing are given below:

- Remote Sensing is science of acquiring, processing and interpreting images that record the interaction between electromagnetic energy and matter (Sabins, 1996).
- Remote Sensing is science and art of obtaining information about an object, area or phenomenon through the analysis of data acquired by a device (sensor) that is not in contact with the object, area or phenomenon under investigation (Lillesand and Kieffer, 1994)

Common to all three definitions is that data on characteristics of the earth's surface acquired by a device (sensor) is not in contact with the objects being measured. The characteristics measured by the sensor are the electromagnetic energy reflected or emitted by the earth surface.

This concept is illustrated in fig. (1) while fig. (2) shows the flow of remote sensing, where three different objects are measured by a sensor in a limited number of bands with respect to their, electro-magnetic characteristics after various factors have affected the signal. The remote sensing data will be processed automatically by computer and/or manually interpreted by humans and finally utilized in agriculture, land use, forestry, geology, hydrology, oceanography, meteorology, environment etc.

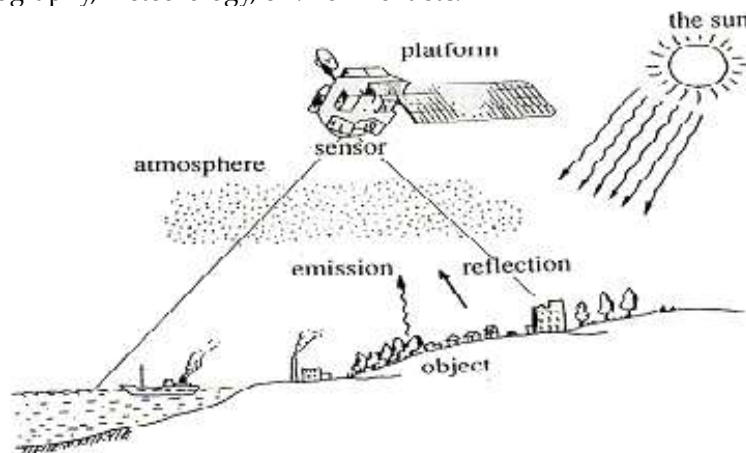


Fig. (1)

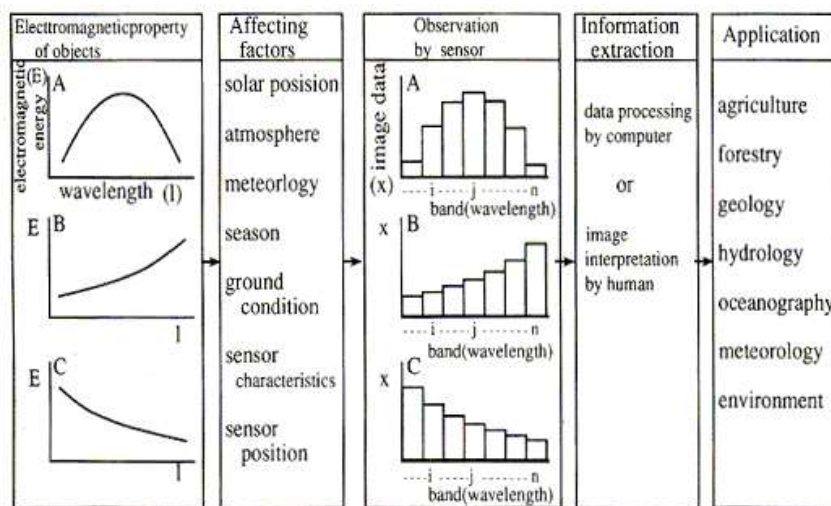


Fig. (2) Flow of Remote Sensing

Determination of Urban Change & Trends of Growth

- Study of physical aspects of environment.
- Detection of slums, their identification, delineation.
- Their capacity and future projection.
- Census application.
- Space use in city centre area.

Techniques of Interpretation

- Different aspects of aerial photographs, its characteristics and interpretation, both vertical as well as horizontal views,
- Working with different scales of aerial photographs,
- Working with photographs of urban areas, fringe areas, rural areas,
- Interpretation of different land uses, based on activities and association,
- Definition/delineation rules/classification criterion in urban areas,
- Using photo keys to interpret different types of residential areas.

Application of Satellite Imagery for Urban Area Analysis

Apart from serial photographs of various kinds/types, satellite systems also provide imagery with different spatial, spectral and temporal resolutions.

The best spatial resolution (civilian system) so far with being 5.8 meter in pan-chromatic form in IRS – 1 C/1D.

Other advantages being the multi-spectral characteristics and revisit capability. With the emergence of RESOURCESAT (in MSS mode it is 5 mt.) data the urban area analysis has become much easier.

For Visual interpretation these imagery are available:-

In single spectral range – B/W panchromatic as in SPOT and IRS – 1C/ID

B/W in multi-spectral mode, 4 bands in MSS, 7 in TM, 3 in SPOT, 4 in IRS-1A/1B/1C/1D

False colour composites:-

- To avoid the effect of atmospheric haze (bluish effect) most of these systems record data beyond the blue range i.e. about 0.45 wave length onwards.
- Therefore, most of the colour composites prepared are the combination of three or more spectral bands and in false colour composition and the scheme of colour sensitive layers is such that the green, becomes blue, the red is green and infrared in red colour.
- An interpreter has, therefore, to be aware of these factors and trained accordingly.
- Similarly in single band B/W imagery, the interpreter has to learn, as to how different land use appears in different spectral bands.

Urban land use studies up to level II:-

- Change detection and analysis of the above categories on scales 1 : 50,000 or so
- In regional planning – general land use surveys and monitoring
- Updating and monitoring of 1 : 50,000 topomap with respect to the areal changes and prominent linear details, with combined panchromatic and multispectral product of SPOT and IRS – 1 C/1D (to be assessed further)
- Other thematic mapping.
- District level planning.

Environmental Criteria Used in City Condition Determination:-

A. LAND CROWDING

1. Coverage by structures
2. Residential Building Density.
3. Population Density
4. Residential Yard Areas.
5. Building Frontages.
6. Multiple versus single unit structures.

B. CONDITION OF PRIVATE FREE SPACE:

7. Landscaping.
8. Condition of grassed areas.
9. Presence of litter or garbage.

C. NON – RESIDENTIAL LAND USES:

10. Areal incidence of non-residential uses.
11. Linear incidence of non – residential uses.
12. Specific non-residential hazards and nuisances.

13. Smoke incidence.
14. Hazards to morals and public peace.
15. Non – structure supporting land (utilized)
16. Non – structure supporting land (un-utilized)
17. On street parking.

D. TRANSPORTATION SYSTEM :

18. Street traffic.
19. Rail, Road and Switchyards.
20. Airports
21. Alleyways

E. HAZARDS AND NUISANCES FROM NATURAL PHENOMENA :

22. Surface flooding.
23. Swamps and marshes.
24. Uneven ground.

F. INADEQUATE UTILITIES AND SANITATION:

25. Sanitary sewage system.
26. Public water supply.
27. Streets and sidewalks
28. Condition of parkways.

G. INADEQUATE BASIC COMMUNITY FACILITIES :

29. Elementary public schools.
30. Public play-grounds.
31. Public play-fields.
32. Other public parks.
33. Public transportation.
34. Food Stores.

References:-

1. Tripathi, S.K. Physics of remote sensing.
2. Saha, G.N. Application of remote sensing.
3. Remote sensing in urban and regional planning.

Prejudice in School Children

Dr. Suhina Chatterjee and Dr. Bharati Roy

*Professor, Department of Psychology,
Ranchi University, Ranchi (Jharkhand)*

Abstract

Present study measures the extent of prejudice of economically deprived school students. It also attempt to examine the role of ages, sex and rural-urban residence. The sample of the study consisted of 40 rural (20 male and 20 female) and 40 urban (20 male and 20 female) school students half of which have been taken from class V and another from class XI. They were further equally sub-divided to male and female.

The prejudice scale and attitude scale developed by P.G.Deptt. of Psychology, Ranchi University, were used to collect data. The result showed that one fourth of the sample is prejudiced. Sex prejudice is more prominent than all other dimensions of prejudice. There is no difference between the higher and lower age group in prejudice score. Rural students are more prejudiced than urban students.

Key words: Prejudice, Sample, Economically deprived.

Introduction

The study of prejudice has been a favourite area of investigation by social scientists, especially social psychologist in India. The root word of prejudice is prejudged, it is a set of attitudes which causes, supports or justifies discrimination. Prejudiced people respond to others in a more or less fixed way Farely (2000). Prejudice implies a pre-conceived and unreasonable judgement or opinion unfavourable marked by suspicious, fear, intolerance or hated of a person or group of persons.

According to psychodynamic theory "prejudice is simply one of many manifestations of an unhappy and maladaptive personality. Prejudice is scapegoating or protecting- attributing to others the hatred and fears persons have of themselves about their own impulses".

Papalia, Olds and Feldman (1998) defines prejudice an unfavourable attitudes toward " outsiders" especially members of certain racial or ethnic groups. Prejudice is an unjustified or incorrect attitude (usually negative) towards an individual based solely on the individual's membership of a social group (Leod 2008).

Prejudice refers to a positive or a negative attitude or belief directed toward certain people based on their membership in a particular group. Prejudice can be directly learned or unlearned. It can also be symptomatic of deeper personal and social maladjustment.

According to Gaertner, Mann, Murrell and Dovidio (1989) prejudice may be lessened or eliminated by modifying children's experience. The most effective programs get children from different groups to work together, as in athletic teams; working toward a common goal produces positive feelings.

Some forms of prejudice are related to socio-economic status. People of lower socio-economic status groups tend to report more negative views towards out groups. There are two areas where socio-economic status seems to have an influence on prejudice are education and economic insecurity.

Researchers suggest that people with higher socio-economic status lower on most measures of prejudice. Research seems to indicate a relationship between one's economic insecurity and prejudice. There is a relatively strong relationship between one's social class and the level of prejudice. High level of prejudice is seen in people of lower socio-economic status (Farley, 2005). Research indicates that people with higher level of education lower on most measures of prejudice.

The research findings on the relationship between gender and prejudice are often contradictory. Several investigators had found no gender differences between two sexes. Balland and Kelly (1976), Khalique (1986), Sharma and sud(1989) and Zeba (1992).

Objectives

- 1) To study the extent of prejudice in economically deprived Hindu school students.
- 2) To study the role of age, sex and rural-urban residence on prejudice.

Sample

The sample for the present study consisted of 80 economically deprived Hindu school students reading in class Vth and XIth (age 10-18 years), who were selected on stratified random basis from different schools of Ranchi district. The stratification was based on age (10 & 18), gender (male & female) and place of residence (urban & rural). Thus there were 8 sample sub-groups, each sub-group consisting of 10 cases, to make 80 cases in total.

Tools

- 1) A likert type prejudice scale developed and standardized by the department of psychology, Ranchi University used to measure prejudice. There are four sub scales of measurement of prejudice. They are religious, caste, class and sex. Each sub-scale has 20 items, each having three alternatives, each yielding 20-60 scores. The total prejudice scale is aggregate of all the four dimensions having a range of 80 to 240.
- 2) Attitude Scale- A likert type attitude scale was used to measure three types of attitude allied to predics. These are religious attitude, moral attitude and caste attitude.

Result and Discussion

The data was analyzed by calculating percentage, mean, standard deviations and t test.

Table-1: Percentages of high and low scorers on total prejudice scale.

	Very Low		Low		High		Very High	
	N	%	N	%	N	%	N	%
Urban	5	12.5	34	85	1	2.5	0	0
Rural	6	15	15	37.5	19	47.5	0	0
Total	11	13.75	13.75	61.25	20	25	0	0

Table-2: Percentages of high scores on four dimensions of Prejudice.

Extent of Prejudice	RP		CP		SP		CLP	
	Rural	Urban	Rural	Urban	Rural	Urban	Rural	Urban
Very Low	0%	2.5%	0%	0%	5%	7.5%	0%	2.5%
Low	50%	10%	32.5%	5%	50%	32.5%	27.5%	12.5%
High	27.5%	45%	45%	40%	35%	37.5%	60%	55%
Very High	22.5%	42.5%	22.5%	55%	10%	22.5%	12.5%	30%

A close look at the figure presented in Tables 1 and 2 reveal the following facts.

- 1) One fourth or 25% of the total sample are prejudiced.
- 2) There is not a single case which is extremely prejudiced.
- 3) The more prejudice falls in the rural cases.

From the data given in the Table 2 it may be observed that sex prejudice is more prominent than all other dimensions of prejudice. Percentages of the sample for rural cases are the remarkable higher than urban cases in all four dimensions.

Table-3: Age difference in four dimensions of Prejudice

			Religious	Caste	Sex	Class	Total
A g e G r o u p I	R u r a l	M	43.95	41.05	43.95	40.1	167.4
		6	4.01	4.45	4.29	5.18	12.67
	U r b a n	M	33.05	31.3	38.2	34.05	136.6
		6	6.91	5.38	9.26	4.46	13.5
A g e G r o u p II	R u r a l	M	32.55	33.20	37.21	35.05	137.20
		6	6.49	6.55	8.85	11.50	22.45
	U r b a n	M	33.90	29.50	39.85	30.70	135.90
		6	7.23	3.95	17.00	4.18	14.90
t	Rural		0.85	0.76	0.55	0.89	5.63
	Urban		0.16	1.18	0.37	2.39	0.67

't's are not significant.

Table-4: Age difference in allied attitudes

			RA	CA	MA
Age Group I	Rural	M	45.35	41.50	31.00
		6	4.78	7.75	4.36
	Urban	M	30.28	33.90	30.65
		6	9.24	6.07	4.87
Age Group II	Rural	M	43.50	36.60	31.20
		6	7.23	6.42	4.41
	Urban	M	44.85	32.05	30.35
		6	7.32	9.96	4.19
t	Rural		1.04	1.77	0.14
	Urban		2.57	0.92	0.29

df =38

t's are not significant.

From the data given in the Table 3 and 4 It may be observed that there was no significant difference between higher and lower age group in prejudice scores in urban cases, but in rural cases lower age group were more prejudiced than the higher age group.

Table-5: Gender difference in four dimensions of Prejudice.

			Religious	Caste	Sex	Class	Total
F e m a l e	R u r a l	M	37.50	39.05	38.55	36.45	157.80
		6	7.67	6.43	7.33	7.61	23.25
	U r b a n	M	34.45	30.60	36.75	34.10	134.65
		6	7.17	2.24	6.40	4.30	17.59
M a l e	R u r a l	M	39.00	35.20	42.62	38.70	146.80
		6	7.56	6.68	7.55	6.19	23.02
	U r b a n	M	32.50	30.20	41.30	30.65	135.95
		6	6.87	4.28	9.79	4.24	17.34
t	Rural		0.85	0.36	1.79	2.48	0.22
	Urban		0.16	1.82	1.66	1.08	1.46

t's are not significant

From the data given in Table 4 it may be observed that there is no significant differences between lower and high age group in attitude score. In urban cases lower age group obtained significantly higher scores in religious attitude scale indicating that they had more religious prejudice than the higher age group. There is no difference between higher and lower age group in caste and moral attitude.

We have compared the prejudice score of male and female group. t ratio was compared separately for the urban and rural cases. It was expected that female students have higher prejudice score than the male students. The data is given in the tables 5 and 6.

Table-6: Gender difference in allied attitude

			RA	CA	MA
F e m a l e	R u r a l	M	43.30	38.45	32.55
		6	7.16	8.71	4.33
	U r b a n	M	43.16	34.80	30.85
		6	8.42	5.73	4.15
M a l e	R u r a l	M	45.55	39.65	32.65
		6	4.93	7.01	3.41
	U r b a n	M	40.40	31.80	30.15
		6	3.87	6.48	4.12
T	Rural		1.67	0.41	0.03
	Urban		1.05	1.52	0.62

t's are not significant

From the data it may be observed that the above finding does not support the hypothesis as it was observed that there was no significant difference between male and female students in prejudice score obtain in attitude scale.

Table -7: Rural- Urban difference in four dimensions of Prejudice.

		RP	CP	SP	CLP	TPS
R u r a l	M	38.25	37.13	40.60	37.68	152.30
	6	7.62	6.95	7.71	6.09	23.66
U r b a n	M	33.48	30.40	39.03	32.38	135.30
	6	7.07	4.81	8.40	4.33	21.70
t		4.72**	3.48**	1.32(NS)	3.7**	3.97**

** Significant at .01 level

From the data given in the table 7 it may be observed that there was highly significant differences between rural and urban cases in prejudice score. Large difference in favour of the rural cases offers that rural cases are more prejudiced than the urban.

Main Findings

- 1) On forth of the sample is prejudiced. However the intensity of prejudice is very mild.
- 2) Sex prejudice is more prominent than all other dimensions of prejudice.
- 3) There is no difference between the higher and lower age group in prejudice score.
- 4) Female students do not differ from the male students in prejudice score.
- 5) Rural students are more prejudiced than urban students.

References

- Ballard,B and Kelley,H.R.(1976). Development of racial awareness: Task consistency, reliability and validity, *journal of Genetic Psychology*, 129(1),3-11.
- Farley,J.E.(2000). *Minority relation* (4th ed) upper saddle River, N.J.Prentice Hill.
- Gaertner,S.L., Mann,J., Murrell,A., and Dovidio, J.E(1989). Reducing intergroup bias: The benefits of recategorization. *Journal of personality and social Psychology*, 57, 239- 249.
- Khalique,A.(1986). Ethnic prejudice in Muslim children: Origin and development. *Social change*. March.16.(1).38-44.
- Mc Leod,S.A.(2008). Social identity theory-simply Psychology. Retrieved from <http://www.simplypsychology.org/social-identity-theory>.
- Papalia,D.E.,Olds,S.W.,Feldman,R.D (1998). *Human development* (Seventh edition). Mc Graw Hill.315-316.
- Sharma,R and Zafar.(1989). A study of prejudice in relation to feelings of security-insecurity.*Journal of Personality and Clinical Studies* 5,73-75.
- Zeba (1992). *Some socio-psychological correlates of attitudinal modernity and prejudice in high school students*. An unpublished Ph.D. Thesis.L.N.Mithila University,Darbhangra.

Child Labour in India: Causes, Governmental Policies and the Role of Education

Dr. Suraj Prakash

M.A. (Labour and Social Welfare), Magadh University, Bodhgaya

The complex issue of child labour is a developmental issue worth investigating. The notion that children are being exploited and forced into labour, while not receiving education crucial to development, concerns many people. India is the largest example of a nation plagued by the problem of child labour. Estimates cite figures of between 60 and 115 million working children in India — the highest number in the world (Human Rights Watch 1996, 1).

What are the causes of child labour in India? How do governmental policies affect it? What role does education play in regard to child labour in India? A critical analysis of the answers to these questions may lead in the direction of a possible solution. These questions will be answered through an analysis of the problem of child labour as it is now, investigating how prevalent it is and what types of child labour exist.

The necessity of child labour to poor families, and the role of poverty as a determinant will be examined. Governmental policies concerning child labour will be investigated. The current state of education in India will be examined and compared with other developing countries. Compulsory education policies and their relationship to child labour will be investigated using Sri Lanka and the Indian state of Kerala as examples of where these policies have worked. Finally, India's policies concerning compulsory education will be assessed.

The Problem of Child Labour in India

How many Children are Involved?

It is difficult to cite a current figure for the number of children engaged in child labour. This difficulty is attributed to the fact that the Indian Government "has been negligent in its refusal to collect and analyse current and relevant data regarding the incidence of child labour. As of 1996, official figures continue to be based on 1981 census figures" (Human Rights Watch 1996, 122). The 1981 Indian census reports that there were 13.6 million child labourers in India (Census of India 1981 cited in Weiner 1991, 20). Indian government extrapolations of this 1981 data place the current number of child labourers at between seventeen and twenty million (Human Rights Watch 1996, 122). This extrapolation seems highly unlikely as "The Official National Sample Survey of 1983 [of India] reports 17.4 million child labourers, while a study . . . sponsored by the Labour Ministry, concluded that the child-labour force was 44 million" (Weiner 1991, 20-21). UNICEF "cites figures ranging from seventy-five to ninety million child labourers under the age of fourteen" (Human Rights Watch 1996,

122). A universal difficulty in obtaining accurate data may be that individuals fail to report child labour participation during surveys, for fear of persecution.

Although the figure for the number of child labourers varies, they are all significantly high when considering that the Child Economic Activity rate for 1980-1991 was 13.5% for males and 10.3% for females (International Labour Organization, 1995, 113). In comparison, other developing countries such as Sri Lanka and Malaysia (where data is available), have lower activity rates: 5.3% for males and 4.6% for females in Sri Lanka, and 8.8% for males and 6.5% for females in Malaysia (International Labour Organization, 1995, 113).

Historical census data shows an overall child work participation rate of 12.69% in 1961 and 7.13% in 1971 (Census of India 1971 cited in Devi 1985, 50). This data is misleading because the definitions of child labour are different in the two censuses (unpaid workers are not included in the 1971 census), thus a comparison cannot be completely valid (Devi 1985, 37). The data shows that in a span of twenty years (1961-1981), the proportion of children who are working has not changed significantly, but since comparisons with this data are not valid, this conclusion is questionable.

What are Children doing in Terms of Work?

The 1981 Census of India divided child labour into nine industrial divisions: I. Cultivation, II. Agricultural Labour, III. Livestock, Forestry, Fishing, Plantation, IV. Mining and Quarrying, V. Manufacturing, Processing, Servicing and Repairs, VI. Construction, VII. Trade and Commerce, VIII. Transport, Storage and Communication, and IX. Other Services (Census of India 1981 cited in Nangia 1987, 72). Table 1.1 shows the percentage distribution of child workers by these industrial divisions in 1981. From this table it is observed that the majority of rural child workers (84.29%) are employed in cultivation and agricultural labour (divisions I and II). Urban child labourers are distributed differently, as table 1.1 shows 39.16% of them are involved in manufacturing, processing, servicing and repairs. Although more children are involved in agriculturally related jobs (table 1.1 shows a total of 78.67% for divisions I and II), human rights organizations tend to focus on the manufacturing types of child labour because most children in these situations are bonded labourers. Bonded labour “refers to the phenomenon of children working in conditions of servitude in order to pay off a debt” (Human Rights Watch 1996, 2). Estimates place the number of bonded child labourers in India at close to one million (International Labour Organisation 1992, 15).

Causes of Child Labour in India and Governmental Policy dealing with It

How Necessary is Child Labour to Families in India?

Child labour is a source of income for poor families. A study conducted by the ILO Bureau of Statistics found that “Children’s work was considered essential to maintaining the economic level of households, either in the form of work for wages, of help in household enterprises or of household chores in order to free adult household members for economic activity elsewhere” (Mehra-Kerpelman

1996, 8). In some cases, the study found that a child's income accounted for between 34 and 37 percent of the total household income. This study concludes that a child labourer's income is important to the livelihood of a poor family. There is a questionable aspect of this study.

It was conducted in the form of a survey, and the responses were given by the parents of the child labourers. Parents would be biased into being compelled to support their decision to send their children to work, by saying that it is essential. They are probably right: for most poor families in India, alternative sources of income are close to non-existent. There are no social welfare systems such as those in the West, nor is there easy access to loans, which will be discussed.

What is apparent is the fact that child labourers are being exploited, shown by the pay that they receive. For the same type of work, studies show that children are paid less than their adult counterparts. Table 2.1 shows a comparison of child wages to adult wages obtained by a study of child workers in the Delhi region of India. Although 39.5% of employers said that child workers earn wages equal to adults, if the percentage of employers admitting that wages are lower for children are added up, a figure of 35.9% is found. This figure is significant when taking the bias of employers into account. Employers would have been likely to defend their wages for child workers, by saying that children earn the same wages as adults.

The fact that no employers stated children earned more than adults, should be also be noted. Other studies have also concluded that "children's earnings are consistently lower than those of adults, even where there two groups are engaged in the same tasks" (Bequele and Boyden cited in Grootaert and Kanbur 1995, 195).

What Role does Poverty Play?

The percentage of the population of India living in poverty is high. In 1990, 37% of the urban population and 39% of the rural population was living in poverty (International Labour Organization 1995, 107). Poverty has an obvious relationship with child labour, and studies have "revealed a positive correlation in some instances a strong one-between child labour and such factors as poverty" (Mehra-Kerpelman 1996, 8). Families need money to survive, and children are a source of additional income. Poverty itself has underlying determinants, one such determinant being caste. When analysing the caste composition of child labourers Nangia (1987) observes that, "if these figures are compared with the caste structure of the country, it would be realised that a comparatively higher proportion of scheduled caste children work at a younger age for their own and their families' economic support" (p. 116). Scheduled caste (lower caste) children tend to be pushed into child labour because of their family's poverty. Nangia (1987) goes on to state that in his study 63.74% of child labourers said that poverty was the reason they worked (p. 174).

The combination of poverty and the lack of a social security network form the basis of the even harsher type of child labour — bonded child labour. For the poor, there are few sources of bank loans, governmental loans or other credit

sources, and even if there are sources available, few Indians living in poverty qualify. Here enters the local moneylender; for an average of two thousand rupees, parents exchange their child's labour to local moneylenders (Human Rights Watch 1996, 17).

Since the earnings of bonded child labourers are less than the interest on the loans, these bonded children are forced to work, while interest on their loans accumulates. A bonded child can only be released after his/her parents makes a lump sum payment, which is extremely difficult for the poor (Human Rights Watch 1996, 17). Even if bonded child labourers are released, "the same conditions of poverty that caused the initial debt can cause people to slip back into bondage" (International Labour Organization 1993, 12).

Even though poverty is cited as the major cause of child labour, it is not the only determinant. Inadequate schools, a lack of schools, or even the expense of schooling leaves some children with little else to do but work. The attitudes of parents also contribute to child labour; some parents feel that children should work in order to develop skills useful in the job market, instead of taking advantage of a formal education.

Indian Government Policy on Child Labour

From the time of its independence, India has committed itself to be against child labour. Article 24 of the Indian constitution clearly states that "No child below the age of fourteen years shall be employed to work in any factory or mine or employed in any hazardous employment" (Constitution of India cited in Jain 1985, 218). Article 39 (e) directs State policy such "that the health and strength of workers . . . and the tender age of children are not abused and that citizens are not forced by economic necessity to enter avocations unsuited to their age or strength" (Constitution of India cited in Human Rights Watch 1996, 29). These two articles show that India has always had the goal of taking care of its children and ensuring the safety of workers.

The Bonded Labour System Act of 1976 fulfils the Indian Constitution's directive of ending forced labour. The Act "frees all bonded labourers, cancels any outstanding debts against them, prohibits the creation of new bondage agreements, and orders the economic rehabilitation of freed bonded labourers by the state" (Human Rights Watch 1996, 30). In regard to child labour, the Indian government implemented the Child Labour Act in 1986. The purpose of this act is to "prohibit the employment of children who have not completed their 14th year in specified hazardous occupations and processes" (Narayan 1988, 146). ILO convention No. 138 suggests that the minimum age for employment should not be less than fifteen years, and thus the Child Labour Act of 1986 does not meet this target (Subrahmanya 1987, 105).

A recent advance in government policy occurred in August of 1994, when then-Prime Minister Narasimha Rao announced his proposal of an Elimination of Child Labour Programme. This program pledges to end child labour for two million children in hazardous industries as defined in the Child Labour Act of 1986, by the year 2000. The program revolves around an incentive for children

to quit their work and enter non-formal schooling; a one hundred rupee payment as well as one meal a day for attending school (Human Rights Watch 1996, 119-120). Where the funds for this program will come from is unknown. The government needs eight and a half billion dollars for the program over five years, and yet "about 4 percent of the five-year estimated cost was allocated for child labour elimination programs in 1995-1996" (Human Rights Watch 1996, 120).

All of the policies that the Indian government has in place are in accordance with the Constitution of India, and all support the eradication of Child Labour. The problem of child labour still remains even though all of these policies are existent. Enforcement is the key aspect that is lacking in the government's efforts. No enforcement data for child labour laws are available: "A glaring sign of neglect of their duties by officials charged with enforcing child labour laws is the failure to collect, maintain, and disseminate accurate statistics regarding enforcement efforts" (Human Rights Watch 1996, 131). Although the lack of data does not mean enforcement is nonexistent, the number of child labourers and their work participation rates show that enforcement, if existent, is ineffective.

Education and its Effects on Child Labour

What is the Current State of Education in India in Comparison to Other Developing Countries?

India's state of education lacks effectiveness in yielding basic literacy in the population. It has been observed that "the overall condition of the education system can be a powerful influence on the supply of child labour" (Grootaert and Kanbur 1995, 193). The 1991 Census of India shows that 64% of males and 39% of females are literate (The World Bank 1995, 113) — an increase of 17% and 14% respectively from the 1981 census (Census of India 1981 cited in Weiner 1991, 11). These increases seem significant, but India's overall literacy rate of 40.8% lags behind other developing countries such as China (72.6%), Sri Lanka (86.1%), and Indonesia (74.1%), all of which have Per Capita Incomes comparable to India's (Weiner 1991, 161).

India's primary-school survival rate of 38.0% is also lower than China's rate of 70.0% and Sri Lanka's rate of 90.8% (United Nations Educational, Scientific, and Cultural Organization cited in Weiner 1991, 159). This indicates that few students are reaching fifth or sixth grade, and dropout rates support this conclusion. Dropout rates measured by the Department of Education show that 35% of males and 39% of females dropout (Government of India cited in The World Bank 1995, 113). What is the reason for these high dropout rates and poor school survival rates? One possible argument given by Nangia (1987) is that "the pressing need for the child's earnings as well as low perceived advantages of school" cause parents to withdraw children from school and deposit them in the labour force (p.182). In this case, poverty and the inadequacy of the school system play significant roles in causing child labour, but also affect each other. Poverty forces high dropout rates, and thus no matter how good schools are, school survival rates and literacy rates will still remain low.

Compulsory Education

The concept of compulsory education, where all school aged children are required to attend school, combats the force of poverty that pulls children out of school. Policies relating to compulsory education not only force children to attend school, but also contribute appropriate funds to the primary education system, instead of higher education.

An example of a country where compulsory education has worked to reduce child labour is Sri Lanka. The Sri Lankan government decided to enforce compulsory education in the 1920's and 1930's (Weiner 1991, 173). With this compulsory education policy, school participation rates rose from 58 percent in 1946 to 74 percent in 1963 (Weiner 1991, 173). The literacy rate also increased from 58 percent in 1946 to 86 percent in 1984 (Weiner 1991, 172). The corresponding result has been that the employment rate of children in the ten to fourteen age group has shown a substantial decline from 13 percent in 1946 to 6.2 percent in 1963 (Weiner 1991, 174), and currently stands at 5.3% for males and 4.6% for females (International Labour Organization 1995, 113). These trends lead Weiner (1991) to the conclusion that "Sri Lanka has achieved a remarkably high enrolment rate, high retention rate, and a corresponding decline in child labour" (p.175).

The Indian state of Kerala distinguishes itself from the rest of India with its educational system. The government of Kerala allocates more funds to education than any other state, with a per capita expenditure of 11.5 rupees compared to the Indian average of 7.8 rupees (Weiner 1991, 175). It is not only the expenditure of more funds, but where the funds are used that make the difference. Kerala spends more money on "mass education than colleges and universities" (Weiner 1991, 176). No correlation exists between expenditure on education and literacy when comparing different countries because some countries, such as India, spend more funds on higher education than primary education (Weiner 1991, 160). Kerala's emphasis on primary education has lead to a dropout rate of close to 0%, a literacy rate of 94% for males and 86% for females (The World Bank 1995, 113), and a low child work participation rate of 1.9% (in 1971) compared to the Indian average of 7.1% in 1971 (Weiner 1991, 175). Weiner (1991) points out that "The Kerala government has made no special effort to end child labour. It is the expansion of the school system rather than the enforcement of labour legislation that has reduced the amount of child labour" (p. 177).

Article 45 of the Constitution of India states that "The State shall endeavour to provide within a period of ten years from the commencement of this Constitution for free and compulsory education for all children until they complete the age of fourteen years" (Jain 1985, 219). It is obvious that "the State" has not achieved this goal, shown by the literacy, dropout, and child work participation rates discussed previously. A National Policy on Education was adopted in 1986, and it addresses the need to "expand and improve basic education" (The World Bank 1995, 124). Recently, the central government implemented The District Primary Education Program (DPEP), in an attempt

to act on the recommendations of the National Policy on Education. The program involves the subsidizing of approved investments, by the Government of India. The central government will provide a grant of 85% on expenditures by the states (The World Bank 1995, 123). Since these measures have been implemented very recently, results cannot be obtained and the effectiveness of the DPEP cannot be commented on at this time.

Conclusion

Child labour is a significant problem in India. The prevalence of it is shown by the child work participation rates which are higher in Indian than in other developing countries.

The major determinant of child labour is poverty. Even though children are paid less than adults, whatever income they earn is of benefit to poor families. In addition to poverty, the lack of adequate and accessible sources of credit forces poor parents to engage their children in the harsher form of child labour — bonded child labour. Some parents also feel that a formal education is not beneficial, and that children learn work skills through labour at a young age. These views are narrow and do not take the long term developmental benefits of education into account. Another determinant is access to education. In some areas, education is not affordable, or is found to be inadequate. With no other alternatives, children spend their time working.

The Constitution of India clearly states that child labour is wrong and that measures should be taken to end it. The government of India has implemented the Child Labour Act in 1986 that outlaws child labour in certain areas and sets the minimum age of employment at fourteen. This Act falls short of making all child labour illegal, and fails to meet the ILO guideline concerning the minimum age of employment set at fifteen years of age. Though policies are in place that could potentially reduce the incidence of child labour, enforcement is a problem. If child labour is to be eradicated in India, the government and those responsible for enforcement need to start doing their jobs. Policies can and will be developed concerning child labour, but without enforcement they are all useless.

The state of education in India also needs to be improved. High illiteracy and dropout rates are reflective of the inadequacy of the educational system. Poverty plays a role in the ineffectiveness of the educational system. Dropout rates are high because children are forced to work in order to support their families. The attitudes of the people also contribute to the lack of enrolment — parents feel that work develops skills that can be used to earn an income, while education does not help in this matter. Compulsory education may help in regard to these attitudes. The examples of Sri Lanka and Kerala show that compulsory education has worked in those areas. There are differences between Sri Lanka, Kerala and the rest of India. What types of social welfare structures do these places have? What are the attitudes of the people? Is there some other reason why the labour market for child labourers is poor in these areas? These are some questions that need to be answered before applying the concept of compulsory education to India? India is making progress in terms of educational

policy. The DPEP has been implemented only four years ago, and so results are not apparent at this time. Hopefully the future will show that this program has made progress towards universal education, and eradicating child labour.

Child labour cannot be eliminated by focusing on one determinant, for example education, or by brute enforcement of child labour laws. The government of India must ensure that the needs of the poor are filled before attacking child labour. If poverty is addressed, the need for child labour will automatically diminish. No matter how hard India tries, child labour always will exist until the need for it is removed. The development of India as a nation is being hampered by child labour. Children are growing up illiterate because they have been working and not attending school. A cycle of poverty is formed and the need for child labour is reborn after every generation. India needs to address the situation by tackling the underlying causes of child labour through governmental policies and the enforcement of these policies. Only then will India succeed in the fight against child labour.

Table 1.1-Percentage distribution of child workers (in India) by industrial divisions in 1981 (Census of India 1981 cited in Nangia 1987, 72).

Type of Worker	Industrial Divisions (refer to text for explanation of divisions)								
	I	II	III	IV	V	VI	VII	VIII	IX
Urban	5.32	14.73	3.07	0.20	39.16	3.27	15.03	2.45	16.77
Rural	38.87	45.42	6.61	0.25	5.72	0.47	0.96	0.10	1.60
Total	35.93	42.74	6.30	0.24	8.65	0.72	2.19	0.30	2.93

Table 2.1-Comparison of child wages and adult wages for the same type of job. (Child workers of Delhi region — sample study, 1983 cited in Nangia 1987, 198).

Child wages compared to adult wages					
	Equal to Half	Equal to Half to One-third	One-third to One-quarter	Less than One-quarter	Uncertain
Percent according to employers' response	39.5	19.1	7.0	3.7	6.1

24.7

References

- Devi, R. 1985. Prevalence of Child Labour in India: A Secondary Data Analysis. In Child Labour and Health: Problems & Prospects, edited by U. Naidu and K. Kapadia. Bombay: Tata Institute of Social Sciences.
- Grootaert, C., and R. Kanbur. 1995. Child labour: An economic perspective. International Labour Review 134:187-201.
- Human Rights Watch. 1996. The Small Hands of Slavery-Bonded Child Labour in India. New York: Human Rights Watch.
- International Labour Organisation. 1992. World Labour Report. Geneva: International Labour Organisation.
- International Labour Organization. 1993. World Labour Report. Geneva: International Labour Organization.

- International Labour Organization. 1995. World Labour Report. Geneva: International Labour Organization.
- Jain, S. N. 1985. Legislation and Government Policy in Child Labour. In Child Labour and Health: Problems & Prospects, edited by U. Naidu and K. Kapadia. Bombay: Tata Institute of Social Sciences.
- Mehra-Kerpelman, K. 1996. Children at work: How many and where? World of Work 15:8-9.
- Nangia, P. 1987. Child Labour: cause-effect syndrome. New Delhi: Janak Publishers.
- Narayan, A. 1988. Child labour policies and programmes: The Indian experience. In Combating Child Labour, edited by A. Bequele and J. Boyden. Geneva: International Labour Organisation.
- Subrahmanya, R.K.A. 1987. Can the Child Labour Act of 1986 Effectively Control Child Labour? In Young Hands at Work-Child Labour in India, edited by M. Gupta and K. Voll. Delhi: Atma Ram & Sons.
- The World Bank. 1995. Economic Developments in India: Achievements and Challenges. Washington: The World Bank.
- Weiner, M. 1991. The Child and the State in India. Princeton: Princeton University Press.

Growth and Development of Children

Dr. Shobha Kumari

Department of Home Science, JLN College, Nawhidih, Sursand, Sitamarhi

The term growth and development refers to the process by which the fertilised ovum becomes an adult person. Growth implies principally changes in size of the body as a whole or of its individual parts; development embraces other aspects of differentiation of form, including those driven by genetic endowment, but also involves changes of function, including those that are shaped mainly by interactions with the environment, whether these produce structural, emotional, or social changes.

Manifestations of physical growth and development range from those at the molecular level, such as the activation of enzymes in the course of differentiation, to the complex interplay of metabolic and physical changes associated with puberty and adolescence.

Neurodevelopmental processes, such as the acquisition of basic gross and fine motor skills, depend to a great extent on maturation of neural structures, but they may be profoundly modified by the environment and by experience.

Cognitive growth and development depends on both genetic and environmental factors. In early infancy this process may be difficult to differentiate from neurologic and behavioural maturation. In later infancy and childhood, cognitive and intellectual functions are increasingly measured by communicative skills and by the ability to handle abstract and symbolic material.

The psychosocial development of the child integrates all of the foregoing in a process that incorporates genetic constitution, cognition, and experience into the continuing and ultimate definition of the individual as a unique person and personality.

Genetic factors may set limits to biologic potential, but these are intimately interwoven with the environment. Physical trauma may be prenatal or postnatal, nutritional, chemical, residual from infection, or immunologic. Nutritional factors may reflect primarily socioeconomic realities. Social and emotional factors affecting growth potential include the sex of the child, the position of the child in the family, the quality of interaction of the infant of child with siblings, parents and others, the personal concerns and needs of the parents, and the child rearing patterns of the parents and of the community. Cultural considerations may either limit or expand the range of behaviour of children by establishing conventional expectations and may alter the schedule for acquisition of skills, such as sitting or walking, which were once regarded as depending almost entirely on maturation. Politics and culture are closely related, in as much as the political life of any community provides the arena in which public priorities are set, including those that may have profound effects on children.

The experience of each child is unique, and the patterns of development may be profoundly different for individual children within the broad limits that designate *normality*. Patterns of physical growth and development, for example have such variability that they can often be expressed only in statistical terms. The period between the 12th and 40th week of gestation, the fetal, period, is marked by rapid growth and elaboration of function. Not until the 24th-26th week, however, is the fetus generally viable.

Physical Development

The 1st week of embryonic life is germinal; its chief feature is cellular division. During the 2nd week, the cell mass differentiates into two layers (ectoderm and endoderm); during the 3rd week, mesoderm is added. During the 4th week, the growing organism elaborates the somites and undergoes rapid differentiation between the 4th and 8th week into an essentially human form. At 8 week of age, the fetus weighs about 1 g and is about 2.5 cm in length; at 12 week it weighs about 14 g and is about 7.5 cm long, and at 16 week it is about 100 g and 17 cm long. By the end of the 2nd trimester (28 week), the fetus weighs about 1,000 g and is about 35 cm (14 inch) in length. During the 3rd trimester the increase in size of the fetus involves primarily subcutaneous tissue and muscle mass.

Respiratory movements of the fetus occur as early as the 18th week of gestation, but the level of development of alveolar structures usually does not permit survival until the 24th-26th week. The development of pulmonary surfactant is underway by 20 week of gestation but may not be adequate until late in the 3rd trimester, the tidal flow of amniotic fluid into and out of the developing lung may contribute to pulmonary arborization. Late in pregnancy, when amniotic fluid contains more cells and may contain meconium and other debris, aspiration may deposit these materials into the alveoli, leading to respiratory difficulties following delivery.

The hemoglobin of the fetus is predominantly fetal in type (Hgb F). At a given oxygen tension, Hgb F carries more oxygen than adult hemoglobin (Hgb A). Hgb A is produced in late fetal life and represents approximately 30 per cent of the hemoglobin in the mature newborn in infant.

Bile begins to be formed by about 12 week of gestation and digestive enzymes soon thereafter. Meconium, the distinctive intestinal content of the fetus, is present by 16 week; it consists of desquamated intestinal cells and fluids, and of squamous cells and lanugo hair from amniotic fluid swallowed by the fetus.

The fetus makes swallowing movements as early as the 14th week of gestation; at 17 week the upper lip may protrude on stimulation in the oral area, and by the 20th week both lips protrude. At 22 week the lips are pursed on stimulation, and by 26-28 week the fetus may actively suck in attempting to gain nourishment.

The placenta is the chief route of metabolic exchange between the mother and the fetus. Its most urgent function is to provide for gas exchange; for this, adequate perfusion is needed on both the fetal and the maternal side. The placenta

elaborates hormones and enzymes that participate in the regulation of pregnancy, and it effects the selective transfer of nutrients and metabolites between the mother and the infant. Maternal hormones and drugs may also be transferred to the infant. Placental permeability is selective even for such closely related substances as the antibodies against viruses and those against bacteria; the former (*e.g.*, immunoglobulin G [igG]) are more readily transmitted than the latter (*e.g.*, igM). Much of the transfer of calcium, iron, and igG to the infant occurs in the last trimester, with the result that the infant born prematurely may have a greater need than the full term infant for calcium and iron, may be more susceptible to infection.

Neurodevelopment

Neurologic activity in the fetus is first manifest by about 8 week of gestation, when isolated muscular contractions may be seen in response to local stimulation. By 9 week, contralateral flexion may be followed by ipsilateral flexion, and some spontaneous movements occur. By 9 week of gestation, the palms and soles have become reflexogenic; by 13-14 wk, graceful flowing movements may be produced by stimulation of all areas except the back, of the head, and the vertex. At this time, the movements of the fetus may first be felt by the mother. The grasp reflex is evident by 17 week and is generally well developed by 27 week. Weak phonation may occur in the fetus delivered at 22 week. By 25 week, the earliest signs of the Moro response can be elicited. In late pregnancy the fetus is capable of habituation to certain sensory stimuli; for example, fetal movement and acceleration of the fetal pulse in response to noise transmitted through the mother's abdomen are blunted on repetition of the noise (see orienting response, later).

Fetuses differ in levels of activity, and there is evidence that fetal activity may respond to maternal emotions, possibly as a result of placental transfer of epinephrine or other substances. Little is known about how the activity of newborn infants or the quality of the infants demands during the first few weeks of life may reflect aspects of gestation that are dependent on maternal emotional states.

The comfort that some newborn infants receive from rhythmic motion or rhythmic sound may stem from similar sensations imparted by maternal motion, breathing or heart sounds.

Problems of Embryonic and Fetal Life

Mortality during the embryonic period is probably higher than at any other time of life. Causes include abnormalities of genes and chromosomes and alterations in maternal health. These may be interrelated; advanced maternal age, for example, disposes to certain chromosomal abnormalities. Maternal infection or the administration of certain drugs to the mother during the 1st trimester may alter the differentiation of the fetus and may result in congenital anomalies. Intrauterine environmental factors responsible for defects in differentiation exert their effects principally within the 1st trimester.

Morbidity during the fetal period may result from a variety of intrauterine factors. These include interference with oxygenation secondary to disturbances

of the placenta or umbilical cord; infections of bacterial, viral, or protozoan origin; injury by radiation, trauma, or noxious chemicals; immunologic disorders due to maternal immunisation and transfer of isoantibodies; and maternal nutritional disturbances.

The effects of intrauterine malnutrition on cerebral structure or function in later life are not fully understood. The rate of increase in the number of neurons is high during gestation, and their number probably continues to increase at a decreasing rate until about 18 mo of postnatal age. In this postnatal period there is also an increase in the number and complexity of dendritic connections, in the number of neuroglial cells, in the size of neurons and glial cells, and in myelination. The effects on the central nervous system of malnutrition that occurs after this time can be much more readily reversed than those that result from undernutrition during periods of rapid cellular proliferation.

References

- Breuer, G.: *Sociobiology and the Human Dimension*. Cambridge: Cambridge University Press, 1982.
- Cassese, Antonio: *Human Rights in a Changing World*. Philadelphia: Temple University Press, 1991.
- Cooley, C.H.: *Human nature and the social order*. New York: Charles Scribner's Sons, 1902.
- Davis, Michael C.: *Chinese Values and Human Rights*, Hong Kong: Oxford University Press, 1995.
- Forsythe, Frederick P.: *Encyclopedia of Human Rights*, Oxford University Press, New York, 2009.
- Freeman, Michael: *Human Rights: An Interdisciplinary Approach*, Polity Press, Cambridge, 2002.
- Glendon, Mary Ann: *A World Made New: Eleanor Roosevelt and the Universal Declaration of Human Rights*, Random House, New York, 2001.
- Hannum, Hurst: *Autonomy, Sovereignty, and Self - Determination: The Accommodation of Conflicting Rights*. Philadelphia: University of Pennsylvania Press, 1990.

Gandhian Philosophy in the 21 Century

Ramashish Malakar

Research Scholar, S.K.M. University, Dumka

Gandhism

Gandhism (or Gandhianism) is a collection of inspirations, principles, beliefs and philosophy of Mohandas Karamchand Gandhi (known as Mahatma Gandhi), who was a major political and spiritual leader of India and the Indian Independence Movement.

It is a body of ideas and principles that describes the inspiration, vision and the life work of Gandhi. The term also encompasses what Gandhi's ideas, words and actions mean to people around the world, and how they used them for guidance in building their own future.

Gandhism also permeates into the realm of the individual human being, non-political and non-social. A Gandhian can mean either an individual who follows, or a specific philosophy which is attributed to, Gandhism.

Talking about "Gandhism" Gandhi had said "There is no such thing as 'Gandhism', and I do not want to leave any sect after me. I do not claim to have originated any new principle or doctrine. I have simply tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems." He said "The opinions I have formed and the conclusions I have arrived at are not final. I may change them tomorrow." "I have nothing new to teach the world. Truth and non-violence are as old as the hills." he added Eminent scholar, Professor Ramjee Singh has called Mahatma Gandhi as the Bodhisattva of the twentieth century.

Satyagraha

Satyagraha is a philosophy and practice of nonviolent resistance developed by Mohandas Karamchand Gandhi (also known as "Mahatma" Gandhi). Gandhi deployed satyagraha in the Indian independence movement and also during his earlier struggles in South Africa.

Satyagraha theory influenced Nelson Mandela's struggle in South Africa under apartheid, Martin Luther King, Jr.'s campaigns during the civil rights movement in the United States, and many other social justice and similar movements. Someone who practices satyagraha is a satyagrahi.

Meaning of the Term

Satyagraha is a synthesis of the Sanskrit words *satya* (meaning "truth") and *Agraha* ("insistence", or "holding firmly to"). For Gandhi, satyagraha went far beyond mere "passive resistance" and became strength in practising non-violent methods. In his words:

Truth (satya) implies love, and firmness (agraha) engenders and therefore serves as a synonym for force. I thus began to call the Indian movement

Satyagraha, that is to say, the Force which is born of Truth and Love or non-violence, and gave up the use of the phrase “passive resistance”, in connection with it, so much so that even in English writing we often avoided it and used instead the word “satyagraha”....

In a letter to P.K.Rao, Servants of India Society dated September 10, 1935, quoted in Louis Fischer's, *The Life of Mahatma Gandhi*, Part I, Gandhi disputes that his idea of Civil Disobedience was adapted from the writings of Thoreau.

“The statement that I had derived my idea of Civil Disobedience phrase to explain our struggle to the English readers. But I found that even “Civil disobedience” failed to convey the full meaning of the struggle. I therefore adopted the phrase “Civil Resistance.”

Gandhi Described it as Follows: I have also called it love-force or soul-force. In the application of satyagraha, I discovered in the earliest stages that pursuit of truth did not admit of violence being inflicted on one's opponent but that he must be weaned from error by patience and compassion. For what appears to be truth to the one may appear to be error to the other. And patience means self-suffering. So the doctrine came to mean vindication of truth, not by infliction of suffering on the opponent, but on oneself.

Contrast to “Passive Resistance”

Gandhi distinguished between satyagraha and passive resistance in the following letter:

“I have drawn the distinction between passive resistance as understood and practised in the West and satyagraha before I had evolved the doctrine of the latter to its full logical and spiritual extent. is a metaphor for non-violence. I often used “passive resistance” and “satyagraha” as synonymous terms: but as the doctrine of satyagraha developed, the expression “passive resistance” ceases even to be synonymous, as passive resistance has admitted of violence as in the case of suffragettes and has been universally acknowledged to be a weapon of the weak. Moreover, passive resistance does not necessarily involve complete adherence to truth under every circumstance.

Therefore it is different from satyagraha in three essentials: Satyagraha is a weapon of the strong; it admits of no violence under any circumstance whatsoever; and it ever insists upon truth. I think I have now made the distinction perfectly clear.”

Satyagraha Theory

Defining Success

In traditional violent and nonviolent conflict, the goal is to defeat the opponent or frustrate the opponent's objectives, or to meet one's own objectives despite the efforts of the opponent to obstruct these. In satyagraha, by contrast, these are not the goals. “The Satyagrahi's object is to convert, not to coerce, the wrong-doer.” Success is defined as cooperating with the opponent to meet a just end that the opponent is unwittingly obstructing. The opponent must be converted, at least as far as to stop obstructing the just end, for this cooperation to take place.

Means and Ends

The theory of satyagraha sees means and ends as inseparable. The means used to obtain an end are wrapped up in and attached to that end. Therefore, it is contradictory to try to use unjust means to obtain justice or to try to use violence to obtain peace. As Gandhi wrote: "They say, 'means are, after all, means'. I would say, 'means are, after all, everything'. As the means so the end..."

Gandhi used an Example to Explain This: If I want to deprive you of your watch, I shall certainly have to fight for it; if I want to buy your watch, I shall have to pay for it; and if I want a gift, I shall have to plead for it; and, according to the means I employ, the watch is stolen property, my own property, or a donation.

Gandhi rejected the idea that injustice should, or even could, be fought against "by any means necessary" — if you use violent, coercive, unjust means, whatever ends you produce will necessarily embed that injustice. To those who preached violence and called nonviolent actionists cowards, he replied: "I do believe that, where there is only a choice between cowardice and violence, I would advise violence....I would rather have India resort to arms in order to defend her honour than that she should, in a cowardly manner, become or remain a helpless witness to her own dishonour....But I believe that nonviolence is infinitely superior to violence, forgiveness is more manly than punishment."

Satyagraha Versus Duragraha

The essence of Satyagraha is that it seeks to eliminate antagonism without harming the antagonists themselves, as opposed to violent resistance, which is meant to cause harm to the antagonist. A Satyagrahi therefore does not seek to end or destroy the relationship with the antagonist, but instead seeks to transform or "purify" it to a higher level. A euphemism sometimes used for Satyagraha is that it is a "silent force" or a "soul force" (a term also used by Martin Luther King Jr. during his famous "I Have a Dream" speech). It arms the individual with moral power rather than physical power. Satyagraha is also termed a "universal force," as it essentially "makes no distinction between kinsmen and strangers, young and old, man and woman, friend and foe."

Gandhi contrasted satyagraha (holding on to truth) with "duragraha" (holding on by force), as in protest meant more to harass than enlighten opponents. He wrote: "There must be no impatience, no barbarity, no insolence, no undue pressure. If we want to cultivate a true spirit of democracy, we cannot afford to be intolerant. Intolerance betrays want of faith in one's cause."

Civil disobedience and non-cooperation as practised under Satyagraha are based on the "law of suffering", a doctrine that the endurance of suffering is a means to an end. This end usually implies a moral upliftment or progress of an individual or society. Therefore, non-cooperation in Satyagraha is in fact a means to secure the cooperation of the opponent consistently with truth and justice.

Reference

Ainapur, L. S.: *Dynamics of Caste Relations in Rural India*, Rawat Publications, Jaipur, 1986.
Ammu Menon: *Social Welfare in India; Mahatma Gandhi's Contributions*, Asia Pub. House, London, 1964.

- Bakshi, S.R. : *Gandhian Satyagraha and His Technique (1920-1928)*, New Delhi, Commonwealth, 2005.
- Balan, K. : *Mahatma Gandhi and Jawaharlal Nehru : The Two Stalwarts Who Shaped India*, Delhi, Authorspress, 2002.
- Clark, S.: *Dalits and Christianity: Subaltern Religions and Liberation Theology in India*, OUP, New Delhi, 1998.
- Dalton, Dennis : *Gandhi's Power : Nonviolence in Action*, New Delhi, OUP, 2001.
- Edwardes, Michael: *The Myth of the Mahatma: Gandhi, the British and the Raj*, Constable, London, 1986.
- Fisherman, A. T.: *Cultural Change and Underprivileged: A Study of Madigas in South India*, Under Christian Guidance, Madras, 1941.
- Galanter, Marc.: *Competing Inequalities: Law and the Backward Classes in India*, University of California Press, CA, 1984.
- Singh, Ram Binod : *Gandhian Approach to Development Planning*, New Delhi, Concept, 2006.
- Vettickal, Thomas : *Gandhian Sarvodaya : Realizing a Realistic Utopia*, New Delhi, Gyan Publishing House, 2002.
- Weber, Thomas : *Gandhi, Gandhism and the Gandhians*, New Delhi, Roli Books, 2006.

Relevance of Gandhi in the Political World Today

Ajay Kumar Singh

Research Scholar, S.K.M. University, Dumka

The Relevance of Gandhi for all Times

Mahatma Gandhi - the greatest of our leaders. He lit the imagination of the entire nation. There is a basic lesson of Indian History. Our people have always taken their moral standards from their rulers; the people have risen to great heights when they have basked in the glow of noble kings or leaders. The present generation is waiting for a leader who will make it relearn the moral values, and who will inculcate in the people, as Gandhi did, a sense of the responsibilities which fall on every citizen of a free society.

The waste of human ability energy and money on armament will continue unabated, and diversion of world resources to development will remain a pipe dream, so long as man does not learn the great lesson which Gandhi preached so convincingly in our own times-viz. non-violence is the law of our species. The diversion of world resources to development stands no practical chance of being heeded unless and until the balance of terror is replaced by the balance of reason.

Although it is true that India has been an integrated nation since olden times; it is also true that on the present context Gandhian values have special significance for national integration. Today communal amity has become essential for national integration and hence Gandhi gave it the highest priority. By communal unity Gandhiji did not mean merely paying lip service to 'bhaibhaism'. He meant it to be an unbreakable heart unity'. In the religious context Gandhi emphasized that communal unity has to be based on equal respect for all religions. Everyone, Gandhi said, must have the same regard for other faiths as he had for his own. Such respect would not only remove religious rifts but lead to a realization of the fact that religion was a stabilizing force, not a disturbing element. Gandhi's basic axiom was that religion since the scriptures of all religions point only in one direction of goodwill, openness and understanding between men and men and between community and community.

Gandhiji regarded education as the light of life and the very source from which was created an awareness of oneness. Gandhi believed that the universality of religion can best be realized through the universalisation of education, and that such universalisation was the spring board for national integration. Harmony is not brought about overnight.

Gandhi advocated the process of patience, persuasion and perseverance for attainment of peace and love for harmony and was firmly convinced of the worth of gentleness as panacea for all evils. Communal harmony had the pride of place in Gandhi's constructive programme. He taught us the dignity of labour

as a levelling social factor that contributed to a national outlook in keeping with the vision of new India he always believed that a nation built on the foundation of non-violence would be able to withstand attacks on its-integrity from within and without.

Gandhi pleaded for the humanization of knowledge for immunization against the ideas of distrust among the communities of the nations and the nationalities of the world. He wanted to take the country from areas of hostility into areas of harmony of faiths through tolerance, so that we could work towards understanding each other. His mass contact programme was specifically aimed at generating a climate of confidence and competition and eliminating misgiving and misconceptions, conflicts and confrontation. Gandhi also held that bridging the gulf between the well off and the rest was as essential for national integration as inter-religious record. He said that we must work for economic equality and social justice, which would remove the ills caused by distress and bitterness. He said that we must work for economic equality and social justice, which would remove the ills caused by distress and bitterness. He stressed that the foundation of equality, the core of harmony will have to be laid here now and built up brick by brick through ethical and economic satisfaction of the masses.

Gandhian Relevance- A Phenomenal Success

It is 54 years since Gandhi was assassinated and there are all kinds of discussion in India and abroad on what Gandhi left for humanity and whether many of his teachings would survive the test of time. What even the passionate critic of Gandhi cannot miss is the string of activities along Gandhian lines one can see in almost all countries of the World now. If not in very significant measure there are very few countries in the world where something or the other in the name of Gandhi is not being organised. In short there is a global non-violent awakening after Gandhi. What is the relevance of Gandhi in this all-pervading materialistic, agnostic and consumerist culture? It is precisely these three tendencies Gandhi fought all his life. There is no denying the fact that Gandhi was deep rooted in his cultural and religious traditions. The phenomenal success Gandhi registered in far away South Africa fighting for human rights and civil liberties and later the adoption of the Gandhian techniques by Nelson Mandela and the subsequent revelations made by the former South African president De Klerk that he was greatly influenced by Gandhi's principles.

The year 1994 bore witness to the efficacy strategies and philosophy as could be seen from the manner in which the fight Gandhi began 100 years ago in South Africa i.e. in 1903 bearing fruits when the blacks and the whites in South Africa were able to work out a satisfactory solution to a peaceful transfer of power which resulted in the holding of elections and Dr. Nelson Mandela taking over the reins of power. In the American continent Martin Luther King's heroic fight for civil liberties on the Gandhian lines and his own admission that it was from Gandhi that he learnt his operational tactics also is not an isolated instance of the relevance of the Gandhian tactics. Martin Luther King (Jr.) said, "If humanity is to progress, Gandhi is inescapable. He lived, thought and acted, inspired by the vision of a humanity evolving towards a world of peace and harmony. WE may ignore him at our own risk."

Gandhi's contribution to the political awakening and freedom movement in different parts of the world and adoption of non-violence strategies which help both the opposing groups respect each other's sentiments and accommodating the needs of others as much in common with UNESCO's decision to propagate the message of tolerance for humanity survival. Asia and African Continent particularly has seen peaceful transition power of power and social change, thanks to Gandhi's initiatives and teachings.

Concluding Remarks

The name of Mahatma Gandhi transcends the bounds of race, religion and nation- states, and has emerged as the prophetic voice of the 21st century he is remembered for his passionate adherence to the practice of non-violence and his supreme humanism. After the great Buddha and Jesus he once again demonstrated that non-violence could also be an effective instruments of social change. Gandhi successfully demonstrated to a world, weary with wars and continuing destruction that adherence to Truth and Non-violence is not meant for individual behaviour alone but can be applied in global affairs too.

I can do no better than to quote the immortal tribute of India's first prime minister, Pandit Jawaharlal Nehru, at the time of Gandhi's passing, "The light has gone out of our lives". Now we have to try and see what we can do with our limitations to overcome what Gandhiji described as the seven social sins:

- Politics without principles
- Wealth without work
- Commerce without morality
- Education without character
- Pleasure without conscience
- Science without humanity
- Worship without sacrifice.

We can sum it all up by saying that it was Gandhi who, through his dedication, lifted the country from the British policy of 'divide and rule' and let the Indian masses form rivalries to reconciliation and from hostility to harmony. And in this the Mahatma was ably supported by his great disciples- Pandit Jawaharlal Nehru, Vallabhai Patel, Lal Bahadur Shastri, Maulana Abdul Kalam Azad and many others.

References

- Atal, Yogesh: *The Changing Frontiers of Caste*, National Publishing House, Delhi, 1968.
Atri, Ajit : *Gandhi's View of Legal Justice*, New Delhi, Deep and Deep Pub., 2007.
Bourai, Himanshu : *Gandhian Philosophy and the New World Order*, Delhi, Abhijeet, 2004.
Dash, Nibedita : *Life and Thoughts of Gandhi and Nehru*, New Delhi, Dominant, 2004.
Goel, S.K. : *Gandhian Perspective on Industrial Relations*, Delhi, Shipra, 2002.
Nauriya, Anil : *The African Element in Gandhi*, New Delhi, Gyan Pub., 2006.
Patel, Asha : *Gandhian Vision of Rural Development : Its Relevance in Present Time*, New Delhi, Decent Books, 2005.

Sociology as a Value-free Science

Dr. Henna Tabassum

Associate Professor, Dept. of Sociology, A.N. College, Patna

The subject matter of sociology is human behaviour in society. All social behaviour is guided by values. Thus the study of social behaviour can never be value-free if value freedom is interpreted in the sense of absence of values because values of the society under investigation form a part of the social facts to be studied by sociology. Moreover social research is in itself a type of social behaviour and is guided by the value of search for true knowledge. Then what is meant as clarified by Max Weber value-free sociology means that the sociologist while carrying social research must confine called value relevance. Thus the values can operate at three levels:

- At the level of philological interpretation.
- At the level of ethical interpretation in assigning value to an object of enquiry.
- At the level of rational interpretation in which the sociologists seeks the meaningful relationship between phenomena in terms of causal analysis. The point of value interpretation is to establish the value towards which an activity is directed.

Sociologists should observe value neutrality while conducting social research. It means that he should exclude ideological or non-scientific assumption from research. He should not make evaluative judgment about empirical evidence. Value judgment should be restricted to sociologists' area of technical competence. He should make his own values open and clear and refrain from advocating particular values. Value neutrality enables the social scientists to fulfil the basic value of scientific enquiry that is search for true knowledge.

Thus sociology being a science cherishes the goal of value neutrality. According to Alvin Gouldner value-free principle did enhance the autonomy of sociology where it could steadily pursue basic problems rather than journalistically react to passing events and allowed it more freedom to pursue questions uninteresting either to the respectable or to the rebellious.

It made sociology freer as Comte had wanted it to be-to pursue all its own theoretical implications. Value free principle did contribute to the intellectual growth and emancipation of the enterprise. Value-free doctrine enhanced freedom from moral compulsiveness; it permitted a partial escape from the parochial prescriptions of the sociologists' local or native culture. Effective internalization of the value-free principle has always encouraged at least a temporary suspension of the moralizing reflexes built into the sociologist by his own society.

The value-free doctrine has a paradoxical potentiality; it might enable men to make better value judgments rather than none. It could encourage a habit of

mind that might help men in discriminating between their punitive drives and their ethical sentiments. However in practice it has been extremely difficult to fulfil this goal of value neutrality. Values creep in various stages in sociological research.

According to Gunnar Myrdal total value neutrality is impossible. 'Chaos does not organize itself into cosmos. We need view points.' Thus in order to carry out social research viewpoints are needed which form the basis of hypothesis which enables the social scientists to collect empirical data. These view-points involve valuations and also while formulating the hypothesis. Thus a sociologist has to be value frank and should make the values which have got incorporated in the choice of the topic of the research of the formulation of hypothesis clear and explicit at the very outset in the research. The value-free doctrine is useful both to those who want to escape from the world and to those who want to escape into it. They think of sociology as a way of getting ahead in the world by providing them with neutral techniques that may be sold on the open market to any buyer. The belief that it is not the business of sociologist to make value judgments is taken by some to mean that the market on which they can vend their skills is unlimited. Some sociologists have had no hesitation about doing market research designed to sell more cigarettes although well aware of the implications of recent cancer research. According to Gouldner the value-free doctrine from Weber's standpoint is an effort to compromise two of the deepest traditions of the western thought, reason and faith but that his arbitration seeks to safeguard the romantic residue in modern man. Like Freud, Weber never really believed in an enduring peace or in a final resolution of this conflict. What he did was to seek a truce through the segregation of the contenders by allowing each to dominate in different spheres of life.

Statistics

The word 'Statistics' refers to some numerical facts relating to any phenomena in social sciences or exact sciences. Facts and figures pertaining to population, production, national income, profits, sales, bank rates, family patterns, dowry system, animal kingdom, plant life, bacteria; will all constitute statistics. The word 'statistics' seems to have derived from either the Latin word 'status' or the Italian word 'Statitsta' both meaning 'a political state'.

The word 'statistics' is presently referred to in two distinct senses. In its first reference as a plural noun, it means an aggregate or collection of numerical or quantitative expressions of facts i.e. 'numerical data' or simply 'data'. In its second reference as a singular noun, it means a body of principles and methods used in the collection, presentation, analysis and interpretation of numerical data.

Bowley defines statistics as the science of counting in one context. The emphasis made here is only on the collection of data. At another place he says: statistics may rightly be called the science of averages. Boddington defines statistics as the science of estimates and probabilities. According to Lovitt, the science of statistics deals with the collection. Classification and tabulation of numerical facts as the basis for explanation, description and comparison of phenomena. Seligman defines statistics as the science which deals with the

methods of collecting classifying, presenting, comparing and interpreting numerical data collected to throw some light on any sphere of enquiry. Croxton and Cowden define statistics as the collection, presentation analysis and interpretation of numerical data.

Characteristics of Statistics

1. Statistics should be numerically expressed. For example the statement Rajan is of height 6' 1" makes the fact clear and easily understandable.
2. Statistics are aggregates of facts. Statistics means the facts pertaining to a group of individuals or individual item.
3. Statistics are affected to a market extent by a multiplicity of causes. There are a variety of forces or factors operating on the facts and figures in an aggregate. The influence of any particular factor cannot be isolated.
4. Statistics must be collected in a systematic manner for a predetermined purpose. Determination of the main purpose or objectives of any scientific study is the first and the most important step which in turn paves way for other operations to follow.
5. Statistics are enumerated or estimated according to reasonable standards of accuracy.
6. Statistics should be placed in relation to each other.

Applications of Statistics

Statistics and Sociology

Sociology is one of the social sciences aiming to discover the basic structure of human society, to identify the main forces that hold groups together or weaken them and to learn the conditions that transform social life. It highlights and illuminates aspects of social life that otherwise might be only obscurely recognized and understood. The sociologist may be called upon for help with a special problem such as social conflict, urban plight or the war on poverty or crimes. His practical contribution lies in the ability to clarify the underlying nature of social problems to estimate more exactly their dimensions and to identify aspects that seem most amenable to remedy with the knowledge and skills at hand. He naturally lands in sociological research which is the purposeful effort to learn more about society than one can in the ordinary course of living. Keeping in view of the problem he sets forth his objectives collects materials or data and uses statistical techniques and the knowledge and theory already established on similar topics to achieve his objectives. So statistical data and statistical methods are quite indispensable for sociological research studies. There is a growing emphasis recently on social survey methods or research methodology in all faculties of arts.

Sociologists seek the help of statistical tools to study cultural change in the society, family pattern, prostitution, crime, marriage system etc. They also study statistically the relation between prostitution and poverty, crime and poverty, drunkenness and crime, illiteracy and crime etc. Thus statistics is of immense use in various sociological studies.

Statistics and Government

The functions of a government are more varied and complex. Various depts in the state are required to collect and record statistical data in a systematic manner for an effective administration. Data pertaining to various fields namely population, natural resources, production both agricultural and industrial, finance, trade, exports and imports, prices, labour, transport and communication, health, education, defence, crimes etc. are the most fundamental requirements of the state for its administration. It is only on this basis of such data; the government decides on the priority areas, gives more attention to them through target oriented programmes and studies the impact of the programmes for its future guidelines.

Statistics and Planning

Modern age is an age of planning and statistics are indispensable for planning. According to Tippet planning greater or lesser degree according to the government in power is the order of the day and without statistics, planning is inconceivable. Based only on a correct assessment of various resources both human and material of the country proper planning can be made. A study of data relating to population, agriculture, industry, prices, employment, health, education enables the planners to fix up time-bound targets on the social and economic fronts evaluation of such economic and social programmes at different stages by means of related data gathered continuously and systematically is also done to decide whether the programmes are on towards the goal or targets set.

Statistics and Economics

In the fields of economics it is almost impossible to think of a problem which does not require an extensive use of statistical data. Most of the laws in economics are based on a study of a large number of units and their analysis is enabled by statistical data and the statistical methods.

The important economic aspects like production, consumption, exchange and distribution are described, compared and correlated with the aid of statistical tools. By a statistical study of time series on prices, sales, production one can study their trends, fluctuations and the underlying causes. Thus statistics is indispensable in economic analysis.

References

- Arndt, William B. Jr. : *Theories of Personality*, Macmillan, New York, 1974.
Bhanwar Lal Garg: *An Introduction to Research Methodology*, RBSA Pub, 2002.
Chandalekha Arora: *Advances in Horticulture Science Research*, Oxford Book Company, 2009.
John D. Kasarda: *Contemporary Urban Ecology*, New York: Macmillan, 1977.
Muhammed Salih T.K. and Mohamed Haneefa K: *Research on Library Computerisation*, Ess Ess Pub, 2006.
P K Muthukumar: *Environmental Sociology*, Sarup and Sons, Delhi, 2006.

Theory of Civilization in the Sociology of Culture

Dr. Kumari Rina Ray

Panapur, Aurai, Muzaffarpur

The word culture has completely different meanings in the social sciences and in current language. In the latter, the meaning of the term has for long been mainly influenced by the humanistic conception of culture, which derives from the Roman *cultura animi* a term that Cicero seems to have invented in order to translate the Greek concept *oipaideia*. This is the classical sense of the word, based upon high productions of mind and art. Referring to the intellectual, esthetic, and ethical aspects of human beings (for which the German language uses the term *Bildung*), culture thus involves the legitimacy of value judgments and of the idea of a hierarchy between societies as much as inside them.

In the social sciences, on the contrary, the term has generally a widely inclusive meaning, which is actually aimed against the humanistic normative conception of culture, since almost anything may be considered as culture. This conception, which opens an almost unlimited field to the term culture, has been the basis of the ensemble of theories which may be termed culturalist trend. It is characterized by a systematical relativism, strongly backed up by the fact that the overall conception of culture is in itself a powerful relativistic tool. The popularization of the relativistic use of the term culture in postmodern societies since the late 1900s poses a serious danger for culture.

The Term Culture in the Social Sciences

This term has received, first in anthropology and afterwards in sociology, a very specific meaning, that prevailed despite the reluctance of very important authors, such as Morgan, Durkheim, and Radcliffe Brown to use it in this way.

The Tylorian Everything is Culture Conception

At the basis of the concept of culture as it is mostly used in the social sciences stands the well known founding definition of the English ethnologist Edward Barrett Tylor (1832 1917), in his book *Primitive Culture* (1871). He borrowed much of the sense he gave to the term from Bismarckian Germany, whose conception of *Kultur* included any kind of expression of the national character. According to the German usage, Tylor takes culture to be synonymous with civilization, and therefore gives to that word what he calls a wide ethnographic sense. For him, culture is that complex whole produced by people's historical experience, of which he gives several examples: knowledge, belief, art, morals, law, custom. But this enumeration is not a closed one. Tylorian culture also includes ... any other capabilities and habits acquired by man as a member of society. This definition is characterized by the huge breadth of its application.

Derived from the German term *Kultur*, the idea of a broad ethnographic sense of the word culture perfectly suited Anglo Saxon ethnologists from

German or Austrian origin. The German born US anthropologist Franz Boas (1858 1942) and the British anthropologist Bronislaw Malinowski (1884 1942), who was born in Poland as an Austrian subject, both took an outstanding part in the victorious settlement of the term culture in the very core of the social sciences.

Although since Tylor many other definitions of culture have been formulated, his everything is culture conception remained a basic creed for nearly all anthropologists during the twentieth century, and it still prevails. In its anthropological sense, culture includes religion, law, art, and literature, as well as all of everyday life in its often prosaic and even trivial aspects, such as cooking, sexual habits, or sanitary practices.

In the early 1900s, Emile Durkheim, Marcel Mauss and other French sociologists were reluctant to use the term culture in its Tylorian sense, and preferred to go on using the word civilization. Yet, the anthropologists broad use of the term culture has progressively spread to sociology. Nevertheless, during the 1950s, many American intellectuals, like Hannah Arendt, did resist the idea of mass culture, which they deemed to be no culture at all, but a deadly threat to it. In the early 1960s, American sociologists still regarded mass culture as a subject of debate, and the mass media as a most important field for sociological studies. Meanwhile, it was a French sociologist, Edgar Morin (1962) who took mass culture as an essential sociological field of study.

Radcliffe Brown's Attempt to Resist Tylorian Culture

The founder of social anthropology, the British anthropologist Alfred Reginald Radcliffe Brown (1881 1955) based his theory upon the study of social structures, along the lines of Durkheim's sociological concept of function.

In order to keep social anthropology completely separated from cultural anthropology, for some 20 years Radcliffe Brown and his followers avoided using the word culture as much as possible. Then, in 1952, he defined culture as the process by which a person acquires, from contact with other persons or from such things as books or works of art, knowledge, skill, ideas, beliefs, tastes, sentiments. So culture is for him the process of intellectual, esthetic, and ethical human development. Culture is the process by which one becomes a cultured person. Though an anthropologist, and although his functionalist theory is as much relativistic and holistic as culturalism is, Radcliffe Brown has a classical and humanistic conception of culture. This is because the term has no part in his system, not being his own relativistic tool.

He states (1952) that the total social structure of a society together with the totality of social usages in which that structure appears and on which it depends for its continued existence are constituent of a social system, whereas most anthropologists would have regarded all that as culture. Since he had decided to take as basic the social structure instead of the culture patterns of cultural anthropology, Radcliffe Brown had no need of the Tylorian sense of culture. In fact he had even every reason to refuse that use of the word, which was the basis of a powerful rival theory. Hence his humanistic formulation. Furthermore, Radcliffe Brown's functionalism derived from Morgan, Durkheim and the whole French sociological school. As they had not admitted the Tylorian use of the term culture, Radcliffe Brown was naturally induced to follow their example.

However, Malinowski, the other great name of anthropological functionalism, regarded a broad conception of culture as natural. Posthumously published in 1944, his most important book is entitled: *A Scientific Theory of Culture and Other Essays*. Thus, in the 1930s and 1940s, anthropological functionalism was divided into two rival schools: social structure against culture, Radcliffe Brown's school versus Malinowski's school, one of their motives of disagreement being opposing ideas about the concept of culture. In the UK, this quarrel was considered as opposing social anthropology to cultural anthropology. But, at the same time, nearly all US anthropologists were adherents of cultural anthropology since studying cultures.'

As a result of that, in the USA, since the end of the 1940s, the functionalist theory has been taken over, in an somewhat attenuated way, by sociologists, chiefly Robert King Merton and Talcott Parsons, who adhered to the social anthropologists point of view.

Accordingly, they stressed society and not culture as the subject of their research. US sociologists thus stood opposed to US cultural anthropologists. So that the past rivalry of the functionalists schools of Malinowski and Radcliffe Brown had become a professional quarrel opposing US anthropologists and sociologists, since the former claimed to deal solely with culture, and the latter with society.'

Yet, in the early 1950s, some of Radcliffe Brown's followers began to use the term culture with a very broad meaning: for Raymond W. Firth, it included both the way of life and the content of social relations (1951), and for Meyer Fortes, both social structure and organization (1953). Afterwards, in 1958, American anthropologists and sociologists made an end to their quarrel by means of a peace treaty signed by A. L. Kroeber and Parsons, who mutually acknowledged the validity of one another's field of study: society as well as culture. The everything is culture conception had won.

The Culturalist Trend

The Tylorian omnibus conception of culture (Singer 1968) has been the basis of the set of theories known as culturalism, and it remains the basis of the culturalist way of thought which still reigns over anthropology and a large part of sociology.

In the first half of the twentieth century, US cultural anthropology has been principally influenced by Tylor, Boas, and through him by the German diffusionists, like Fritz Graebner, who had introduced the idea of *Kulturkreis* (culture area). In the 1930s, US cultural anthropologists began to develop the idea that each culture was an individual unity, well organized and functioning as a system. This holistic and systemic conception was clearly formulated by Malinowski in the article on culture that he wrote for the *Encyclopedia of the Social Sciences* (1931). A few years after, Margaret Mead (1935), Ralph Linton (1936) and Abram Kardiner (1939) emphasized the idea of a culture being an integrated totality. The aim of ethnologists and anthropologists became to show the inner coherence of each culture functioning as an organized whole, in which any component element is linked to all the others.

For the ethnology and cultural anthropology of the 1930s 1950s, the organization of culture systems consisted of a complex architecture of patterns of culture, which Ruth Benedict had endeavored to describe and classify. Hence the definition formulated in 1952 by Alfred L. Kroeber and Clyde Kluckhohn: 'Culture consists of patterns, explicit and implicit, of and for behaviour, acquired and transmitted by symbols, constituting the distinctive achievement of human groups Each society is regarded as a distinctive cultural whole, characterized by its peculiar system of values. The beliefs existing in a given society are thought to be a product of culture. Following Linton, several culturalist authors even affirmed that the personality structure of the individuals in a particular group was determined by the group's culture.

The most extreme advocate of this opinion was Kardiner, with his idea that each sociocultural system shaped a basic personality, the T just being a cultural precipitate. Therefore, culturalists deem socialization, the social process through which the main values of a society are transmitted from one generation to the next, to be of the utmost importance, and they believe it to be a very deterministic process. On the whole, those theories led to an extremely mechanic conception, which attributes to culture the production of beliefs, and to inculcation and conditioning the power to put them into people's minds and to determine their behaviours. So the US anthropologist Leslie A. White, the leader of the culturalist school called culturology, went so far as writing (1968) that man is, and remains, a puppet of his culture.'

Culturalism has rightly been reproached for its belief in the ability of social systems to work in such a mechanical way that people so much believe what they have to believe that they feel the need to do what they have to do. It has also been established that the culturalists holistic conception of a system of values common to a whole society was generally untrue, except perhaps in the very simplest ones.

Hence the notion of subculture used by culturalists for their study of complex modern societies. As for the culturalist principle of an inner coherence of culture systems, which comes from a counterhistorical method, it maybe partly exist in the most simple societies, but certainly not in complex ones. Against this assumed idea of a whole inside linkage of each culture', the French sociologists Raymond Boudon and Francois Bourricaud also observed (1982) that the everything is culture conception was based upon an erroneous obviousness, so that it would be more adequate to use the term culture only when speaking of artifacts and mental products.

A few anthropologists have dared to criticize the mechanical conditioning model of culturalism. It is chiefly the English anthropologist Robin Horton (1973) and the American anthropologist Melford E. Spiro (1987) who disputed the creed according to which belief and behaviour did not result from reasons but were just the product of cultural conditioning. Nevertheless, since Boas the culturalist point of view does represent the mainstream in anthropology. And it has also influenced a great deal of sociology, and even philosophy. For instance, Richard Rorty asserts in a perfectly culturalist way that the idea prevailing in

democracies of totalitarianism being evil is just the result of cultural conditioning (1989). The culturalist trend always works for the benefit of relativism, and the mere use of the term culture in an everything is culture sense does just the same.

References

- Arnold, Matthew: *Culture and Anarchy*, Macmillan and Co., New York, 1882.
- Behera, M C : *Marriage in Tribal Societies: Cultural Dynamics and Social Realities*, Bookwell, Delhi, 2007.
- Boris Eraso and Singh, Yogendra : *The Sociology of Culture*, Rawat, Delhi, 2006.
- Chand, Khem : *Social and Cultural Development of Indian Dalits*, ABD Pub, Delhi, 2007.
- Griswold, Wendy: *Cultures and Societies in a Changing World*. Thousand Oaks, CA: Pine Forge Press, 2004.
- Hanson, Royce: *Civic culture and urban change : Governing dallas*. Detroit: Wayne State University Press, 2003.
- Mukherji, D.P. : *Social and Cultural Diversities*, Rawat, Delhi, 1997.
- Pandey, S.P. and Awadhesh Kumar Singh: *Folk Culture in India*, Serials, Delhi, 2005.
- Pathak, Avijit : *Indian Modernity : Contradictions, Paradoxes and Possibilities*, Gyan, Delhi. 1998.
- Rathod, P B : *Fundamentals of Political Sociology*, ABD, Delhi, 2005.

Methods and Techniques of Research in Commerce

Dr. Lakshman Singh

Associate Professor, P.G. Dept. of Commerce, J.P. University, Chapra

Research comprises “creative work undertaken on a systematic basis in order to increase the stock of knowledge, including knowledge of man, culture and society, and the use of this stock of knowledge to devise new applications.” It is used to establish or confirm facts, reaffirm the results of previous work, solve new or existing problems, support theorems, or develop new theories.

A research project may also be an expansion on past work in the field. To test the validity of instruments, procedures, or experiments, research may replicate elements of prior projects, or the project as a whole.

The primary purposes of basic research (as opposed to applied research) are documentation, discovery, interpretation, or the research and development (R&D) of methods and systems for the advancement of human knowledge. Approaches to research depend on epistemologies, which vary considerably both within and between humanities and sciences. There are several forms of research: scientific, humanities, artistic, economic, social, business, marketing, practitioner research, etc.

Forms of Research

Scientific research relies on the application of the scientific method, a harnessing of curiosity. This research provides scientific information and theories for the explanation of the nature and the properties of the world. It makes practical applications possible. Scientific research is funded by public authorities, by charitable organisations and by private groups, including many companies.

Scientific research can be subdivided into different classifications according to their academic and application disciplines. Scientific research is a widely used criterion for judging the standing of an academic institution, such as business schools, but some argue that such is an inaccurate assessment of the institution, because the quality of research does not tell about the quality of teaching (these do not necessarily correlate totally).

Research in the humanities involves different methods such as for example hermeneutics and semiotics, and a different, more relativist epistemology. Humanities scholars usually do not search for the ultimate correct answer to a question, but instead explore the issues and details that surround it. Context is always important, and context can be social, historical, political, cultural or ethnic. An example of research in the humanities is historical research, which is embodied in historical method. Historians use primary sources and other evidence to systematically investigate a topic, and then to write histories in the form of accounts of the past.

Artistic research, also seen as 'practice-based research', can take form when creative works are considered both the research and the object of research itself. It is the debatable body of thought which offers an alternative to purely scientific methods in research in its search for knowledge and truth.

Etymology

The word *research* is derived from the Middle French "*recherche*", which means "to go about seeking", the term itself being derived from the Old French term "*recherchier*" a compound word from "re-" + "cerchier", or "sercher", meaning 'search'. The earliest recorded use of the term was in 1577.

Definitions

Research has been defined in a number of different ways.

A broad definition of research is given by Martyn Shuttleworth - "In the broadest sense of the word, the definition of research includes any gathering of data, information and facts for the advancement of knowledge."

Another definition of research is given by Creswell who states that - "Research is a process of steps used to collect and analyze information to increase our understanding of a topic or issue". It consists of three steps: Pose a question, collect data to answer the question, and present an answer to the question. The Merriam-Webster Online Dictionary defines research in more detail as "a studious inquiry or examination; especially : investigation or experimentation aimed at the discovery and interpretation of facts, revision of accepted theories or laws in the light of new facts, or practical application of such new or revised theories or laws".

Steps in Conducting Research

Research is often conducted using the hourglass model structure of research. The hourglass model starts with a broad spectrum for research, focusing in on the required information through the method of the project (like the neck of the hourglass), then expands the research in the form of discussion and results. The major steps in conducting research are:

- Identification of research problem
- Literature review
- Specifying the purpose of research
- Determine specific research questions or hypotheses
- Data collection
- Analyzing and interpreting the data
- Reporting and evaluating research
- Communicating the research findings and, possibly, recommendations

The steps generally represent the overall process, however they should be viewed as an ever-changing iterative process rather than a fixed set of steps.

Most researches begin with a general statement of the problem, or rather, the purpose for engaging in the study. The literature review identifies flaws or holes in previous research which provides justification for the study. Often, a literature review is conducted in a given subject area before a research question

is identified. A gap in the current literature, as identified by a researcher, then engenders a research question.

The research question may be parallel to the hypothesis. The hypothesis is the supposition to be tested. The researcher(s) collects data to test the hypothesis. The researcher(s) then analyzes and interprets the data via a variety of statistical methods, engaging in what is known as Empirical research. The results of the data analysis in confirming or failing to reject the Null hypothesis are then reported and evaluated. At the end the researcher may discuss avenues for further research.

References

- Alvesson, M. and H. Willmott: *Commerce Studies*, Sage, New Delhi, 1992.
- Basu, Kaushik. *Analytical Development Economics, The Less Developed Economy Revisited*, MIT Press, Cambridge, Mass, 1997.
- Beaver, W. H.: *Financial Reporting: An Accounting Revolution*, Englewood Cliffs, Prentice Hall, 1981.
- Choi, F. D.S. and Mueller, G. G.: *International Accounting*, New York, Prentice-Hall International Inc, 1992.
- Cooper, D. J. and T.M. Hopper: *Critical Accounts*, London, The Macmillan Press Ltd, 1990.
- Dancy, J.: *Introduction to Contemporary Epistemology*, Oxford, Blackwell Publishers Ltd., 1996
- Friedman, M.: *Capitalism and Freedom*, Chicago: University of Chicago Press, 1982.
- Galbraith, J.K.: *A History of Economics: the past as the Present*, London: Penguin Books, 1987.
- Harrigan, K. R.: *Strategies for Declining Businesses*. Lexington, MA: Heath, 1980.
- Loomes, G. : "Experimental Commerce Education," New York, St. Martin's Press, 1989.
- Marris, R. L., and Wood, A.: *The Corporate Economy*, London: Macmillan, 1971.
- Smith, V. L. : *Papers in Experimental Commerce*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- Tinbergen, Jan.: *On the Theory of Economic Policy*; Amsterdam, North-Holland 1952.
- Watts, R.L. and Zimmerman, J.L.: *Positive Accounting Theory*, Englewoods Cliffs, NJ: Prentice Hall, 1986.

Accounting Tools in Business Research

Dr. Harendra Prasad Singh

*Associate Professor, PG Department of Commerce,
Rajendra College, Chapra*

Financial Accounting refers to the recordation of information about money. Thus, we will talk about issuing an invoice to someone, as well as their payment of that invoice, but we will not address any change in the value of a company's overall business, since the latter situation does not involve a specific transaction involving money.

A "transaction" is a business event that has a monetary impact, such as selling goods to a customer or buying supplies from a vendor. In financial accounting, a transaction triggers the recording of information about the money involved in the event. For example, we would record in the accounting records such events (transactions) as:

- Incurring debt from a lender
- The receipt of an expense report from an employee
- Selling goods to a customer
- Paying sales taxes to the government
- Paying wages to employees

We record this information in "accounts." An account is a separate, detailed record about a specific item, such as expenditures for office supplies, or accounts receivable, or accounts payable. There can be many accounts, of which the most common are:

- *Cash*. This is the current balance of cash held by a business, usually in checking or savings accounts.
- *Accounts receivable*. These are sales on credit, which customers must pay for at a later date.
- *Inventory*. This is items held in stock, for eventual sale to customers.
- *Fixed assets*. These are more expensive assets that the business plans to use for multiple years.
- *Accounts payable*. These are liabilities payable to suppliers that have not yet been paid.
- *Accrued expenses*. These are liabilities for which the business has not yet been billed, but for which it will eventually have to pay.
- *Debt*. This is cash loaned to the business by another party.
- *Equity*. This is the ownership interest in the business, which is the founding capital and any subsequent profits that have been retained in the business.
- *Revenue*. This is sales made to customers (both on credit and in cash).

- *Cost of goods sold.* This is the cost of goods or services sold to customers.
- *Administrative expenses.* These are a variety of expenses required to run a business, such as salaries, rent, utilities, and office supplies.
- *Income taxes.* These are the taxes paid to the government on any income earned by the business.

How do we enter information about transactions into these accounts? There are two ways to do so:

- *Software module entries.* If you use accounting software to record financial accounting transactions, there will probably be on-line forms that you can fill out for each of the major transactions, such as creating a customer or invoice or recording a supplier invoice. Every time you fill out one of these forms, the software automatically populates the accounts for you.
- *Journal entries.* You can access a journal entry form in your accounting software, or create a journal entry by hand. There is a great deal to journal entries. In brief, a journal entry must always impact a minimum of two accounts, with a debit entry being recorded against one account and a credit entry against the other. There can be many more than just two accounts, but the total dollar amount of debits must equal the total dollar amount of credits.

The accounts are stored in the general ledger. This is the master set of all accounts, in which are stored all of the business transactions that have been entered into the accounts with journal entries or software module entries. Thus, the general ledger is your go-to document for all of the detailed financial accounting information about a business.

If you want to understand the detail for a particular account, such as the current amount of accounts receivable outstanding, you would access the general ledger for this information. In addition, most accounting software packages provide a number of reports that give you better insights into the business than just reading through the accounts. In particular, there are aged accounts receivable and aged accounts payable reports that are useful for determining the current list of uncollected accounts receivable and unpaid accounts payable, respectively.

The general ledger is also the source document for the financial statements. There are several financial statements, which are:

- *Balance sheet.* This report lists the assets, liabilities, and equity of the business as of the report date.
- *Income statement.* This report lists the revenues, expenses, and profit or loss of the business for a specific period of time.
- *Statement of cash flows.* This report lists the cash inflows and outflows generated by the business for a specific period of time. It may be formatted using the direct or indirect method.

Other less-used elements of the financial statements are the statement of cash flows, the statement of retained earnings, and a large number of accompanying disclosures.

Accounting Research

Accounting research is research on the effects of economic events on the process of accounting, and the effects of reported information on economic events. It encompasses a broad range of research areas including financial accounting, management accounting, auditing and taxation.

Academic accounting research “addresses all aspects of the accounting profession” using the scientific method, while research by practicing accountants focuses on solving problems for a client or group of clients. Academic accounting research can make significant contribution to accounting practice, although changes in accounting education and the accounting academia in recent decades has led to a divide between academia and practice in accounting.

Accounting research is carried out both by academic researchers and by practicing accountants. Academic accounting research addresses all areas of the accounting profession, and examines issues using the scientific method; it uses evidence from a variety of sources including financial information, experiments, and computer simulations.

Research by practicing accountants “focuses on solving immediate problems for a single client or small group of clients” and involve, for example, decision-making on the implementation of new accounting or auditing standards, the presentation of unusual transactions in the financial statements, and the impact of new tax laws on clients.

Accounting research is also carried out by accounting organisations such as standard-setting bodies. For example, the International Accounting Standards Board (IASB) may initiate research projects for certain issues, the results of these may inform its decision whether to move the issues to its active agenda.

History of Accounting Research

Accounting research has undergone significant changes in the past decades. In the 1950s, an accounting academia was established that adopted the requirements of social science academia, such as PhD qualifications and research papers, and the mid-1970s saw a shift from the dominance of normative research to positive research “that uses methods from finance, economics, and other established academic disciplines”.

Academic Research and Accounting Practice

Contribution of Academic Research to Practice: The contribution of academic accounting research to accounting practice includes the assessment of current accounting practices, the development of new practices, and the development of university curricula:

“Academic research has an important role to play, both in assessing the extent to which existing practices are ‘fit for purpose’ and in developing new practices to address changing business, economic and societal needs. Research also informs the teaching curricula in universities, thus affecting the range of issues of which future generations will become aware and consider important.”

For example, academic accounting research “can improve the understanding of how stakeholders actually use the information accountants provide”, and

prior academic studies have contributed to fraud risk assessment, the future direction of the profession, and the impact of changing accounting standards.

Gap between Academia and Practice

Several publications, including the recent accounting literature, have suggested a divide or gap between the academic and professional communities in accounting. Aspects of the divide have been suggested to include criticisms of academics for speaking with their own jargon and aiming to publish research rather than improve practice, and criticisms of practicing accountants for being resistant to changes to the status quo and reluctant to disclose data. The divide between accounting academia and practice was originally centred around whether a broader education or just technical training was the best way to educate accountants. From the 1950s, accounting academia and practice grew further divided due to the accounting academic community adopting requirements from social science academia, while practicing accountants “maintained an emphasis on professional qualifications and technical skills”.

Aside from accounting academia and practice valuing different skills and requirements, a variety of factors have been proposed for the divide. One view is that a lack of training in reading academic research may lead practicing accountants “to dismiss what could be very helpful information as either too complicated or too disconnected to be useful”; while another view points to fundamental failures in academic research in business and economics in general—for example that researchers have failed to effectively question prevailing economic and business models.

References

- Belkaoui, A.R.: *Accounting Theory*, London, Academic Press Ltd, 1992.
- Blanshard, B.: *The Uses of A Commerce Education*, La Salle, Open Court, 1973.
- Bragg, S. M.: *Accounting Best Practices*, John Wiley & Sons, 2001.
- Cooper, D. J. and T.M. Hopper: *Critical Accounts*, London, The Macmillan Press Ltd, 1990.
- Dancy, J.: *Introduction to Contemporary Epistemology*, Oxford, Blackwell Publishers Ltd., 1996
- DeGeorge, R. T.: *Business Ethics*, London, Macmillan Publishing Co., 1990.
- Harrigan, K. R.: *Strategies for Declining Businesses*. Lexington, MA: Heath, 1980.
- Martin, Gerald D.: *Determining Economic Damages*, Santa Ana, CA: James Publishing, 1995.
- Merchant, K. A.: *Rewarding Results*, Boston, Harvard Business School Press, 1989.
- Roslender, R.: *Sociological Perspectives on Modern Accountancy*, London, Routledge, 1992.
- Ross, D. : *Commerce Theory and Cognitive Science*, Cambridge, Mass., MIT Press, 2006.
- Sichel, D.: *The Computer Revolution: An Economic Perspective*, Washington, Brookings Institution, 1997.
- Smith, V. L. : *Papers in Experimental Commerce*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- Tinbergen, Jan.: *On the Theory of Economic Policy*; Amsterdam, North-Holland 1952.

Lead and Manage Outsourcing Initiatives

Dr. Dilip Kumar Sahu

*Assistant Professor, Dept. of Commerce,
J.N. College, Dhurwa*

Outsourcing or sub-servicing often refers to the process of contracting to a third-party.

Overview

A precise definition of outsourcing has yet to be agreed upon. The term is used inconsistently. However, outsourcing is often viewed as involving the contracting out of a business function—commonly one previously performed in-house—to an external provider. In this sense, two organizations may enter into a contractual agreement involving an exchange of services and payments. Of recent concern is the ability of businesses to outsource to suppliers outside the nation, sometimes referred to as offshoring or offshore outsourcing (which are odd terms because doing business with another country does not mean you have to go offshore.) In addition, several related terms have emerged to grasp various aspects of the complex relationship between economic organizations or networks, such as nearshoring, multisourcing and strategic outsourcing.

Reasons

Organizations that outsource are seeking to realize benefits or address the following issues:

- **Cost savings** — The lowering of the overall cost of the service to the business. This will involve reducing the scope, defining quality levels, re-pricing, re-negotiation, and cost re-structuring. Access to lower cost economies through offshoring called “labour arbitrage” generated by the wage gap between industrialized and developing nations.
- **Focus on Core Business** — Resources (for example investment, people, infrastructure) are focused on developing the core business. For example often organizations outsource their IT support to specialised IT services companies.
- **Cost restructuring** — Operating leverage is a measure that compares fixed costs to variable costs. Outsourcing changes the balance of this ratio by offering a move from fixed to variable cost and also by making variable costs more predictable.
- **Improve quality** — Achieve a steep change in quality through contracting out the service with a new service level agreement.
- **Knowledge** — Access to intellectual property and wider experience and knowledge.
- **Contract** — Services will be provided to a legally binding contract with financial penalties and legal redress. This is not the case with internal services.

- Operational expertise — Access to operational best practice that would be too difficult or time consuming to develop in-house.
- Access to talent — Access to a larger talent pool and a sustainable source of skills, in particular in science and engineering.
- Capacity management — An improved method of capacity management of services and technology where the risk in providing the excess capacity is borne by the supplier.
- Catalyst for change — An organization can use an outsourcing agreement as a catalyst for major step change that can not be achieved alone. The outsourcer becomes a Change agent in the process.
- Enhance capacity for innovation — Companies increasingly use external knowledge service providers to supplement limited in-house capacity for product innovation.
- Reduce time to market — The acceleration of the development or production of a product through the additional capability brought by the supplier.
- Commodification — The trend of standardizing business processes, IT Services, and application services which enable to buy at the right price, allows businesses access to services which were only available to large corporations.
- Risk management — An approach to risk management for some types of risks is to partner with an outsourcer who is better able to provide the mitigation.
- Venture Capital — Some countries match government funds venture capital with private venture capital for start-ups that start businesses in their country.
- Tax Benefit — Countries offer tax incentives to move manufacturing operations to counter high corporate taxes within another country.
- Scalability — The outsourced company will usually be prepared to manage a temporary or permanent increase or decrease in production.
- Creating leisure time — Individuals may wish to outsource their work in order to optimise their work-leisure balance.
- Liability — Organizations choose to transfer liabilities inherent to specific business processes or services that are outside of their core competencies.

Management, the Corporation and Consumers

Management Processes

Greater physical distance between higher management and the production floor employees often requires a change in management methodologies, as inspection and feedback may not be as direct and frequent as in internal processes.

This often requires the assimilation of new communication methods such as Voice over ip, Instant messaging, and Issue Tracking Systems, new Time management methods such as Time Tracking Software, and new cost and schedule assessment tools such as Cost Estimation Software.

Quality of Service

Quality in terms of end-user-experience is best measured through customer satisfaction questionnaires, which are professionally designed to capture an unbiased view of quality. Surveys can be one of research.

Language Skills

In the area of call Centres end-user-experience is deemed to be of lower quality when a service is outsourced. This is exacerbated when outsourcing is combined with offshoring to regions where the first language and culture are different. The questionable quality is particularly evident when call Centres that service the public are outsourced and offshored. Call Centre agents may speak a variety of the language with different linguistic features such as accents, word use and phraseology, which may make them more difficult to understand for the clients. The visual clues that are present in face-to-face encounters are missing from the call Centre interactions and this also may lead to misunderstandings and difficulties.

Security

Before outsourcing an organization is responsible for the actions of all their staff and liable for their actions. When these same people are transferred to an outsourcer they may not change desk but their legal status has changed. They are no longer directly employed or responsible to the organization. This causes legal, security and compliance issues that need to be addressed through the contract between the client and the suppliers. This is one of the most complex areas of outsourcing and requires a specialist third party adviser.

Fraud is a specific security issue that is criminal activity whether it is by employees or the supplier staff. However, it can be disputed that the fraud is more likely when outsourcers are involved, for example credit card theft when there is scope for fraud by credit card cloning. In April 2005, a high-profile case involving the theft of \$350,000 from four Citibank customers occurred when call Centre workers acquired the passwords to customer accounts and transferred the money to their own accounts opened under fictitious names. Citibank did not find out about the problem until the American customers noticed discrepancies with their accounts and notified the bank.

Qualifications of Outsourcers

The outsourcer may replace staff with less qualified people or with people with different non-equivalent qualifications. In the engineering discipline there has been a debate about the number of engineers being produced by the major economies of the United States, India and China. The argument centres around the definition of an engineering graduate and also disputed numbers. The closest comparable numbers of annual graduates of four-year degrees are United States (137,437) India (112,000) and China (351,537).

Public Opinion

In the United States there is a strong public opinion against outsourcing (especially when combined with offshoring) because it leads to job displacement.

However, outsourcing supporters draw on mainstream economics to argue that outsourcing should bring down prices, providing greater economic benefit to all.

Standpoint of Labour

From the standpoint of labour, outsourcing may represent a new threat, contributing to worker insecurity, and reflective of the general process of globalization. On June 26, 2009, Jeff Immelt, the CEO of General Electric, called for the United States to increase its manufacturing base employment to 20% of the workforce commenting that the U.S. has outsourced too much and can no longer rely on consumer spending to drive demand.

Standpoint of Government

Western governments may attempt to compensate workers affected by outsourcing through various forms of legislation. In Europe, the Acquired Rights Directive attempts to address the issue. The Directive is implemented differently in different nations. In the United States, the Trade Adjustment Assistance Act is meant to provide compensation for workers directly affected by international trade agreements. Whether or not these policies provide the security and fair compensation they promise is debatable.

References

- Amarnath, J S and A P V Samvel: *Agri-Business Management*, Satish Serial Pub, Delhi, 2008.
- Bardsley, N., Cubitt: *Assessing Experimental Economics*, Princeton, Princeton University Press, 2009.
- Choi, F. D.S. and Mueller, G. G.: *International Accounting*, New York, Prentice-Hall International Inc, 1992.
- Dimson, Elroy: *Stock Market Anomalies*, Cambridge University Press, 1988.
- Fruhan, W. E.: *Financial Strategy, Studies in the Creation, Transfer and Destruction of Shareholder Value*. Homewood, 1979.
- Goleman D.: *Emotional Intelligence in Small Business*, New York: Bantam, 1995.
- Hunt, E. K. *History of Economic Thought, A Critical Perspective*, New York, HarperCollins, 1992.
- Jack Murrin, *Valuation: Measuring and Managing the Value of Companies*, New York, Wiley, 1994.
- Plous, S.: *The Psychology of Judgement and Decision Making*, New York, McGraw-Hill, 1993
- Towse, Ruth: *A Handbook of Cultural Economics*, Edward Elgar, 2003.
- Venkateshwara Rao, P. : *Dairy Farm Business Management*, Biotech Books, Delhi, 2008.
- Warwick, D. P.: *A Theory of Public Bureaucracy*, Cambridge, MA: Harvard University Press, 1975.

Evaluation Research Practices in Management

Mustafizal Haque

Research Scholar, B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur

One specific form of social research — evaluation research — is of particular interest here. The Introduction to Evaluation Research presents an overview of what evaluation is and how it differs from social research generally. We also introduce several evaluation models to give you some perspective on the evaluation endeavour. Evaluation should not be considered in a vacuum. Here, we consider evaluation as embedded within a larger Planning-Evaluation Cycle. Evaluation can be a threatening activity. Many groups and organizations struggle with how to build a good evaluation capability into their everyday activities and procedures. This is essentially an organizational culture issue. Here we consider some of the issues a group or organization needs to address in order to develop an evaluation culture that works in their context.

Introduction to Evaluation

Evaluation is a methodological area that is closely related to, but distinguishable from more traditional social research. Evaluation utilizes many of the same methodologies used in traditional social research, but because evaluation takes place within a political and organizational context, it requires group skills, management ability, political dexterity, sensitivity to multiple stakeholders and other skills that social research in general does not rely on as much. Here we introduce the idea of evaluation and some of the major terms and issues in the field.

Definitions of Evaluation

Probably the most frequently given definition is:

Evaluation is the systematic assessment of the worth or merit of some object

This definition is hardly perfect. There are many types of evaluations that do not *necessarily* result in an assessment of worth or merit — descriptive studies, implementation analyses, and formative evaluations, to name a few. Better perhaps is a definition that emphasizes the information-processing and feedback functions of evaluation. For instance, one might say:

Evaluation is the systematic acquisition and assessment of information to provide useful feedback about some object

Both definitions agree that evaluation is a *systematic* endeavour and both use the deliberately ambiguous term 'object' which could refer to a program, policy, technology, person, need, activity, and so on. The latter definition emphasizes *acquiring and assessing information* rather than *assessing worth or merit* because all evaluation work involves collecting and sifting through data, making

judgements about the validity of the information and of inferences we derive from it, whether or not an assessment of worth or merit results.

The Goals of Evaluation

The generic goal of most evaluations is to provide “useful feedback” to a variety of audiences including sponsors, donors, client-groups, administrators, staff, and other relevant constituencies. Most often, feedback is perceived as “useful” if it aids in decision-making. But the relationship between an evaluation and its impact is not a simple one — studies that seem critical sometimes fail to influence short-term decisions, and studies that initially seem to have no influence can have a delayed impact when more congenial conditions arise. Despite this, there is broad consensus that the major goal of evaluation should be to influence decision-making or policy formulation through the provision of empirically-driven feedback.

Evaluation Strategies

‘Evaluation strategies’ means broad, overarching perspectives on evaluation. They encompass the most general groups or “camps” of evaluators; although, at its best, evaluation work borrows eclectically from the perspectives of all these camps.

Scientific-experimental models are probably the most historically dominant evaluation strategies. Taking their values and methods from the sciences — especially the social sciences — they prioritize on the desirability of impartiality, accuracy, objectivity and the validity of the information generated. Included under scientific-experimental models would be: the tradition of experimental and quasi-experimental designs; objectives-based research that comes from education; econometrically-oriented perspectives including cost-effectiveness and cost-benefit analysis; and the recent articulation of theory-driven evaluation.

The second class of strategies are *management-oriented systems models*. Two of the most common of these are PERT, the Program Evaluation and Review Technique, and CPM, the Critical Path Method. Both have been widely used in business and government in this country. It would also be legitimate to include the Logical Framework or “Logframe” model developed at U.S. Agency for International Development and general systems theory and operations research approaches in this category.

Two management-oriented systems models were originated by evaluators: the UTOS model where U stands for Units, T for Treatments, O for Observing Observations and S for Settings; and the CIPP model where the C stands for Context, the I for Input, the first P for Process and the second P for Product. These management-oriented systems models emphasize comprehensiveness in evaluation, placing evaluation within a larger framework of organizational activities.

The third class of strategies are the *qualitative/anthropological models*. They emphasize the importance of observation, the need to retain the phenomenological quality of the evaluation context, and the value of subjective human interpretation in the evaluation process. Included in this category are the approaches known in evaluation as naturalistic or ‘Fourth Generation’

evaluation; the various qualitative schools; critical theory and art criticism approaches; and, the 'grounded theory' approach of Glaser and Strauss among others.

Finally, a fourth class of strategies is termed *participant-oriented models*. As the term suggests, they emphasize the central importance of the evaluation participants, especially clients and users of the program or technology. Client-centred and stakeholder approaches are examples of participant-oriented models, as are consumer-oriented evaluation systems.

With all of these strategies to choose from, how to decide? Debates that rage within the evaluation profession — and they do rage — are generally battles between these different strategists, with each claiming the superiority of their position. In reality, most good evaluators are familiar with all four categories and borrow from each as the need arises.

There is no inherent incompatibility between these broad strategies — each of them brings something valuable to the evaluation table. In fact, in recent years attention has increasingly turned to how one might integrate results from evaluations that use different strategies, carried out from different perspectives, and using different methods. Clearly, there are no simple answers here. The problems are complex and the methodologies needed will and should be varied.

Types of Evaluation

There are many different types of evaluations depending on the object being evaluated and the purpose of the evaluation. Perhaps the most important basic distinction in evaluation types is that between *formative* and *summative* evaluation. Formative evaluations strengthen or improve the object being evaluated — they help form it by examining the delivery of the program or technology, the quality of its implementation, and the assessment of the organizational context, personnel, procedures, inputs, and so on.

Summative evaluations, in contrast, examine the effects or outcomes of some object — they summarize it by describing what happens subsequent to delivery of the program or technology; assessing whether the object can be said to have caused the outcome; determining the overall impact of the causal factor beyond only the immediate target outcomes; and, estimating the relative costs associated with the object.

Formative evaluation includes several evaluation types:

- *needs assessment* determines who needs the program, how great the need is, and what might work to meet the need
- *evaluability assessment* determines whether an evaluation is feasible and how stakeholders can help shape its usefulness
- *structured conceptualization* helps stakeholders define the program or technology, the target population, and the possible outcomes
- *implementation evaluation* monitors the fidelity of the program or technology delivery
- *process evaluation* investigates the process of delivering the program or technology, including alternative delivery procedures

Summative evaluation can also be subdivided:

- *outcome evaluations* investigate whether the program or technology caused demonstrable effects on specifically defined target outcomes
- *impact evaluation* is broader and assesses the overall or net effects — intended or unintended — of the program or technology as a whole
- *cost-effectiveness and cost-benefit analysis* address questions of efficiency by standardizing outcomes in terms of their dollar costs and values
- *secondary analysis* reexamines existing data to address new questions or use methods not previously employed
- *meta-analysis* integrates the outcome estimates from multiple studies to arrive at an overall or summary judgement on an evaluation question

Evaluation Questions and Methods

Evaluators ask many different kinds of questions and use a variety of methods to address them. These are considered within the framework of formative and summative evaluation as presented above.

In formative research the major questions and methodologies are:

What is the definition and scope of the problem or issue, or what's the question?: Formulating and conceptualizing methods might be used including brainstorming, focus groups, nominal group techniques, Delphi methods, brainwriting, stakeholder analysis, synectics, lateral thinking, input-output analysis, and concept mapping.

Where is the problem and how big or serious is it?: The most common method used here is “needs assessment” which can include: analysis of existing data sources, and the use of sample surveys, interviews of constituent populations, qualitative research, expert testimony, and focus groups.

How should the program or technology be delivered to address the problem?: Some of the methods already listed apply here, as do detailing methodologies like simulation techniques, or multivariate methods like multiattribute utility theory or exploratory causal modelling; decision-making methods; and project planning and implementation methods like flow charting, PERT/CPM, and project scheduling.

How well is the program or technology delivered?: Qualitative and quantitative monitoring techniques, the use of management information systems, and implementation assessment would be appropriate methodologies here.

The questions and methods addressed under summative evaluation include:

What type of evaluation is feasible?: Evaluability assessment can be used here, as well as standard approaches for selecting an appropriate evaluation design.

What was the effectiveness of the program or technology?: One would choose from observational and correlational methods for demonstrating whether desired effects occurred, and quasi-experimental and experimental designs for determining whether observed effects can reasonably be attributed to the intervention and not to other sources.

What is the net impact of the program?: Econometric methods for assessing cost effectiveness and cost/benefits would apply here, along with qualitative

methods that enable us to summarize the full range of intended and unintended impacts.

Clearly, this introduction is not meant to be exhaustive. Each of these methods, and the many not mentioned, are supported by an extensive methodological research literature. This is a formidable set of tools. But the need to improve, update and adapt these methods to changing circumstances means that methodological research and development needs to have a major place in evaluation work.

References

- Andraeson, A.R. and Kotler, P. : *Strategic Marketing for Non-Profit Organisations*, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, NJ, 2003.
- Bateson, N.: *Data Construction in Social Surveys*. London: Allen & Unwin, 1984.
- Bentley, T. : *Learning beyond the Classroom: Education for a Changing World*, London, Routledge. 1998.
- Choudhary, Prem Shanker : *Encyclopaedia of Research Methodology in Social Sciences and Humanities*, Anmol, Delhi, 2009.
- Das, D.K. Lal : *Practice of Social Research : Social Work Perspective*, Rawat, 2000.
- Grunert, K.C. : *Research in Consumer Behaviour: Beyond Attitudes and Decision Making*, European Research, 1988.
- Harrigan, K. R.: *Strategies for Declining Businesses*. Lexington, MA: Heath, 1980.
- Pelto, P.J. and Pelto, G.H.: *Anthropological Research: The Structure of Inquiry*, New York: Cambridge University Press, 1978.
- Roberts, L.C. : *From Knowledge to Narrative, Educators and the Changing Museum*, Washington, Smithsonian Institution Press, 1997.
- Routledge, Paul : *Terrains of Resistance: Nonviolent Social Movements and the Contestation of Place in India*, Westport, Connecticut, 1993.
- Sangwan, Satpal : *Science, Technology, and Colonisation: An Indian Experience, 1757-1857*. New Delhi, Anmika Prakashan, 1991.

Promotion: Integrated Marketing Communication

Rajani Verma

Research Scholar, Department of Management, V.K.S.U., Ara

Integrated Marketing Communication (IMC) involves the idea that a firm's promotional efforts should be coordinated to achieve the best combined effects of the firm's efforts. Resources are allocated to achieve those outcomes that the firm values the most.

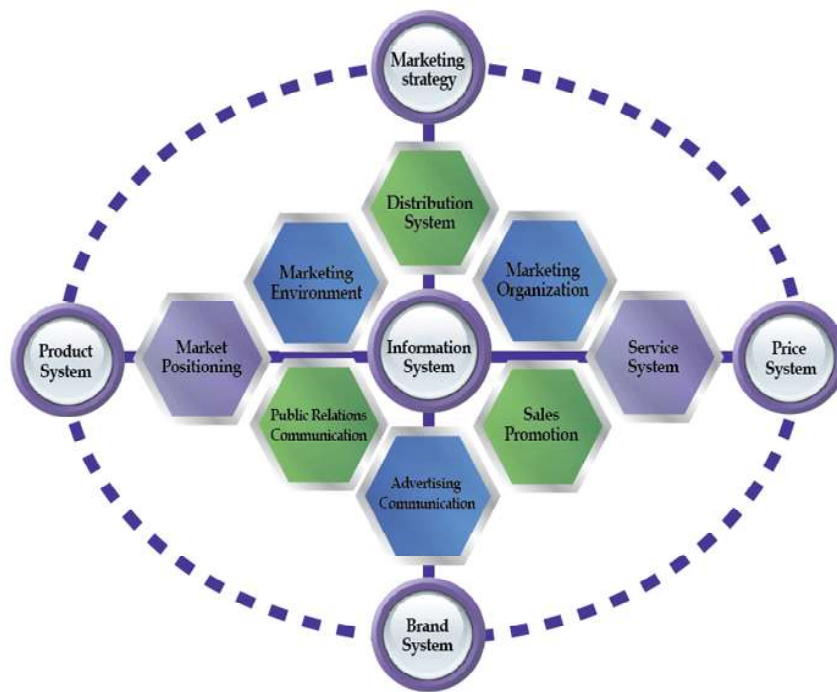
Promotion involves a number of tools we can use to increase demand for our The most well known component of promotion is advertising, but we can also use tools such as the following:

Public relations (the firm's staff provides information to the media in the hopes of getting coverage). This strategy has benefits (it is often less expensive and media coverage is usually more credible than advertising) but it also entails a risk in that we can't control what the media will say. Note that this is particularly a useful tool for small and growing businesses—especially those that make a product which is inherently interesting to the audience.

- Trade promotion. Here, the firm offers retailers and wholesalers temporary discounts, which may or may not be passed on to the consumer, to stimulate sales.
- Sales promotion. Consumers are given either price discounts, coupons, or rebates.
- Personal selling. Sales people either make “cold” calls on potential customers and/or respond to inquiries.
- In-store displays. Firms often pay a great deal of money to have their goods displayed prominently in the store. More desirable display spaces include: end of an aisle, free-standing displays, and near the check-out counter. Occasionally, a representative may display the product.
- Samples.
- Premiums.

Promotional Objectives and Effectiveness

Generally, a sequence of events is needed before a consumer will buy a product. This is known as a “hierarchy of effects.” The consumer must first be aware that the product exists. He or she must then be motivated to give some attention to the product and what it may provide. In the next stage, the need is for the consumer to evaluate the merits of the product, hopefully giving the product a try. A good experience may lead to continued use. Note that the consumer must go through the earlier phases before the later ones can be accomplished.



Promotional objectives that are appropriate differ across the Product Life Cycle (PLC). Early in the PLC—during the introduction stage—the most important objective is creating *awareness* among consumers. For example, many consumers currently do not know the Garmin is making auto navigation devices based on the global position satellite (GPS) system and what this system can do for them. A second step is to induce *trial*—to get consumers to buy the product for the first time. During the growth stage, important needs are persuading the consumer to buy the product and prefer the brand over competing ones.

Here, it is also important to persuade retailers to carry the brand, and thus, a large proportion of promotional resources may need to be devoted to retailer incentives. During the maturity stage, the firm may need to focus on maintaining shelf space, distribution channels, and sales.

Different promotional approaches will be appropriate depending on the stage of the consumer's decision process that the marketer wishes to influence. Prior to the purchase, the marketer will want to establish a decision to purchase the product and the specific brand. Here, samples might be used to induce trial.

During the purchase stage, when the consumer is in the retail store, efforts may be made to ensure that the consumer will choose one's specific brands. Paying retailers for preferred shelf space as well as point of purchase (POP) displays and coupons may be appropriate. After the purchase, an appropriate objective may be to induce a repurchase or to influence the consumer to choose the same brand again. Thus, the package may contain a coupon for future purchase.

There are two main approaches to promoting products. The “push” strategy is closely related to the “selling concept” and involves “hard” sell and aggressive price promotions to sell at this specific purchase occasion. In contrast, the “pull” strategy emphasizes *creating demand for the brand* so that consumers will come to the store with the intention of buying the product. Hallmark, for example, has invested a great deal in creating a preference for its greeting cards among consumers.

There are several types of advertising. In terms of product advertising, the “pioneering” ad seeks to create awareness of a product and brand and to instill an appreciation among consumers for its possibilities. The competitive or persuasive ad attempts to convince the consumer either of the performance of the product and/or how it is superior in some way to that of others. Comparative advertisements are a prime example of this. For instance, note the ads that show that some trash bags are more durable than others. Reminder advertising seeks to keep the consumer believing what other ads have already established. For example, Coca Cola ads tend not to provide new information but keep reinforcing what a great drink it is.

Developing an Advertising Program

Developing an advertising program entails several steps:

- Identifying the target audience. Market reports can be bought that investigate the media habits of consumers of different products and/or the segments that the firm has chosen to target.
- Determining appropriate advertising objectives. As discussed, these objectives might include awareness, trial, repurchase, inducing consumers to switch from another brand, or developing a preference for the brand.
- Settling on an advertising budget.
- Designing the advertisements. Numerous media are available for the advertiser to choose from. A list of some of the more common ones may be found on Power Point slide #11. Each medium tends to have advantages and disadvantages.

It is essential to pretest advertisements to see how effective they actually are in influencing consumers. An ad may have to be redesigned if it is found not to be as effective as targeted. Note that selecting advertisements is often a “numbers game” where a lot of advertisements are created and the ones that “test” best are selected.

Advertising Strategies

Depending of the promotional objectives sought by a particular firm, different advertising strategies and approaches may be taken. The following are some content strategies commonly used.

- Information dissemination/persuasion. Comparative ads attempt to get consumers to believe that the sponsoring product is better. Although these are frequently disliked by Americans, they tend to be among the most effective ads in the U.S. Comparative advertising is illegal in some countries and is considered very inappropriate culturally in some societies, especially in Asia.

- Fear appeals try to motivate consumers by telling them the consequences of not using a product. Mouthwash ads, for example, talk about the how gingivitis and tooth loss can result from poor oral hygiene. It is important, however, that a specific way to avoid the feared stimulus be suggested directly in the ad. Thus, simply by using the mouthwash advertised, these terrible things can be avoided.
- Attitude change through the addition of a belief. This topic was covered under consumer behavior. As a reminder, it is usually easier to get the consumer to accept a new belief which is not inconsistent with what he or she already believes than it is to change currently held beliefs.
- Classical conditioning. A more favourable brand image can often be created among the consumer when an association to a liked object or idea is created. For example, an automobile can be paired with a beautiful woman or a product can be shown in a very upscale setting.
- Humor appeal. The use of humor in advertisements is quite common. This method tends not to be particularly useful in persuading the consumer. However, more and more advertisers find themselves using humor in order to compete for the consumer's attention. Often, the humor actually draws attention *away* from the product—people will remember what was funny in the ad but not the product that was advertised. *Thus, for ads to be effective, the product advertised should be an integral part of what is funny.*
- Repetition. Whatever specific objective is sought, repetition is critical. This is especially the case when the objective is to communicate specific information to the customer. Advertising messages—even simple ones—are often understood by consumers who have little motive to give much attention to advertisements to which they are exposed. Therefore, very little processing of messages is likely to be done at any one time of exposure. Cumulatively, however, a greater effect may result.
- Celebrity endorsements. Celebrities are likely to increase the amount of attention given to an advertisement. However, these celebrities may not be consistently persuasive. The Elaboration Likelihood Model discussed below identifies conditions when celebrity endorsements are more likely to be effective.

Advertising and Attitude Change

A significant objective of advertising is attitude change. A consumer's attitude toward a product refers to his or her beliefs about, feeling toward, and purchase intentions for the product. Beliefs can be both positive (e.g., for McDonald's food: tastes good, is convenient) and negative (is high in fat). In general, it is usually very difficult to change deeply held beliefs. Thus, in most cases, the advertiser may better off trying to add a belief (e.g., beef is convenient) rather than trying to change one (beef is really not very fatty). Consumer receptivity to messages aimed at altering their beliefs will tend to vary a great deal depending on the nature of the product.

For unimportant products such as soft drinks, research suggests that consumers are often persuaded by having a large number of arguments with

little merit presented (e.g., the soda comes in a neat bottle, the bottle contains five percent more soda than competing ones). In contrast, for high involvement, more important products, consumers tend to scrutinize arguments more closely, and will tend to be persuaded more by high quality arguments. Celebrity endorsements are believed to follow a similar pattern of effectiveness. The Elaboration Likelihood Model (ELM) suggests that for trivial products, a popular endorser is likely to be at least somewhat effective regardless of his or her qualifications to endorse (e.g., Bill Cosby endorses Coca Cola and Jell-O without having particular credentials to do so). On the other hand, for more important products, consumers will often scrutinize the endorser's credentials.

For example, a basket ball player may be perceived as knowledgeable about athletic shoes, but not particularly so about life insurance. In practice, many celebrities do not appear to have a strong connection to the products they endorse. Tiger Woods might be quite knowledgeable about golf carts, it is not clear why he has any particular qualifications to endorse Cadillac automobiles.

References

- Agresti, A. and B. Finlay: *Statistical Methods for the Social Sciences*, Dellen Publishing, Manas Dasgupta.
- Bottery, M. : *The Ethics of Educational Management: Personal, Social and Political Perspectives on School Organization*, London, Cassell, 1992.
- Bryman, A.: *Quantity and Quality in Social Reserch*. London: Routledge, 1992.
- Desai, P. : *Methods Beyond Interviewing in Qualitative Market Research*, Sage, London, 2002.
- Frances Laverne: *Internationalizing Library and Information Science Education*, Connecticut, Greenwood Press, 1987.
- Jagmohan Diwan: *Fundamentals of Rural Sociology*, Cyber Tech Pub, Delhi, 2009.
- Kanak Kanti Bagchi: *Research Methodology in Social Sciences: A Practical Guide*, Abhijeet Pub, 2007.
- Kilner, W.J. : *The Human Atmosphere or Aura Made Visible by Chemical Means*, London, University Books, 1911.
- Mohamed Haneefa K: *Research on Library Computerisation*, Ess Ess Pub, 2006.
- Narender K. Chadha: *Research Methods for Sports Scientists*, Friends, 2001.
- Nuna, S.C. : *Education and Development*, NIEPA, New Delhi, 1987.
- Pati Debashis : *Marketing Research*, Universities Press, Delhi, 2002.
- Pelto, P.J. and Pelto, G.H.: *Anthropological Research: The Structure of Inquiry*, New York: Cambridge University Press, 1978.
- Roberts, L.C. : *From Knowledge to Narrative, Educators and the Changing Museum*, Washington, Smithsonian Institution Press, 1997.